CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त

संपादक
गोविन्दचन्द्र पाण्डे
आचार्य एवं अध्यक्ष
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

4619

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त

संपादक
गोविन्दचन्द्र पाण्डे
आचार्य एवं अध्यक्ष
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : 5/50

DELHI-110006
4619.
State Museum Library Lucknow

सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर – ४

मुद्रक :
अ. प्रि. प्रेस,
जौहरी बाज़ार,
जयपुर – ३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : इतिहास-लेखन का विकास		पृ. सं.
१. ऐतिहासिक चिन्तन के उद्गम : यूनानी, ईसाई, आधुनिक	फ्रैंक वैन आल्स्ट अनु. गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र	१
२. क्रान्ति का प्रत्युत्तर : योरोपीय मानस का इतिहासीकरण	फ्रैंक वैन आल्स्ट अनु. मस्तराम सिंह.	१०
३. इतिहास अथवा समाजिक विज्ञान	फ्रैंक वैन आल्स्ट अनु. प्रतिभा जैन	१९
४. बीसवीं शताब्दी	फ्रैंक वैन आल्स्ट अनु. विनयकुमार	२७
५. समकालीन झांकी : विश्लेषणात्मक दर्शन और इतिहास	फ्रैंक वैन आल्स्ट अनु. रमेश चन्द्र	३६
६. प्राचीन भारतीय इतिहास-दर्शन तथा इतिहास-लेखन	गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र	४६
७. 'भारतीय इतिहास लेखन का एक परिचय' (समीक्षा)	गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र	६८
८. चीनी इतिहास-लेखन	गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र	९९
९. इस्लामी इतिहास-दर्शन तथा अरब इतिहास-लेखन	गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र	११२
द्वितीय खण्ड : इतिहास का स्वरूप आलोचना-पद्धति एवं समस्याएं		
१०. 'इतिहास का स्वरूप-विवेचन' (समीक्षा)	गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र	१२४
११. ऐतिहासिक ज्ञान का स्वरूप, विषयवस्तु और पद्धति	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	१८३
१२. इतिहास-प्रक्रिया और अधिष्ठान	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	२०१
१३. व्याख्या के दृष्टिकोण : आदर्शवादी	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	२०९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४. व्याख्या के दृष्टिकोण : भौतिकवादी	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	२१६
१५. व्याख्या के दृष्टिकोण : युगचक्रवादी	गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र	२२६
१६. स्पेंग्लर : इतिहास-स्वरूप	गुरुदेव सिंह	२४०
१७. टायन्बी : इतिहास-स्वरूप	गुरुदेव सिंह	२४७
१८. इतिहास-दर्शन का स्वरूप	यशदेव शल्य	२५५
१९. इतिहास और दर्शन	दयाकृष्ण	२६२
२०. ऐतिहासिक ज्ञान की दार्शनिक समस्याएं	दयाकृष्ण	
लेखक परिचय		
अध्येतव्य ग्रन्थों का संक्षिप्त निर्देश		
अनुक्रमणिका		
संशोधन एवं टिप्पण		

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

कई वर्ष पूर्व डॉ० फ्रैंक वैन आल्स्ट ने, जो उस समय हमारे यहाँ इतिहास में प्रवक्ता थे, इतिहास–दर्शन पर हिन्दी में एक पुस्तक की योजना का सूत्रपात किया था। उनका विचार था कि भूमिका के साथ कुछ प्रामाणिक पुस्तकों से उद्धरणों का अनुवाद छात्रों के पढ़ने के लिए प्रस्तुत किया जाय। एतदर्थ उन्होंने एक दीर्घ भूमिका अंग्रेजी में लिखी थी और डॉ० गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग ने उन उद्धरणों का हिन्दी में अनुवाद किया था। किन्तु कुछ कठिनाइयों से वह योजना कार्यान्वित न हो सकी। इस बीच डॉ० वैन आल्स्ट भी अमेरिका चले गये।

इस स्थिति में मैंने इतिहास–दर्शन की प्रस्तावित पुस्तक की योजना वर्तमान रूप में बनाई। इसमें पाँच अध्यायों में डॉ० वैन आल्स्ट के पूर्वलिखित अंग्रेजी लेख के उनकी सम्मति से हिन्दी अनुवाद दिये गए हैं। जिन अनुवादकों ने यह कार्य भार सँभाला उनके नाम हैं : डॉ० गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, डॉ मस्त राम सिंह, श्रीमती प्रतिभा जैन, डॉ० विनय कुमार,और डॉ०रमेश चन्द्र। इन अध्यायों में उन्होंने योरोप में इतिहास-लेखन के विकास का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है। इसके पूरक के रूप में डॉ० मिश्र ने भारतीय, चीनी और अरब इतिहास-लेखन पर चार स्वतन्त्र अध्याय लिखे हैं। इन नौ अध्यायों में पुस्तक का पहला खण्ड, जो कि इतिहास-लेखन के विकास का निरूपण करता है, पूरा हो जाता है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में इतिहास, इतिहास-लेखन और ऐतिहासिक ज्ञान को समस्याओं पर विचार किया गया है। इस खण्ड के लेखक हैं : डॉ० मिश्र, मैं, श्री गुरुदेव सिंह, श्री यशदेव शल्य और डॉ० दयाकृष्ण। श्री शल्य जी और डॉ० दयाकृष्ण ने अपने अन्यत्र प्रकाशित लेखों के प्रस्तुत पुस्तक में संग्रह की अनुमति देकर हमें आभारी किया है। यह उल्लेख्य है कि अध्याय ७ और १० विवरणात्मक और आलोचनात्मक पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में हैं। इस प्रकार अपने वर्तमान रूप में यह पुस्तक अपनी मूल योजना से न केवल भिन्न हो जाती है बल्कि पर्याप्त आगे बढ़ जाती है।

दो वर्ष पूर्व जब राजस्थान विश्वविद्यालय ने इतिहास के एक पाठ्यक्रम में इतिहास-दर्शन को अनिवार्य विषय निर्धारित किया तो इस बात की बहुत आवश्यकता महसूस हुई कि हिन्दी में एक ऐसी पुस्तक हो जो छात्रों को इतिहास-दर्शन के विकास और आधारभूत प्रत्ययों और व्याख्याओं से परिचित कराए। वर्तमान पुस्तक का मुख्य प्रयोजन इतिहास-दर्शन के जिज्ञासुओं को विषय में प्रवेश देना है। किन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही इसका एकमात्र प्रयोजन नहीं है। इसमें कई लेखकों ने अपने स्वतंत्र मत और व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। फलतः विषय में निष्णात विद्वानों के लिए भी पुस्तक रोचक होगी, ऐसी आशा है। इसकी एक और विशेषता यह है कि यह केवल पाश्चात्य संदर्भ में लिखी हुई नहीं है। इसमें यह भी प्रयास किया गया है कि न तो इतिहास-दर्शन के ऐतिहासिक पक्ष की उपेक्षा हो और न उसके दार्शनिक पक्ष की। इसलिए हमें यह आशा है कि पुस्तक न केवल इतिहास के अध्येताओं के लिए बल्कि दर्शन के अध्येताओं के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। छात्रों के निरन्तर आग्रह, डॉ० मिश्र के अथक प्रयास और शल्य जी की निरन्तर सहायता ने इस पुस्तक का प्रणयन और संपादन संभव किया है। पुस्तक-संपादन के अन्तिम दिनों में त्वरा और मेरी व्यस्तता के कारण यदि त्रुटियाँ रह गई हों तो कोई अचंभा नहीं है। आशा है सुधी पाठक उनके लिए क्षमा करेंगे और हमें उनसे सूचित भी करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उन्हें दूर कर दिया जाय।

—गोविन्द चन्द्र पाण्डे

इतिहास विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१

ऐतिहासिक चिन्तन के उद्गम : यूनानी, ईसाई, आधुनिक

पारिभाषिक अर्थ में इतिहास का अध्ययन-विषय अत्याधुनिक तथा पूर्णतः पाश्चात्य प्रपंच है। इतिहास के सम्बन्ध में अन्य विचार भी रहे हैं तथा इतिहास के विषय में विभिन्न सभ्यताओं की अपनी विशिष्ट परम्परागत अवधारणा रही है—किन्तु आज इनमें से कोई भी अस्तित्व में नहीं है और न अब इनका व्यवहार होता है। हिन्दुओं की एक अपनी परम्परागत विशिष्ट ऐतिहासिक अवधारणा थी और एक पृथक् लेख में इसका विवेचन हुआ है। किन्तु आधुनिक भारतीय इतिहासकार द्वारा—आधुनिक चीनी तथा अरब इतिहासकारों के समान—अपने ऐतिहासिक परम्पराओं के नियमों के आधार पर इतिहास-अध्ययन के प्रयास का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। यह सर्वथा विरोधशून्य पाश्चात्य बौद्धिक साम्राज्यवाद का एक दृष्टान्त है, और यह दुर्भाग्यपूर्ण है। किन्तु इस प्रदत्त स्थिति को स्वीकार करते हुए हमें पाश्चात्य ऐतिहासिक परम्परा को और सुचारु रूप से समझने के उद्देश्य से उसके उद्गमों से अवगत होने का प्रयास करना चाहिए। इस अध्याय में हम उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के उन विभिन्न तत्त्वों को खोजेंगे जिनके सम्मिलन से हमें वह बौद्धिक ज्ञान-शाखा प्राप्त हुई जिसे इतिहास की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसके लिए हमें इतिहास सम्बन्धी परम्परागत यूनानी तथा यहूदी-ईसाई विचारों से प्रारम्भ करके पुनर्जागरण तथा सुधार-युग की विकास-प्रक्रियाओं, सत्रहवीं शताब्दी के पाण्डित्य-युग तथा अठारहवीं शताब्दी की ज्ञानोद्दीप्ति की चर्चा करनी होगी।

इतिहास नामक शिक्षा-शाखा की उत्पत्ति ६–५वीं शताब्दी ई० पू० के क्लासिक-यूनान में मिलती है जहांकि इसका संप्रकाशन उस सृजनात्मक बौद्धिक कार्य-व्यापार के महान् उद्वेग की एक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ जिसमें कि पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र तथा कला की नींव रखी गई। परीक्षा-सिद्ध गवेषणा के अर्थ में स्वयं इतिहास शब्द का प्रयोग इस समय हुआ ('हिस्तोर' वह विशेषज्ञ होता था जिससे झगड़ों के निवटारे के लिए अभ्यर्थना की जाती थी)। थ्यूसीडायडीज लिखित 'पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास' इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति थी—यद्यपि यह प्रथम ऐतिहासिक कृति नहीं थी। यह युद्ध लेखक के अपने राज्य एथेन्स, जिसका व्यापारिक साम्राज्य दूर-दूर तक फैला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ था, तथा स्पार्टा के नेतृत्व में अन्य प्रतिद्वन्द्वी यूनानी नगर-राज्यों के बीच में हुआ एक निर्णयात्मक संघर्ष था। इसके निर्णयात्मक स्वरूप का भान करते हुए, थ्यूसीडायडीज ने घटनाओं का वर्णन ४३१ ई० पू० में युद्धारम्भ के ठीक बाद से प्रारम्भ किया। यह रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है कि कितनी भारी संख्या में ऐतिहासिक कृतियां इस प्रकार की प्रमुख संकटस्थिति कालीन घटनाओं (यथा, रोम का पतन, फ्रांस की क्रान्ति, प्रथम विश्वयुद्ध इत्यादि) की व्याख्या का प्रयास करती है। अपनी भूमिका में थ्यूसीडायडीज ने अपने रीतिविज्ञान को व्याख्यायित किया है : यह रीति-विज्ञान मूल साक्ष्यों के समीक्षात्मक प्रयोग पर बल देता है। उसने यह दावा किया कि उसकी कृति पूर्ववर्ती ऐतिहासिक रचनाओं से, जिनमें कि समीक्षात्मक दृष्टि का प्रयोग किए बिना किंवदन्तियों तथा पुराणकथाओं को स्वीकार कर लिया गया है, से श्रेष्ठतर है। यह समीक्षात्मक तथा तर्कशील चरित्र सम्पूर्ण क्लासिकल यूनानी चिन्तन की एक प्रमुख विशिष्टता है, तथा आधुनिक पाश्चात्य व्यक्ति इस पक्ष से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। तथ्यों के निश्चयन तथा विवरणों के लेखन के अतिरिक्त थ्यूसीडायडीज़ ने युद्ध के कारणों तथा एथेन्स के पराजय के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उसका प्रयोजन था दृष्टान्त के माध्यम से शिक्षित करना, परवर्ती पीढ़ियों को समान समस्याओं के समाधान में समर्थ बनाने वाली सूझ प्रदान करना। ऐतिहासिक विकास-गति को वह चक्रात्मक मानता था। दो बातें ऐसी हैं जिन पर वह आधुनिक इतिहास-कार को सन्तुष्ट नहीं करता। उसकी रुचि केवल समसामयिक घटनाओं पर थी। अतीत के विषय में, स्वयं अपनी पीढ़ी की स्मृति से परे, उसका अवबोध बहुत कम था, न ही भविष्य में ऐतिहासिक विकास-गति की दिशा के सम्बन्ध में उसकी कोई स्पष्ट धारणा थी। कुछ विशिष्ट घटनाओं को न समझ पाने पर वह भाग्यवादिता का आश्रय लेता दिखाई पड़ता है। किन्तु उसमें कथा कहने का एक आत्म-स्फूर्त उत्साह था, राष्ट्रीय-चरित्र, जीवन-चरित, राजनीति तथा भूगोल में स्पष्ट रुचि थी; आज भी इनमें से सभी इतिहास-लेखन के प्रमुख घटक हैं।

प्राय: यह कहा गया है कि यूनानी दर्शन की प्रमुख धारा ऐतिहासिक प्रपंच को सर्वथा महत्त्वशून्य मानती है : इसे यथार्थता की छायामात्र माना जाता था; इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऐतिहासिक घटनाओं का लेखन अपेक्षाकृत महत्त्वहीन बौद्धिक कार्य-व्यापार था। अरस्तू का ऐसा ही विचार था। दार्शनिकों ने अपनी विचार-शक्ति का प्रयोग इतिहास के किसी दर्शन का निर्माण करने में नहीं किया। कई रूपों में यह इतिहास के परम्परागत हिन्दू विचार के समान है। तथापि एक अकेली प्रभविष्णु विशिष्टता—अर्थात् तर्कशील समीक्षा की विशिष्टता—ने उत्तम ऐतिहासिक लेखन तथा अतिगम्भीर दर्शन को जन्म दिया। जैसाकि हम थ्यूसीडायडीज में पाते हैं, इतिहास साहित्य का अंग बना रहा किन्तु उसके समान स्तर को यह—क्या 'हैलेनिस्टिक' विश्व में और क्या यूनानी संस्कृति से अधिगृहीत 'रोमन' विश्व में—कदाचित् ही प्राप्त कर सका। १४वीं-१५वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के युग में, आधुनिक युग के प्रारम्भ के समय जानबूझकर इसी तर्कशील समीक्षा की प्रवृत्ति को पुनरुज्जीवित किया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य विचार के विकास में यहूदी-ईसाई परम्परा का समान महत्त्व रहा है। इस परम्परा में इतिहास की स्थिति यूनानी परम्परा की स्थिति के सर्वथा विपरीत है। जहां यूनानी परम्परा में, ऐतिहासिक लेखन के प्रतिमान के रूप में, आधुनिक मनुष्य को देने के लिये बहुत कम है, ईसाई दर्शन विशिष्टरूपेण ऐतिहासिक है तथा इसने प्रथम इतिहास-दर्शन प्रस्तुत किया। ईसाई धर्मशास्त्र ऐतिहासिक प्रपंच के महत्त्व के स्वीकरण पर आधारित है, जो इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य परम सत्य की प्राप्ति इतिहास के मध्य करता है जिसमें ईश्वर अपनी सृष्टि के लिए आत्म-प्रकाशन करता है। अपने धर्म का यह विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप ईसाइयों को अपने यहूदी पूर्वजों से उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुआ। यहूदी धर्म का प्रारम्भ ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति के साथ हुआ जिसमें यहूदी ईश्वर, याह्वे, ने अपने चुने हुए लोगों के साथ एक विशेष समझौता अथवा अनुबन्ध किया है। एक वर्ग के रूप में उनके विकास का इतिहास उनके धर्म के लिए अपरिहार्य है। यदि कुछ ऐतिहासिक घटनाएं वास्तव में नहीं घटी होती तो उनके धर्म का सम्पूर्ण आधार मिथ्या स्थापित होता। इस इतिहास की तीन प्रमुख विशिष्टताएं थीं। प्रथम तो यह कि प्रकृति का भौतिक विकास महत्त्वपूर्ण नहीं था। केवल मनुष्य तथा ईश्वर महत्त्वपूर्ण थे, और इस कारण इतिहास इन दोनों के बीच स्थित सम्बन्धों की कथा है। दूसरा यह कि इस सम्बन्ध को नैतिक शब्दावली में परिभाषित किया गया। ईश्वर को भुला देने तथा उसके आदेशों की अवज्ञा करने पर मनुष्य ईश्वर द्वारा दण्डित हुआ था। धार्मिक पैगम्बर की भूमिका लोगों को ईश्वर के कार्यों का स्मरण दिलाती थी और उन्हें यह चेतावनी देती थी कि उसे भूलने का पाप करने पर वे दण्डित होंगे। बेबीलोनिया के निवासियों द्वारा यहूदी-पराजय को इसी प्रकार के दण्ड के रूप में व्याख्यायित किया गया। इसी समय एक तीसरे तत्त्व का अनुप्रवेश हुआ : परम मुक्ति की आशा में विश्वास के साथ भविष्य की प्रतीक्षा। दण्ड तथा दुःख को यह कहकर व्याख्यायित किया गया कि मनुष्यों के परिष्कार के लिये ईश्वर का यह अपना मार्ग है, जिससे कि वे अन्ततः मुक्ति पा सकें। इस विचार के अनुसार ऐतिहासिक विकास रेखीय अनुक्रम में उपस्थित होता है, जो इसे सृष्टि से प्रारम्भ कर पूर्णत्व की स्थिति तक एक अनवरत विकास के रूप में देखता है; इस विकास में मनुष्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं के आधार पर अपना परिष्कार करता है।

ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ और उसने यह दावा किया कि ईसा के रूप में यहूद्री आशा को पूर्णत्व प्राप्त हुआ है। उनके पवित्र इतिहास में ईसा के जन्म की घटना सबसे हाल की और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी जो अतीत तथा भविष्य दोनों को अर्थ प्रदान करती थी तथा सम्पूर्ण इतिहास का केन्द्र-बिन्दु थी। यह मान्यता पहले भी प्रतिष्ठित थी कि यहूदियों का विशिष्ट ईश्वर संपूर्ण मानव जाति का ईश्वर था किन्तु ईसाई धर्म में इस विश्वेकात्मकता की पुष्टि हुई। ऐसे लोगों को जो यहूदी नहीं थे और बाद में ईसाई धर्म में स्वीकृत हुए थे यहूदी इतिहास की शिक्षा देना तथा ईसाई धर्म और यहूदी धर्म के ठीक-ठीक संबंध को परि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषित करना आवश्यक था । एकनिष्ठ विवरण देने के उद्देश्य से यहूदी इतिहास से बाहर की घटनाओं को भी सम्मिलित किया गया जिससे सार्वभौमिक इतिहास तथा रेखीय विकास की अवधारणा को बल मिला । अब ईसा के द्वितीय आविर्भाव को इतिहास का लक्ष्य माना गया ।

प्रथम वास्तविक इतिहास-दर्शन पाँचवीं शताब्दी ई० में अफ्रीकी ईसाई विशप सेन्ट आगस्टिन द्वारा लिखा गया । प्रारम्भिक यहूदी इतिहास ईश्वर द्वारा यहूदी समाज को अस्तित्व में लाने से संबंधित अनुक्रमिक घटनाओं की व्याख्या था, तथा प्रारम्भ में यह सफलता का इतिहास था । वेबीलोन-वासियों द्वारा यहूदियों के पराजय तथा उनके बन्दी बनाए जाने के पश्चात् भावी आशा के एक नए आयाम का अनुप्रवेश हुआ । इसी प्रकार, ईसाई चर्च दिन-प्रति-दिन शक्तिशाली होता गया, तथा चौथी शताब्दी ई० में ईसाई धर्म रोम साम्राज्य का राजकीय धर्म बना । इसके बाद ही पाँचवीं शताब्दी में रोम योरोप की बर्बर जातियों द्वारा अभिभूत हुआ और कुछ लोगों द्वारा इस पराजय का दोष ईसाई धर्म पर आरोपित किया गया । इस दोषारोपण के उत्तर में सेन्ट आगस्टिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ईश्वर का नगर' ('सिटी ऑफ गॉड') की रचना की । उन्होंने कहा कि इतिहास में दो नगर होते हैं : मनुष्य का नगर तथा ईश्वर का नगर, अर्थात् राज्य तथा चर्च । इतिहास में इनमें विभेद किया जा सकता है किन्तु उन्हें स्पष्टतः पृथक् नहीं किया जा सकता । ईश्वर अपनी विशिष्ट ईश्वरीय दृष्टि से इन सबका पर्यवेक्षण करता है, किन्तु केवल चर्च में ही मनुष्य अपनी विमुक्ति की दिशा में विकास करता है । राज्य कोई परम-मूल्य-युक्त वस्तु नहीं है । अतएव रोम का विनाश मानवता के वास्तविक विकास को प्रभावित नहीं करता । ईश्वर के नगर का अस्तित्व बना रहता है । आगस्टिन में यूनानियों की इतिहास के चक्रीय विकास की अवधारणा का दृढ़ अस्वीकरण दिखाई पड़ता है । इतिहास में ईश्वर के संप्रकाशन की एक ही कथा है जिसमें ईसा का जन्म केन्द्र-बिन्दु के रूप में स्थित है – इस बिन्दु तक यह कथा यहूदियों के पवित्र इतिहास द्वारा संचालित थी; इसके बाद चर्च अथवा ईश्वर का नगर यह संचालन–स्रोत बनेगा । इस प्रकार, एक ईसाई के लिये इतिहास, ईश्वर के साथ संबंध के संदर्भ में, मनुष्य का सार्वभौमिक वृत्त बन गया जो एक अर्थपूर्ण रूप में, मोक्ष की ओर, एक ही दिशा में विकासमान हो रहा है । मनुष्य को अपना अर्थ इस इतिहास में प्राप्त होता है । इन विचारों का अस्तित्व मध्यकाल में बना रहा । आधुनिक युग के प्रारम्भ में आत्म-प्रकाशन करने वाले ईश्वर की अवधारणा शनैः–शनैः पृष्ठभूमि में चली गई किन्तु एक ही अर्थपूर्ण सार्वभौमिक वृत्त के रूप में ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया के स्वरूप की अवधारणा अवस्थित रही । वस्तुतः इतिहास के रूप में लिखित ऐतिहासिक रचनाओं का जब यूनानी परंपरा से मेल हुआ तब इतिहास की आधुनिक शिक्षा-शाखा अस्तित्व में आई ।

योरोपीय पुनर्जागरण तथा सुधार (१४००–१६००), मध्यकाल के विरोध में उपस्थित, एक ही प्रतिक्रिया के अंग हैं । दोनों की ही चेष्टा उस प्राचीन विश्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की पुनर्प्राप्ति थी जो – जैसाकि वे अनुभव करते थे – खोया जा चुका था। उन्होंने मध्यकालीन चर्च की निरंकुशता तथा संकीर्णता का निरास किया तथा यूनान से चली आ रही मनुष्य तथा राजनीति में समीक्षात्मक बुद्धि तथा रुचि को तथा – जैसाकि वे अनुभव करते थे – ईसा के वास्तविक धर्म तथा प्रारंभिक चर्च को पुनरुज्जीवित किया। इसके लिए ऐतिहासिक कालों के अवबोध तथा विभिन्न समयों के मूल्यांकन की अपेक्षा थी। तत्परिणामस्वरूप प्राचीन-मध्य-आधुनिक—इस वर्गीकरण का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

प्राचीन साहित्य में रुचि ने जनसामान्य को यूनान तथा रोम के इतिहास के अध्ययन तथा सोत्साह अनुकरण के लिये प्रेरित किया। यूनान की समीक्षात्मक बुद्धि पुनः एक सद्गुण के रूप में प्रतिष्ठित हुई तथा विभिन्न इतालवी नगर-राज्यों के इतिहासों में – जिनमें रोम के इतिहास का अध्ययन ऐसे दृष्टान्तों की खोज के उद्देश्य से किया गया जिनसे आधुनिक मनुष्य शिक्षा ग्रहण कर सके – इसका व्यवहार किया गया। इस काल से ही हम ऐतिहासिक रचनाओं का अनवरत विकास खोज सकते हैं।

संभवतः ऐतिहासिक रीति-विज्ञान में सर्वाधिक नाटकीय प्रगति लौरेन्जा वल्ला की यह घोषणा थी कि कान्स्टैन्टाइन का दानलेख जालसाजी है। इस प्रलेख का यह आशय था कि इसमें चौथी शताब्दी में सम्राट कान्स्टैन्टाइन द्वारा रोम के पोप को पार्थिव सत्ता के दान का लेखन है; तथा रोम के चर्च द्वारा पार्थिव शक्ति का दावा इसी पर आधारित था। वल्ला ने यह प्रमाणित किया कि यह लेख चौथी शताब्दी में नहीं लिखा जा सकता था। भाषा के अपने ज्ञान की सहायता से उसने प्रदर्शित किया कि प्रलेख की भाषा तथा इसमें दिए गए कुछ उद्धरण ९वीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हो सकते थे। ज्ञान तथा तथ्यों की सहायता से वल्ला ने चर्च के प्राधिकार तथा परम्परा को अस्वीकार किया।

प्रलेखों की आलोचना का यह प्रारंभ अब भी इतिहास के अध्ययन में प्रथम तथा मूलभूत अपेक्षा है। १७वीं शताब्दी में, जिसे कभी-कभी पाण्डित्य का युग कहा जाता है, पाण्डुलिपियों के विशाल भण्डार का सम्पादन किया गया तथा प्रलेखों के मूल्यांकन के सिद्धान्तों को परिशुद्ध किया गया। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्माण हमें सन्तों का विवरण प्रदान करने वाले विशाल संग्रह के अनुप्रवेशी लेख, माबिलों के 'द रे-डिप्लोमेतिका' (१६८१), में प्राप्त होता है। यह पादरियों की एक मण्डली की सम्मिलित कृति थी जिसका कि वह स्वयं एक महत्त्वपूर्ण एवं विद्वान् सदस्य था।

१७वीं शताब्दी में उस आधुनिक विज्ञान का भी प्रारंभ हुआ जिसमें साक्ष्य तथा प्रत्यक्ष अनुभव मात्र को ज्ञान का प्रामाणिक आधार माना गया। सत्ता तथा परम्परा का तिरस्कार कर आधुनिक मनुष्य ने तथ्यों से जूझने में गर्व का अनुभव किया। इतिहास ने भी इस प्रवृत्ति में सहभाग किया तथा अतीत के विवरण के निर्माण में "अनम्य एवं अपरिवर्तनीय तथ्यों" का निरूपण करने के लिये एक समीक्षात्मक रीति-विज्ञान को विकसित किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८वीं शताब्दी की ज्ञानोद्दीप्ति इस नए विज्ञान में पूर्ण प्रशिक्षित थी; इस युग में ये नए विश्वास लोकप्रिय हुए तथा इनका व्यापक प्रचार हुआ। न्यूटन का मत इस नए विज्ञान की एक प्रमुख अभिव्यक्ति था; इसने जगत् में एक व्यवस्था देखी जिसकी अभिव्यक्ति, सभी कालों तथा सभी देशों में समान रूपेण कार्य करते हुए, प्राकृतिक नियम के रूप में होती है। इसी अवधारणा का विस्तरण करके मानव स्वभाव को अपरिवर्तनशील उपकल्पित किया गया। एक बार फिर इतिहास एक ऐसे दर्शन के बीच में आ पड़ा जो मूलतः इतिहासविरोधी था, किन्तु इतिहास फिर भी जीवित रहा। इसे सर्वाधिक प्रभावी दार्शनिकों में गण्यमान वोल्तेयर के योगदान से दर्शाया जा सकता है। सर्वाङ्गीण रुचि इस युग की विशेषता थी और वोल्तेयर ने इसका दो महत्त्वपूर्ण रूपों में प्रयोग किया। उसने अपने 'लुइ चौदहवें का युग' के इतिहास में सांस्कृतिक तत्त्वों को राजनैतिक तत्त्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया। इससे न केवल वास्तविक इतिहास में सम्मिलित की जाने वाली सामग्री के नए प्रतिमान स्थापित हुए अपितु युग विशेष की आत्मा का विचार भी प्रारम्भ हुआ। वोल्तेयर इस अवधारणा को इसके इस स्पष्ट निष्कर्ष तक नहीं ले गये कि प्रत्येक युग विशिष्ट होता है किन्तु उन्होंने इस दिशा में पहला कदम उठाया। दूसरे, वोल्तेयर पहले योरोपीय हैं जिन्होंने एशियाई संस्कृति को गम्भीर रूप में लिया है। १६वीं–१७वीं शताब्दी की खोजों ने प्राचीन भारत और चीन की महान् संस्कृतियों की ओर योरोप का ध्यान खींचा। ये बाइबिल के ऊपर केन्द्रित विश्वव्यापी ढाँचे में स्थान नहीं पा सकीं। एक सुसम्बद्ध सार्वभौमिक इतिहास लिखने की अपेक्षा वोल्तेयर की रुचि अपने देशवासियों को यह बताने की ओर अधिक थी कि एशिया योरोप के समान ही सभ्य था। मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी अपनी अवधारणा प्रत्येक सभ्यता को विशिष्ट मानने में बाधक थी, किन्तु, पुनः, उसने भावी इतिहासकारों के लिये एक प्रतिमान स्थापित किया; अब केवल योरोप पर केन्द्रित इतिहास को पूर्ण नहीं माना जा सकता था। इस प्रकार उसने इतिहास के तत्त्व के और अधिक व्यापक अवबोध में योगदान दिया, तथा इसकी दृष्टि २०वीं शताब्दी के इतिहासकारों से अधिक व्यापक है। वोल्तेयर तथा ज्ञानोद्दीप्ति मुख्यतः यूनानी परम्परा में ठीक बैठते हैं जिसमें विशिष्ट तत्व है : मनुष्य तथा प्रकृति के प्रति व्यापक जिज्ञासा, ज्ञान के प्रति समीक्षात्मक तथा तर्कशील दृष्टिकोण तया उपदेशात्मक उद्देश्य। किन्तु, उसके इतिहास के क्षेत्र का विस्तरण तथा सार्वभौमिक इतिहास में उसकी रुचि ईसाई परम्परा की अधिक ऋणी हैं।

इतिहास का यह प्रबुद्धतावादी विचार आलोचना से सर्वथा बचा नहीं रहा। इन आलोचकों में दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलोचक विको तथा जर्मनी निवासी हर्डर थे। विको एक विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। इतिहास पर लिखी गई उसकी कृति 'नवीन विज्ञान' ('द न्यू साइंस') को स्वयं उसके समय, अठारहवीं शताब्दी, में लोगों ने नहीं पढ़ा, और न ही इसके बाद उसे अधिक पढ़ा गया है। किन्तु यह ऐसे विचारों से—यद्यपि अपेक्षाकृत अपरिष्कृत रूप में—युक्त है जो बाद में सामने आए। उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रत्यक्ष प्रभाव न होने के कारण हम उसके रीति-विज्ञान तथा ऐतिहासिक-विकास-प्रक्रिया पर उसकी व्याख्या पर विस्तार से विचार नहीं करेंगे। किन्तु उसने दो मौलिक विचारों को जन्म दिया जो आधुनिक इतिहास-लेखन के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जैसाकि शीर्षक से स्पष्ट है, विको का विचार था कि वह किसी ऐसी वस्तु का प्रतिपादन कर रहा है जो नई है, चुनौती देने वाली है अथवा, कम से कम, भौतिकविज्ञान के दावों की पूर्ति करने वाली है। विको ने सुरक्षात्मक विधि नहीं अपनाई। उसने आग्रहपूर्वक कहा कि इतिहास का ज्ञान प्रकृति के ज्ञान से भिन्न है। जबकि प्रकृति ईश्वर की रचना है, इतिहास का रचयिता मनुष्य है। अतएव, मनुष्य प्रकृति की अपेक्षा इतिहास को अधिक स्पष्ट रूप में जान सकता है। कदाचित् ही कोई इतिहासकार अपनी स्थिति के प्रति इतना अधिक विश्वासी रहा है जितना कि विको था। प्राकृतिक विज्ञान ने इतिहास की अपेक्षा एक अधिक संतोषजनक रीति-विज्ञान तथा सुनिश्चित निष्कर्षों का एक अधिक सुप्रतिष्ठित संग्रह विकसित किया। वैज्ञानिक प्रवृत्ति की लोकप्रियता के प्रतिष्ठापन के समय से इतिहासकार, एक सुरक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए, इस रीति-विज्ञान के अनुकरण के प्रति आकर्षित होते रहे हैं। आज भी यह समस्या बनी हुई है। यह यूनानी तथा ईसाई विचारों के विभेद की निरन्तरता प्रदर्शित करता है, जिसमें पहला प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों क्षेत्रों को तर्कशील मानता है जबकि दूसरा इन दोनों में स्पष्ट भेद करता है।

विको का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि इतिहास आत्मप्रकाशनीय है, अर्थात् यह कि इसका अपना विशिष्ट अर्थ होता है जिसे किन्हीं बहिर्भूत प्रतिमानों की सहायता के बिना प्रत्यक्ष अध्ययन द्वारा समझा जाना चाहिए। विको की अपनी विधि के अनुसार किसी भी प्रदत्त समाज के स्वरूप का सूत्र उसकी भाषा का विश्लेषण था। धर्मशास्त्रीय तथा दार्शनिक दोनों ही विधियाँ नित्य यथार्थताओं को अपना प्रारम्भ बिन्दु मानती हैं : पहली ईश्वर को और दूसरी तर्क को। विको का रीति-विज्ञान इन दोनों विधियों का विकास प्रस्तुत करता है। इसकी कार्य-विधि अनुभववादी विज्ञानों की विधि के सदृश है। विको के ये दो सिद्धान्त, जिन पर वह अपने इतिहास-अध्ययन को आधारित करता है, इतिहासवाद के अनिवार्य आधार हैं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में विको के विचारों को जर्मनीवासी हर्डर ने आगे बढ़ाया। हर्डर का पालन-पोषण जर्मनी की धार्मिक परम्परा में हुआ था जो ज्ञानोद्दीप्ति से कम प्रभावित हुई थी, तथा इतिहास के स्वरूप पर विचार करने वाली उसकी रचनाएं ज्ञानोद्दीप्ति के विचारों की सीधी आलोचना हैं। इस प्रकार की सर्वाधिक तीव्र आलोचना उसकी प्रारंभिक कृति 'तदपि एक अन्य इतिहास-दर्शन' ('येट ऐनअदर फिलासफी ऑफ हिस्ट्री') में मिलती है जो उसने तीस वर्ष की आयु में, १७७४ में, लिखी थी। इसमें उसने इस बात का अस्वीकरण प्रस्तुत किया कि इतिहास में सामान्यीकरण संभव है; प्रत्येक समाज विशिष्ट होता है और उस समाज के विकास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रत्येक क्षण भिन्न होता है। उसने विशेष रूप से ज्ञानोद्दीप्ति द्वारा मध्यकाल के प्रत्याख्यान को चुनौती दी। उसने आग्रह किया कि इसका अपलोप नहीं किया जा सकता क्योंकि उस समय के लोगों के लिये यह एक यथार्थ था। ऐतिहासिक विशिष्टता की यह अवधारणा इतिहासवाद की मुख्य विशेषता है।

सामान्यीकरण को अस्वीकार करने पर तथा किसी बाह्य प्रतिमान का व्यवहार असंभव मानने पर इतिहासवादी के लिए इस बात की व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है कि क्यों किसी समय विशेष में किसी विशेष मानव-समाज ने एक विशेष प्रकार का विश्वास रखा और एक विशेष रूप में कार्य किया। यहां हर्डर अपने आलोचकों को उनका मुख्य विषय प्रदान करता है। इतिहास में प्रत्येक क्षण एक विशेष प्रकार का होता है क्योंकि वह इससे भिन्न नहीं हो सकता था। प्रत्येक क्षण ही उसकी अपनी व्याख्या है। उसने इतिहास को (विको के समान) न केवल आत्मप्रकाशनीय माना अपितु स्वयं का औचित्य स्थापित करने वाला एवं अन्तिम भी माना। परिणामस्वरूप, एक सर्वथा रुद्ध शास्त्र-व्यवस्था प्राप्त होती है और इतिहासवाद की इसके प्रकाश में आलोचना हुई है। इस निष्कर्ष के कारण इतिहासवाद के सामने वे समस्याएं उठती हैं जो संपूर्ण ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया को मूलभूत, नित्य विचारों के आधार पर व्याख्यायित करने वाले परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शनों के सामने होती है।

ज्ञानोद्दीप्ति की आलोचना में हर्डर ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही : वह मनुष्य को मन से कुछ अधिक मानता है। मनुष्य केवल तर्कशील प्राणी नहीं है, वह निश्चय करने वाला तथा अनुभव करने वाला प्राणी भी है। इस प्राणी को उसकी संपूर्णता में समझने के लिये तर्क की अपेक्षा कुछ और अधिक की आवश्यकता है। इस प्रकार हर्डर ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किया कि मानव-अतीत को कैसे समझा जाय। इसके लिये वह 'Einfhlung' शब्द का प्रयोग करता है। इतिहासकार को अतीत के अन्दर जा कर उसकी वास्तविकता का अनुभव करना चाहिये। इस विषय पर हर्डर स्वच्छन्दतावादी है तथा अनुभव को तर्क के ऊपर रखता है। बाद में एक संतुलन का पुनरस्थापन संभव था। हर्डर का महत्त्व उसके द्वारा इस बात के अस्वीकरण में है कि मनुष्य की व्याख्या के लिए तर्क पर्याप्त है। अतीत को उसके यथार्थ तथा विशिष्ट रूप में समझने के लिये अन्तर्दृष्टि के तत्त्व की अपेक्षा होती है। उसने वस्तुतः ऐतिहासिक अवबोध के एक 'नए विज्ञान' को विकसित करने के प्रयास में केवल नई समस्याएं पैदा कीं। किन्तु यह ज्ञानोद्दीप्ति द्वारा परिभाषित मनुष्य के संकुचित अवबोध से एक चरण आगे था। इतिहास में संवेदना अथवा पुरानुभूति की आवश्यकता स्थापित हो चुकी थी।

जब ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया को समझने के लिये विभिन्न प्रयास प्रतिपादित किए जा रहे थे, ठीक उसी समय ऐतिहासिक रीति-विज्ञान भी तीव्र गति से अग्रसर हो रहा था। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, गोटिंगेन के विश्वविद्यालय में विद्वानों के एक उत्साही वर्ग द्वारा १७वीं शताब्दी के पण्डितों द्वारा स्थापित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्तों का व्यवहार किया जा रहा था। ज्ञानोद्दीप्ति के प्रभावस्वरूप यह मान्यता स्थापित हुई कि ऐतिहासिक अध्ययनों का अनुशीलन अनुशासित रूप में होना चाहिए; अब इतिहास एक केन्द्र-विषय बन गया तथा शनैः शनैः इसने अन्य शिक्षा-शाखाओं को—विशेष रूप से विधि को—अपने विषय-वस्तु के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने की दिशा में प्रभावित किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२

क्रान्ति का प्रत्युत्तर : योरोपीय मानस का इतिहासीकरण

उन्नीसवीं सदी में उसको पूर्ववर्तिनी सदियों के रचनात्मक तत्त्वों के सम्मिश्रण से आधुनिक इतिहास-लेखन का बौद्धिक प्रारूप प्रकट हुआ एवं मानव के सम्पूर्ण भूत के वर्णनार्थ इतिहास में क्लासिक्स लिखे गये। विश्वविद्यालयों के कला-संकायों में इतिहास का वर्चस्व स्थापित हुआ। बीसवीं सदी में न तो उस कोटि के ग्रन्थ लिखे गये और न ही उन्नीसवीं सदी में इतिहास को प्राप्त लोकप्रियता की परम्परा ही अविच्छिन्न रह सकी। जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है, सदी के प्रारम्भ में वे विचार वर्तमान थे जिनके समन्वय से आधुनिक इतिहास-लेखन का प्रारम्भ हुआ, किन्तु उन्नीसवीं सदी में इतिहास के प्रति वास्तविक संवेदनशीलता को प्रोत्साहित करने का श्रेय फ्रांस की राज्य–क्रान्ति को है। इस क्रान्ति के भूचाल का प्रकम्पन योरोप को उसकी अनुभूति कराने के लिये पर्याप्त था, तदुपरान्त नैपोलियन के रूप में उसका विनाशकारी प्रारूप योरोप में पहुंचा। प्राचीन व्यवस्था विघटित हुई और योरोप ने नव्य स्थायित्व को ढूढ़ने का असफल प्रयास किया। जो कुछ घटित हुआ था उसके कारणों की खोज योरोप ने उसी प्रकार प्रारम्भ की जिस प्रकार से यहूदियों ने अपने बेबीलोन-दासत्व की, थ्यूसीडायडीस ने अपनी मातृभूमि के विनाश की, और ऑगस्टिन ने रोम के पतन के लिये दोषी ठहराये जाने वाले ईसाई धर्म की रक्षा के लिये व्याख्यायें प्रस्तुत की थीं।

क्रान्ति के कुछ अतिशयों को ज्ञानोद्दीप्ति की अनैतिहासिक अभिवृत्ति का योगदान अनुभव करने वाले आलोचक ठीक थे। यह अभिवृत्ति, जिसे मध्यकाल में भी कोई अच्छाई नहीं दिखाई पड़ी थी, कुछ क्रान्तिकारियों को यह विश्वास दिलाने में सफल हुई कि नवीन संस्थायें मात्र वैचारिक सत्य के आधार पर तुरन्त हो सकती हैं। इस अवधारणा का प्रमुख आलोचक एडमण्ड बर्क नाम का अंग्रेज था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की आलोचना के सन्दर्भ में उसने इतिहास में रुढ़िवादी विचार का विकास किया और यह प्रस्थापना प्रस्तुत की कि प्रत्येक समाज का आंगिक विकास होता है, स्थिर विकास धीरे-धीरे होता है, प्रत्येक नवीन प्रारूप प्राचीन से उद्भूत होता है, प्राचीन संस्थाओं की हिंसा कर देने से समाज-शरीर में घाव हो जाते हैं जिनके ठीक होने के उपरान्त भी कुरूप चिह्न अवशिष्ट रह जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस दर्शन से अंग्रेजों को अपने इतिहास में अधिक सन्तोष मिला क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उनके इतिहास का विकास क्रमशः स्वस्थ्य ढंग से, हिंसा से बचते हुए, भूत की अच्छाइयों को स्वीकार करते हुए हुआ है। ब्रिटिश श्रेष्ठता के प्रति पूर्ण संतोष की अभिव्यक्ति इतिहास की ह्विग व्याख्या के रूप में हुई। उसके अनुसार अंग्रेजों ने १६६८ की अपनी गौरव-शालिनी (अरक्त रंजिता) क्रान्ति के द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर लिया था जिसे फ्रांसवासियों ने हिंसात्मक एवं अनैतिहासिक तरीके से प्राप्त करने का प्रयास किया था। अपनी इस मान्यता से कि इतिहास की प्रगति सरल ढंग से हुई है, उनको यह प्रतीत हुआ कि इतिहास से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। योरोप के प्रमुख विचारों से असंपृक्त एवं क्रान्ति की उथल-पुथल से अपेक्षाकृत अप्रभावित इंग्लैण्ड की भी फ्रांस की राज्य क्रान्ति से इतिहास के प्रति अभिचेतना बढ़ी। इतिहास जन-सामान्य का प्रिय विषय बना और उन्नीसवीं सदी के मध्य के बुद्धि-जीवियों ने इतिहास-ग्रन्थों की रचना की, जिनको लोकप्रियता मिली। इस प्रकार के लेखकों में सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न मेकाले था। उसने सोत्साह विगत के विषय में लिखकर उसे साकार किया और उसका उपयोग ब्रिटिश-विकास की श्रेष्ठ उपलब्धियों को प्रदर्शित करने तथा उद्धरण से नैतिकता की शिक्षा देने के लिए किया।

क्रान्ति एवं उसके पूर्वज ज्ञानोद्दीप्ति की एक समानान्तर प्रतिक्रिया स्वच्छन्दतावाद की हुई। हर्डर की तरह मानव को अनुभूतियुक्त माना गया तथा मध्यकाल के गुणों की सराहना की गई। यह आन्दोलन मूलतः साहित्य में हुआ और रोमान्तिक उपन्यास लिखे गये। ऐसे उपन्यासकारों में पहला नाम वाल्टर स्काट का आता है। उसने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा, जिनमें शूर राज–राणक कमनीय कामिनियों के प्यार के लिए युद्ध करते हैं, मध्यकाल को पुनर्जीवित किया। भूत के रोमान्तिक-करण की इस प्रवृत्ति से इतिहास लोकप्रिय हुआ तथा सहस्रों को, ऐतिहासिक-चिन्तन के लिए आवश्यक, इस प्रारम्भिक अवधारणा का ज्ञान हुआ कि भूत वर्तमान से भिन्न था किन्तु इस आन्दोलन का अनुभूति के प्रति इतना अधिक आग्रह था कि इसमें युक्ति का स्थान न्यूनतम हो गया था एवं इसका सम्बन्ध क्रमबद्ध रीति-विज्ञान के विकास से न रहकर अच्छी कहानियों के कहने तक सीमित रह गया। इस एकांगीत्व के कारण स्वच्छन्दतावादी इतिहास ठोस ऐतिहासिक कृतियों में वृद्धि नहीं कर सका, तथापि विस्तृततम अर्थ में यह इतिहास की महत्त्वपूर्ण विधा है, इससे इतिहास की लोकप्रियता-वृद्धि एवं ज्ञानोद्दीप्ति की अनैतिहासिक अभिवृत्ति का प्रतिरोध करने में सहायता मिली। एक अर्थ में यह फ्रांस की राज्य क्रान्ति–जनित समस्याओं से—वर्तमान से रोमान्तिक भूत में—विपलायन था।

मानव–निर्मित इतिहास के रूप में फ्रांस की राज्य–क्रान्ति ने नाटकीय ऐतिहासिक परिवर्तन का एक अस्तिवादी उदाहरण प्रस्तुत किया। थर्ड इस्टेट के नेताओं ने प्राचीन व्यवस्था की समाप्ति और राजा के जीवन का अन्त करके सर्वथा नवीन व्यवस्था की प्रस्थापना की थी। नेपोलियन ने फ्रांस में सत्ता हथिया लिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था और अल्पकाल के लिये अपनी इच्छा सम्पूर्ण योरोप पर आरोपित करने में सफल हुआ था। यह आधुनिक चेतना का उन्मूलक प्रारूप था, मानव की अपने भाग्य-निर्माण की योग्यता थी। इस प्रकार इतिहास-निर्माण करने वालों के लिये यह आह्लादकारी अनुभव था। किन्तु अधिकांश लोगों के लिये इतिहास-निर्माण का यह कार्य बड़ा महंगा पड़ा। और क्रान्ति-पथ ने अपने पीछे यदि मृत नहीं तो कम से कम खण्डित मानव का अनुचिह्न छोड़ा। तथापि इससे योरोप के इतिहास को एक नयी दिशा मिली। नेपोलियन ने अल्पकालिक स्थिरता प्रदान की थी तथा इसके साथ ही उसने क्रान्ति की अधिकांश उपलब्धियों की रक्षा की थी। १८१४ में नेपोलियन का भी पतन हो गया, तदुपरान्त फ्रांस की दृष्टि अपने घावों की ओर गयी। विजेताओं ने समस्याओं का समाधान प्राचीन राजतंत्र की प्रत्यास्थापना में ढूंढ़ा। क्रान्ति की उपलब्धियाँ प्राचीन व्यवस्था की प्रत्यास्थापना की अनुमति नहीं दे सकती थीं और नया राजा कम से कम इतना बुद्धिमान तो था ही कि वह यह जान सके कि अस्तित्व के लिये फ्रांस को क्रान्ति एवं प्राचीन व्यवस्था दोनों की भूलों से बचना होगा। इसके पश्चात के पन्द्रह वर्षों में फ्रेंच राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये, समस्याओं की व्याख्यायें तथा नीतियों के निर्धारण इतिहास के सन्दर्भ में हुये। रूढ़िवादी क्रान्ति की क्रूरताओं की ओर ध्यानाकर्षण के द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास किये कि १७८९ में बुर्जआ वर्ग के प्रथम चरण ने १७९३–९४ की हिंसा का मार्ग प्रशस्त किया था। दूसरी ओर उदारवादियों की यह प्रस्थापना थी कि क्रान्ति के प्रारम्भिक कार्य ठीक थे और उनको सुरक्षित रखना चाहिये। आतंक अनिवार्य था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि वे फ्रांसीसी इतिहास के पृष्ठों में यह ढूंढ़कर दिखाने लगे कि क्रान्ति के लिये समाधान हेतु प्रस्तुत प्रश्न पहले से वर्तमान थे, पादरीवर्ग और सामन्तवर्ग, चर्च और राजा, राजा और सामन्तवर्ग, फ्रैंकिश स्वतन्त्रता एवं रोमन सत्ता के सघर्ष सदियों से चले आ रहे थे। उदारवादियों की प्रस्थापना थी कि १७८९ की क्रान्ति फ्रांस में क्रान्तियों की श्रृंखला की अन्तिम कड़ी थी। उनकी यह भी मान्यता थी कि संवैधानिक राजतंत्र का विचार स्वीकार करके प्रत्यास्थापना ने १७८९ के आदर्शों की पूर्ति कर दी है। इतिहास का उपयोग राजनीतिज्ञों ने किया और अन्त में सत्ता के लिये संघर्ष में विजय उनको मिली जिन्होंने इतिहास का सर्वाधिक प्रयोग किया था। फ्रांस की राजनीति ऐतिहासिक प्रमाणों पर आधारित हुयी। १८३० एवं १८४० के बाद के दो प्रमुख राजनीतिज्ञ क्रमश: गीजो और तीये दोनों अच्छी कोटि के इतिहासविद् थे। समस्याओं की व्याख्या करने तथा उनके विकास की प्रक्रिया के अन्वेषक इतिहास ने एक पूरी पीढ़ी को शिक्षित किया एवं प्रविदारी क्रान्ति की व्याख्या करने की चुनौती का मुकाबिला किया। दीर्घकाल से होते आ रहे परिवर्तन के तत्वों एवं फ्रेंच इतिहास के नैरन्तर्य के विश्लेषण द्वारा उदारवादी फ्रांस को राज्य–क्रान्ति की अच्छाइयों को सुरक्षित रखने के साथ फ्रांस के लोगों की ऐतिहासिक-दृष्टि से सोचने की शिक्षा देने में सफल हुये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रान्ति के प्रत्युत्तर स्वरूप इंग्लैण्ड ने अपने विगत की अच्छाइयों की अभिपुष्टि की, फ्रांस ने अपने घावों को भरने के लिये संघर्ष एवं हिंसात्मक परिवर्तनों के सम्मुख भूत से अविछिन्न सम्वन्धभाव की प्रस्थापना की, और जर्मनी भविष्य की ओर उन्मुख हुआ। नेपोलियन की विजय ने जर्मनी के मानचित्र को परिवर्तित एवं परिवर्तन-विरोधी तत्वों को अशक्त करके समवेत जर्मन कार्यवाही का केन्द्र बिन्दु प्रस्तुत किया था तथापि जर्मन राष्ट्र अभी पैदा नहीं हुआ था। फ्रेंच सेना ने राष्ट्र के नाम पर संघर्ष किया था, वे नागरिक थे। फ्राँसीसियों को पलायित करने के प्रयास में जर्मन राष्ट्रवाद पैदा हुआ। इंग्लैण्ड और फ्रांस पूर्वाभिमुख हुये और इतिहास को नया महत्व प्राप्त हुआ। जर्मनी के लिये भूत में देखने को कुछ विशेष नहीं था, उसे भविष्य में देखने को नव-राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकता थी, तथापि इससे अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक-चेतना का अभिपोषण हुआ। वास्तव में आधुनिक इतिहास-लेखन का प्रारम्भ जर्मनी में हुआ तथा अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की अपेक्षा जर्मन अधिक ऐतिहासिक-चिन्तन की ओर अभिमुख हुये।

हम पहले देख चुके हैं कि जर्मनी ने ज्ञानोद्दीप्ति-विशेषकर उसने धर्म-विरोधी कार्यों में–पूरा भाग नहीं लिया था। जर्मनी की सारी महानता मध्यकाल में, पवित्र रोमन साम्राज्य में थी एवं सुधार भी मूलतः जर्मन था; अतः धर्म जर्मनी में अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली था। एतदर्थ, ज्ञानोद्दीप्ति के अतिशयों की प्रतिक्रिया भी जर्मनी में ही सर्वाधिक हुयी, इसका प्रतिनिधित्व हर्डर ने किया। प्रत्येक राष्ट्र की अद्वितीय चेतना (Volkgeist) की उसकी अवधारणा प्रभावी हुयी एवं जर्मनी में राजनीतिक एकता की कमी के कारण सांस्कृतिक एकता को अधिक महत्व दिया गया। राजनीतिक एकता के हेतु संघर्षरत राष्ट्रवाद की जर्मनों में ऐतिहासिक-चेतना को प्रोत्साहित करने में प्रमुख भूमिका थी।

इसके साथ ही एक अन्य परिवर्तन यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के जर्मन विश्वविद्यालय सम्पूर्ण योरोप में बौद्धिक विचार-विमर्श के सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र हो गये। इसका आंशिक कारण निश्चय ही यह था कि जर्मनी नये प्रयोग कर रहा था जब कि अन्य राष्ट्र प्राचीन को सुरक्षित रखने का प्रयास कर रहे थे। सर्वप्रथम जर्मन विश्वविद्यालयों में – पहले गोटिंगेन और १८१५ के बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में – इतिहास अध्ययन का विषय बना। दर्शन में भी जर्मनी अग्रणी बना। अतः ऐतिहासिक अध्ययन के विकास का पता लगाने पर यह ज्ञात होता है कि इसका प्रारम्भ जर्मनी में हुआ। परिकल्पनात्मक दर्शन का प्रारम्भ हीगल से और इतिहास-लेखन का प्रारम्भ राँके से हुआ।

इंग्लैण्ड और फांस में इतिहास साहित्य एवं राजनीति की सेवा में लोकप्रिय हुआ। जर्मनी में ही बौद्धिक विषय के रूप में इतिहास को पूर्णता प्राप्त हुई। इस विकास का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि प्राचीन रोम का इतिहासकार बारथोल्ड नेबूर (१७७६–१८३१) था जिसने अपना जीवन कूटनीति एवं राजनीति में विभाजित कर रखा था। अंग्रेज साहित्यकारों तथा फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों की तरह उसने इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को अपना एकमात्र व्यवसाय नहीं बना रखा था। अपने स्वच्छन्दतावादी उत्साह में वह भूत में आनन्द अनुभव करने के साथ ही युवा जर्मन राष्ट्रवाद में भी अभिरुचि रखता था। इसके अतिरिक्त उसकी अभिरुचि भाषा-विज्ञान के समुचित अनुशासित प्रयोग—अच्छा इतिहास लिखने में भाषा के अध्ययन को आधार-बनाने में थीं। नेबूर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि वह क्लासिकल लेखकों की आलोचना का वही मानदण्ड रखने का पक्षपाती था जिसके आधार पर अन्य लेखकों की आलोचना की जाती थी। अपने रोम के इतिहास में वह पुनर्जागरण और ज्ञानोद्दीप्ति के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले क्लासिकल रोमन इतिहासकार लिवी की निरन्तर आलोचना करता है।

नेबूर का महान उत्तराधिकारी लियोपाल्ड फॉन राँके था जिसको सभी ने सभी कालों के इतिहासविदों में सर्वाधिक प्रभावशाली माना है। उसकी महानता का आंशिक श्रेय उसकी दीर्घायु को है। उसकी प्रथम महान ऐतिहासिक कृति १८२५ में प्रगट हुई, तदुपरान्त अगले साठ वर्षों तक वह लिखता रहा। राँके ने अपना जीवन भाषा-वैज्ञानिक के रूप में प्रारम्भ किया, किन्तु इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करने के वाद उसने अपना सम्पूर्ण जीवन उसमें लगा दिया और लगभग साठ जिल्दों में ग्रन्थों की रचना की। उसके ये सभी ग्रन्थ वास्तविक शोधों पर आधारित हैं और सब में नयी बातें हैं। कुछ समय पूर्व उदारवाद की अभिव्यक्ति हेतु जन-सामान्य के लिये सुलभीकृत अभिलेखागारों में शोधार्थ जाने के लिये विभिन्न स्थानों की यात्रा करने वाले इतिहासकारों में वह प्रथम स्थान रखता था। उसके पूर्ववर्त्ती इतिहासकारों में से अधिकांश ने अपने को प्राचीन अथवा मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन तक सीमित रखा था। जर्मनी, फ्रांस अथवा इंगलैण्ड के प्रारम्भिक आधुनिक युग के इतिहास-लेखन का प्रारम्भ उसने किया। वृद्धावस्था में उसने अपने जीवन की महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु 'सार्वदेशिक इतिहास' लिखना प्रारम्भ किया। राँके का सर्वाधिक प्रभाव विश्वविद्यालय में था जहाँ वह 'स्रोत-समीक्षा' पर नियमित गोष्ठियां कराया करता था। यह तकनीक पहले ही अतिविकसित हो चुकी थी। तदुपरान्त उसके द्वारा आधुनिक काल में उसके प्रयोग से सैकड़ों विद्वान् इतिहास के उस रीति-विज्ञान में प्रशिक्षित हुये जिसे सम्पूर्ण योरोप में इतिहास-लेखन का मान-दण्ड स्वीकार किया गया। इस क्षेत्र में आजकल भी कोई नवीन प्रगति नहीं हुई है। राँके ने इतिहास-लेखन एवं इतिहास-दर्शन के विषय में नहीं लिखा है। वह गोष्ठियों में इतिहासकार बनाता तथा अभिलेखाकारों में इतिहास लिखता था। वह उपदेश न देकर स्वयं करता था और इस प्रक्रिया में उसने उन विभिन्न धाराओं को मूर्तिमान किया जिन्होंने इतिहासवाद में योग दिया। उसने यह सब कुछ जिस प्रकार किया उसके उत्तराधिकारी वह सब करने में असमर्थ रहे।

राँके ने अपना इतिहास तीन सामान्य-सिद्धान्तों पर आधारित किया। प्रथम एवं सर्वविदित सिद्धान्त उसकी प्रथम महान कृति की भूमिका में है जहाँ वह भूत के विषय में निर्णय देने तथा वर्तमान को शिक्षा देने का बहाना नहीं करके अपना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लक्ष्य अतीत में घटित घटनाओं का उद्घाटन करना बताता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के हेतु वह साधन-प्रलेखों का आलोचनात्मक प्रयोग आवश्यक मानता है। इसी के लिये राँके सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। किन्तु वह यहीं तक सीमित है। उसमें यूनानियों से उत्तराधिकार में प्राप्त आलोचनात्मक दृष्टि थी। अपने इतिहासवादी पक्ष की अभिव्यक्ति वह 'प्रत्येक क्षण ईश्वर के निकट है' इस वाक्यांश से व्यक्त किया करता था। इससे राँके का आशय यह था कि इतिहास की प्रत्येक घटना समानरूपेण महत्वपूर्ण होती है, सबका अपना अभिप्राय होता है और सभी विशिष्ट होती हैं। इससे प्रभावित होकर उसके अनुयायियों ने कभी-कभी अति लघु विषयों पर भी शोध को इस आधार पर उचित बताया कि अध्ययन के किसी भी विषय के समान ये विषय भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। राँके का मतलब केवल इस प्रथम सिद्धान्त के विशदीकरण से था कि हमें भूत के विषय में निर्णय न देकर उसके स्वयं के महत्व का अन्वेषण करना चाहिये। यह हर्डर के विचारों के अनुकूल है।

किन्तु थोड़ा और आगे बढ़कर राँके इतिहासवाद के उस अन्य पक्ष—स्वयं-प्रकाश—विषयी के रूप में इतिहास—की अभिपुष्टि करता है जिसका प्रतिपादन विको ने किया था किन्तु जिसको राँके के पूर्ववर्ती किसी अन्य इतिहासकार ने स्वीकार नहीं किया था। इस अवधारणा के दो तत्व हैं : प्रथम, सभ्यता के विभिन्न पक्षों की अन्तर्सम्बद्धता जिसके प्रति संकेत वोल्तेयर ने किया था और जिसकी अभिव्यक्ति हर्डर की 'फॉल्क्सगीस्ट' की अवधारणा में हुई थी (विको ने भी इस बिन्दु को महत्वपूर्ण माना था)। दूसरे, रेखीय प्रगति का ईसाई विचार, जो परम्परागत अर्थ में दैवी निर्देशन की अनिवार्यता के बिना, धर्म निरपेक्ष होकर मानव-प्रगति के अर्थ में व्यवहृत होने लगा था। राँके ने 'प्रगति' और 'अन्तर्सम्बद्धता' का प्रयोग आधार-शब्दों के रूप में किया है। राँके के स्वयं के जीवन से यह स्पष्ट है कि वह इतिहास-लेखन का प्रमुख लक्ष्य सार्वभौमिक इतिहास मानता था। साधनों के क्रमबद्ध विश्लेषण द्वारा भूत को यथार्थ रूप में देखने की योग्यता तथा उससे अपना महत्व स्वतः अभिव्यक्त कराने के हेतु युगविशेष के विभिन्न पक्षों को परस्पर सम्बन्धित करने—क्षैतिज अन्तर्सम्बद्धता, तदुपरान्त लौकिक संबंधत्व, प्रगति—की आवश्यकता होती है। बाद की अवधारणा की उसने कभी भी विशद् व्याख्या नहीं प्रस्तुत की और उसके सार्वभौम की व्याख्या भी सीमित हैं। उसने मूलतः पाश्चात्य दर्शन के परिपेक्ष्य में सोचा, योरोप के विभिन्न राज्यों के अन्तःसम्बन्धत्व का उसने बार बार उल्लेख किया है। योरोप के सन्दर्भ में राँके ने इतिहास की श्रेष्ठतम उपलब्धियों का प्रयोग किया। उसका रीति-विज्ञान पर आधारित 'वैज्ञानिक इतिहास' शैक्षणिक इतिहासकारों के लिये मानदण्ड बन गया एवं इतिहासवाद के दार्शनिक पक्ष का विवेचन अन्य इतिहासविदों के विचार के लिये शेष रह गया। इसके पहले कि हम राँके के योगदान का वर्णन कर सकें, थोड़ा पीछे जाकर हमें यह देखना होगा कि जब इतिहासकार इतिहास को पूर्ण विषय के रूप में विकसित कर रहे थे, उस समय दार्शनिक इतिहास के सम्बन्ध में क्या कर रहे थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास-दर्शन के विकास तथा दर्शन में इतिहास के भाव को लाने में हीगल के योगदान का सही मूल्यांकन करना कठिन है। हीगल की सर्वाधिक ख्याति आदर्श-वादी दार्शनिक के रूप में तथा तर्कशास्त्र पर उसके कार्य की वजह से है। आदर्शवाद इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य जो कुछ देखता अथवा अनुभव करता है वह चरम यथार्थ नहीं है। यह एक आकर्षक दर्शन है क्योंकि मनुष्य जो कुछ देखता अथवा अनुभव करता है, उस सभी को पसन्द नहीं करता है अथवा समझ नहीं सकता है। इन रहस्यों का धार्मिक उत्तर ईश्वर में है। दार्शनिक इन रहस्यों का उत्तर मन एवं विवेक अथवा जिसे हीगल विश्वात्मा कहता है, में ढूंढता है। हीगल आत्मा एवं प्रकृति, मानव के मानवीय क्षेत्र एवं प्राकृतिक क्षेत्र में स्पष्ट भेद करता है। चरम सत्य विश्वात्मा है जिसके प्रधान गुण विवेक और स्वातंत्र्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति मानव मन में होती है। किन्तु हीगल ने उसमें बड़ा योगदान किया। उसके अनुसार मानव मन विवेक के द्वारा ऐतिहासिक ढंग से स्वातंत्र्य की अधिकाधिक अनुभूति की ओर विकास करता है; इस प्रकार विश्वात्मा की अनुभूति ऐतिहासिक प्रक्रिया में होती है।

हीगल ने अनुभूति की ईसाई अवधारणा को इतिहास में अपनाकर उसे उस दार्शनिक व्यवस्था का अंग बना दिया जिसकी मूल संकलपना यूनानी है। दोनों के समन्वय से बने प्रारूप में कोई बड़ा विरोधाभास नहीं हैं। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि दर्शन का ऐतिहासीकरण हो गया हैं एवं इतिहास वह क्षेत्र हो गया है जहाँ विश्वात्मा का वास्तविकीकरण हो जाता हैं। एक अर्थ में चरम सत्य का ऐतिहासिक विकास होता है। यह मानव और सत्य को स्थैतिक मानने वाली पूर्ववर्तिनी दार्शनिक अवधारणाओं से सर्वथा भिन्न विचार है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में हीगल ने इतिहास-दर्शन के विषय में व्याख्यान दिए जो विद्यार्थियों के नोट्स के रूप में प्रकाशित किए गए। अलग से ये व्याख्यान उसकी प्रमुख कृति के उपांग प्रतीत होते हैं। किन्तु उसके इतिहास-दर्शन के साथ रखने पर ये सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। हीगल ने दर्शन, सत्य के प्रेम, को ऐतिहासिक प्रकार से परिवर्तनशील देखा। उसके इतिहास-दर्शन के आलोचक यह आरोप लगाते है कि उसने अपने दार्शनिक प्रकारों को अपने इतिहास का निर्धारण करने दिया, किन्तु उसकी अन्य कृतियों में दार्शनिक इसके विपरीत बात प्राप्त करते हैं। स्पष्ट है कि हीगल दोनों के समन्वय का प्रयास कर रहा था।

इस पुस्तक में सम्मिलित हीगल के कुछ चुने हुये व्याख्यान उसकी स्थिति का निर्धारण कर देते हैं, अतः उनका यहां उल्लेख नहीं किया जायेगा। तथापि कुछ पर्यवेक्षण उसकी स्थिति को सन्दर्भ प्रदान कर सकते हैं। हीगल उन मूल प्रश्नों पर विचार करता है, जिन पर किसी भी परिकल्पनात्मक दर्शन को विचार करना चाहिए। यथा—

(१) चरम सत्य की प्रकृति, ऐतिहासिक प्रक्रिया की प्रकृति और उनके पारस्परिक सम्बन्ध;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) व्यक्ति का चरम सत्य तथा सामाजिक संस्थाओं विशेषकर राज्य से उसका सम्बन्ध ।

यहां हीगल द्वारा विश्वात्मा के लक्ष्य की प्राप्ति में इतिहास का उपयोग द्रष्टव्य है । अपने विश्व ऐतिहासिक व्यक्तित्वों पर विचार के संदर्भ में वह 'बुद्धि की चतुराई' की अवधारणा का विकास करता है जो मानव अभिप्राय के वावजूद कर्म करती है । आत्मा अपने को स्वातंत्र्य के रूप में अभिव्यक्त करता है । प्राचीन प्राच्य में मात्र राजा स्वतंत्र थे । क्लासिकल समय में केवल कुछ लोग ही स्वतंत्र थे । आधुनिक राज्य में सब स्वतंत्र है । किन्तु यह स्वातंत्र्य केवल राज्य की आज्ञा मानने में हैं ।

यहाँ अकस्मात हीगल और आगस्टिन के विचारों के समान्तरत्व की ओर ध्यान जाता है । हीगल में ईश्वर विश्वात्मा हो जाता है, रहस्यमय ढंग से कार्यरत भाग्य विवेक हो जाता है, और चर्च, जिसकी सेवा में मानव स्वतंत्र होता है, राज्य द्वारा स्थानान्तरित होता हैं । ईसाई आदर्शों के धर्मनिरपेक्षीकरण का यह एक उदाहरण है । हीगल का कहना है कि विश्वात्मा सदा अन्तरस्थ है, वह सदा ऐतिहासिक मन के सम्पर्क में रहता है । किन्तु अधिकांश इतिहासकार इसको स्वीकार करने में असमर्थ रहे हैं, वे उसके प्रणाली की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि उसमें दार्शनिक सत्यता को इतिहास पर आरोपित किया गया है । इतिहासविदों को हीगल की प्रणाली उतनी ही आपत्तिजनक प्रतीत होती है जितना कि परम्परागत ईसाई धर्म ।

इतिहास और दर्शन के समन्वय के द्वारा हीगल यह प्रस्थापित करता है कि सम्पूर्ण इतिहास विवेकपूर्ण है । यह अर्थपूर्ण अथवा, कम से कम, बोधगम्य है । इससे यह विश्वास पैदा होता है कि ईसाई विचार के समान इतिहास भी सही दिशा की ओर बढ़ रहा है । इससे उस योरोप को सान्त्वना मिली जो परम्परागत ईसाई धर्म में विश्वास बनाये रखते हुये क्रान्ति के प्रविदारण एवं आंतक से विपलायन में कठिनाई का अनुभव कर रहा था । हीगल के सशक्त स्वर से अर्थपूर्ण इतिहास की माँग करने वाले अशक्त स्वर को संबल मिला । किन्तु तार्किक दृष्टि से (और हीगल ने प्रमुखतया तर्क का सहारा लिया है) इस प्रकार की पूर्ण प्रणाली में निश्चयवाद सन्निहित है, यदि सब कुछ विवेक पूर्ण है तो आत्मा की सारवस्तु स्वतंत्रता कहाँ हैं ? हीगल कार्य करने की निरंकुश व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अपनी अवधारणा के अयोग्य मानकर अस्वीकार करता है । वास्तविक स्वतंत्रता समाज (राज्य) के सेवा की स्वतंत्रता है । इसके भी रोमांचकारी निहितार्थ हैं । इन कमियों के वावजूद हीगल को अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिये । सभी दार्शनिक प्रणालियां इसी प्रकार समस्याओं तक पहुंचती हैं । उसका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने दर्शन को इतिहास के सम्मुख किया ।

हीगल की सर्वाधिक ख्याति उसके द्वन्द्वात्मक विचारों के कारण है । इसके अनुसार सत्य का ज्ञान उसे उसके विपरीत के संमुखकरण से होता है, तर्क संगत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढंग से क्रियाशील मन एक विचार प्रस्तुत करता है, तदुपरान्त उसके विपरीत विचार से उसका विरोध कराने पर संश्लेषण अथवा संश्लिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु यह संश्लेषण नया पूर्व–पक्ष बन जाता है जिसको पुनः प्रतिपक्ष के संमुख करने से एक अन्य संश्लेषण बनता है और इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। सत्य की दिशा में इस प्रक्रिया का यह महत्व है कि कोई भी कदम अन्तिम नहीं हो पाता है, सदा अगले कदम को नव संश्लेषण की संभावना बनी रहती है। इसका यह अर्थ है कि मानव निरन्तर एक नया विचार स्वीकार करता है और एक नये कार्य की योजना बनाता है, जो सम्भवतः पूर्ण सत्य न हो। तथापि उसको उसे क्रियान्वित करना चाहिये और नव–संश्लेषण का मुकाबिला करने के लिये तैयार रहना चाहिये। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखने पर किसी भी विवाद में दोनों पक्षों की भूमिका का मूल्यांकन होना चाहिये। यहां सत्य का सापेक्षीकरण होता है और यहां हीगल इतिहासवाद के अति-निकट आ जाता है।

उन्नीसवीं सदी के योरोपीय मानस के इतिहासीकरण का एक अन्य पक्ष भी हैं। 1859 में डार्विन के 'ओरिजिन आफ स्पेसीज' में प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धान्त ने विज्ञान, अथवा, कम से कम, जीव-विज्ञान में भी ऐतिहासिक परिवर्तन की अवधारणा को प्रविष्ट करा दिया। यहां सम्पूर्ण मानव–ज्ञान के ऐतिहासीकरण की सम्भावना प्रकट हुई, परन्तु प्रतिक्रिया दूसरे प्रकार की हुई। विज्ञान की अतीव जनप्रियता के कारण इस नवीन अवधारणा से अधिकांश लोग इतिहास के विज्ञान होने की सम्भावना पर विचार करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अभिव्यक्त यह अन्तिम सशक्त स्वर था।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३

इतिहास अथवा सामाजिक विज्ञान

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में योरोपीय चिंतन में बड़े परिवर्तन हुए। यह यथार्थवाद का युग था जबकि वैज्ञानिक चिंतन पद्धति सर्वोपरि थी और सभी मानवीय अध्ययनों पर इसके प्रयोग के गम्भीर प्रयास भी किए जा रहे थे। इसी युग में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का गठन हुआ। कार्ल मार्क्स एक प्रमुख विचारक है जो इस नई प्रक्रिया का महत्वपूर्ण प्रतिनिधि कहा जा सकता है, साथ ही जो हीगल का प्रमुख उत्तराधिकारी भी है। हीगल के द्वन्द्वात्मक विचार को मार्क्स ने निस्संकोच ज्यों का त्यों स्वीकार किया। यह उपयुक्त ही है क्योंकि मार्क्स ने अपने भौतिकवादी दर्शन को हीगल के आदर्शवादी दर्शन के प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। मार्क्स का दावा था कि वह अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है और, उसके अनुसार, हीगल अपने सिर के बल खड़ा था। मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि विश्वात्मा से घनिष्ठ संबंध होने के कारण हीगल यथार्थवाद से दूर हट जाता है। वास्तव में ऐतिहासिक संदर्भ में मनुष्य को समझने के लिए 'उत्पादन तथा विनिमय' के साधनों को समझना आवश्यक है। मनुष्य पशु से उत्पादक के रूप में ही भिन्न है और अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का वह जिस तरह उत्पादन करता है इसी से सब कुछ का निश्चय होता है; उसके समाज का ढांचा व उसके विचारों का स्वरूप भी इसी बात पर निर्भर करता है। यह निश्चय ही हीगल के आदर्शवाद की विरोधी विचारधारा है। इस भौतिकवादी आधार से मार्क्स ने इतिहास लिखना प्रारम्भ किया और इसीलिए उसे इतिहास विभिन्न वर्गों के संघर्ष के रूप में दृष्टिगत हुआ। उसका यह दावा था कि बुर्जुआ पूंजीवादी ढांचा ढहने वाला है और सर्वहारावर्ग क्रान्ति के किनारे खड़ा है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के बाद एक कल्पित आदर्शवाद की स्थिति आयगी जबकि वर्ग रहित समाज होगा। यहां पुनः ईसाई चिन्तना में परिशुद्ध अवस्था तक ले जाने वाली इतिहास की रेखीय विकास-प्रक्रिया से संबंधित विचारों के साथ-साथ स्वरूपगत समानताएँ मिलती है। किन्तु हीगल की अपेक्षा धर्म-निरपेक्षता की भावना मार्क्स में कहीं अधिक है। यहाँ हीगल का ऋण स्पष्ट है। शास्त्र-व्यवस्था के रूप में मार्क्स की शास्त्र-व्यवस्था का कोई विशेष महत्वपूर्ण योगदान नहीं है। किन्तु मार्क्स का यह महत्व अवश्य है कि तब से अब तक कोई भी गंभीर इतिहासकार किसी भी मनुष्य या किसी भी समाज के उद्देश्यों से आर्थिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण को अलग नहीं कर सका है। जब से मार्क्स ने आर्थिक तत्त्वों का अन्य मानवीय तत्त्वों से अंतर्संबंध बताया तभी से अर्थशास्त्र की गणना समाजशास्त्र के रूप में की जाने लगी है।

मार्क्स और उसके साथी ऐंगल्स ने १८४८ में साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित किया। तत्पश्चात् वह अगले बीस वर्षों तक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपिटल' का कार्य करता रहा। उसका कहना है कि यह ग्रंथ मनुष्य और समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है। यह इस ग्रंथ की अभ्यर्थना का प्रमुख भाग है। राँके के उत्तराधिकारियों को भी इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। अपने गुरु के इस आन्दोलन में भाग लेते हुए भी इन लोगों ने कुछ अंश तक ही इसे अपनाया। इन्होंने अपने को वैज्ञानिक इतिहासकार समझा और जर्मनी के बाहर इन लोगों का बहुत प्रभाव पड़ा। यह आन्दोलन इस सरल मान्यता पर आधारित था कि रांके ने जिस आलोचना पद्धति को सिखाया वह सच में वैज्ञानिक पद्धति थी और इसे अपनाने से भूत 'यथार्थ में कैसा था' इसका वर्णन सम्भव होगा। किन्तु यहीं से इतिहास स्पष्ट रूप से एक व्यवसाय की तरह भी शुरू होता है। इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में ऐतिहासिक पत्रिकाएँ निकलने लगीं और प्रत्येक का यह आग्रह था कि उनमें वैज्ञानिक इतिहास लिखा जा रहा है। इंगलैंड में रांके की पद्धति की भूमिका लार्ड ऐक्टन ने बनायी जिन्होंने दक्षिण जर्मनी में शिक्षा प्राप्त की थी और जो १८९५ से कैम्ब्रिज में आधुनिक इतिहास के प्रोफेसर बने। उनका वैज्ञानिक इतिहास-पद्धति में विश्वास अच्छी तरह इस बात से दर्शाया जा सकता है कि उन्होंने आधुनिक-कैम्ब्रिज-इतिहास योजना बनाई जो १२ भागों में १९०२ से १९१० के बीच पूरी हुई। उनके विचार पुस्तक के विभिन्न अध्यायों के लेखकों को लिखे गए पत्रों में झलकते हैं जिनमें उन्होंने इन लेखकों द्वारा अपने लेखन में अपनाये जाने वाले सिद्धांतों की स्थापना की थी। यद्यपि १९वीं शती के अन्त तक क्रांतिकारी बौद्धिक विकासों के कारण योरोप के बौद्धिक धरातल पर मूलभूत परिवर्तन हो गए थे तथापि अंग्रेज विचारक अपने पुराने विश्वासों से जुटे रहे। जे० बी० ब्यूरी, जो १९०२ में लार्ड ऐक्टन के स्थान पर नियुक्त हुए, ने अपने उद्घाटन भाषण में वैज्ञानिक इतिहास के महत्व पर पुनरावलोकन किया। विज्ञान से उसका अभिप्राय निर्वैयक्तिकता तथा अपरिवर्तनीय पद्धति से था। और उसने प्राकृतिक विज्ञान तथा मानवीय इतिहास के अध्ययन में निहित सैद्धान्तिक नियमों की अभिन्नता का आग्रह नहीं किया। वैज्ञानिक इतिहास का यह विचार, जो कि विज्ञान तथा इतिहास दोनों के स्वरूप के अशुद्ध बोध पर आधारित था, अस्थायी सिद्ध हुआ। यह १९ वीं सदी के योरोप के इस विश्वास की उपज था कि इसी से उन्हें ज्ञान की कुंजी हाथ लग गई है। इस विश्वास के परिणामस्वरूप कुछ अच्छा इतिहास भी लिखा गया किन्तु इसके दार्शनिक आधार दुर्बल थे। इनसे रांके के अपूर्ण बोध का प्रतिनिधित्व होता था।

१९वीं शती के अन्त तक योरोप बौद्धिक क्षेत्र में उद्वेलित हो रहा था। आज जिन विषयों को हम सामाजिक विज्ञान की संज्ञा देते हैं उनका गठन इसी युग में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ। वैज्ञानिक पद्धति का मानवीय अध्ययन में प्रयोग गहरे प्रयास का परिणाम कहा जा सकता है। मार्क्स से इस प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। किन्तु यहां हमारे विचार के लिए सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति विल्हेल्म डिल्थे (१८२३-१९११) है। डिल्थे ही वह व्यक्ति था जिसने रांके के ऐतिहासिक तत्त्व को गंभीर रूप में लिया और इतिहास को वास्तव में सामाजिक विज्ञान बनाने की चेष्टा की। डिल्थे रांके को बर्लिन से जानता था और वह इस बात को स्वीकार करता था कि इतिहास विशिष्ट घटनाओं की कहानी है तथा यह कि उसमें प्रत्येक युग का अपना महत्त्व होता है। रांके के अन्य अनुयायी प्रायः विशिष्ट घटनाओं की पुनर्रचना से ही संतुष्ट हो गए थे जबकि डिल्थे ने रांके के अन्य सिद्धांतों के निहित अर्थों को ढूँढा। क्या किसी प्रदत्त युग का अर्थ इसके बाहर नहीं ढूँढा जा सकता है? क्या यह अर्थ इस युग के अन्दर ही संभव है? और यदि संभव है तो कैसे? रांके एक अभ्यासी इतिहासकार था। अपने चिंतन में उसने सबसे अधिक ध्यान आलोचनात्मक विधि को परिशुद्ध बनाने पर रखा। अपने प्रलेखों का उपयोग करते समय उसे भूत के वर्णन का संतोषजनक माध्यम मिला। किन्तु वह कोई दार्शनिक नहीं था जिसे ऐतिहासिक चिंतन में उपयोगी उपयुक्त विधि की प्राप्ति में अथवा चिंतन की अन्य प्रणालियों से इसकी तुलना में रूचि हो। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विको द्वारा प्रस्तुत विधि में प्राकृतिक विज्ञान के समान ही परिष्कृत, किन्तु उनसे पर्याप्त भिन्न, एक नए विज्ञान के मानदण्डों के संस्थापन के दावे को डिल्थे के पूर्व कोई भी उत्तराधिकारी नहीं मिला।

4619.

दुर्भाग्य से डिल्थे की वह रचना अपूर्ण ही रह गयी जिसे वह ऐतिहासिक ज्ञान की समीक्षा के रूप में प्रस्तुत करना चाहता था। हमें उसकी कृति के कुछ अंश मिले हैं और उन अंशों के भी कुछ भाग ही अंग्रेजी में उपलब्ध हैं और वह भी कुछ ही दिनों से। अब हम डिल्थे की तीन महत्वपूर्ण मान्यताओं की व्याख्या करेंगे :—

(१) इतिहास समस्त मानवीय अध्ययनों के सूत्र के रूप में :—

सर्व प्रथम डिल्थे ने प्रकृति के अध्ययन और मनुष्य के अध्ययन अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान और मानवीय विज्ञान में अन्तर स्पष्ट किया। इस संबंध में उसकी तथा विको की मान्यता में सादृश्य है। मनुष्य प्रकृति के अध्ययन की अपेक्षा मनुष्य तथा उसकी कृतियों का अध्ययन अधिक स्पष्ट तथा अधिक लाभप्रद रूप में कर सकता है। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह (समय-प्रक्रिया में) युग विशेष में ही रहता है। इतिहासकार इस मनुष्य का अध्ययन करता है। डिल्थे की रुचि मनुष्य के सार्वकालिक कार्य व्यापारों तथा कृतियों में थी। उसका यह निष्कर्ष था कि, यदि इसका भलीभांति अध्ययन किया जाय तो, इतिहास द्वारा ही मनुष्य को समझने का सूत्र प्राप्त होता है। अर्थात् उसका यह कहना है कि ज्ञान के दो मार्ग हैं— प्रकृति के ज्ञान के लिए विज्ञान और मानव संबंधी ज्ञान के लिए इतिहास। मनुष्य का प्रामाणिक अवबोध प्रदान करने का दावा करने वाली अन्य शिक्षा-शाखाओं के समसायिक विकास के परिप्रेक्ष्य में यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहसिक अभिकथन और भी महत्वपूर्ण हैं। डिल्थे के अनुसार इतिहास ही इस प्रकार के ज्ञान का एकमात्र स्रोत है क्योंकि मनुष्य (अथवा संस्था अथवा समाज), जिसका अध्ययन अभिप्रेत है, एक जीवन प्रक्रिया के बीच में स्थित है, वह स्थिर नहीं है, और साथ ही इतिहासकार भी, जो कि द्रष्टा है तथा इतिहास का अध्ययन और लेखन कर रहा है, वह भी समान रूप से जीवन प्रक्रिया के बीच में स्थित है। मनुष्य मूलतः ऐतिहासिक जीव है।

(२) आत्मप्रकाशनीय वस्तु के रूप में जीवन (और इतिहास) का अर्थ—

डिल्थे का विश्वास था कि जीवन अर्थपूर्ण है। किन्तु इसका कोई बाह्य अर्थ नहीं है, वैसा नहीं जैसा कि ईसाईयों ने ईश्वर या यूनानियों ने भाग्य अथवा हीगल ने तर्क के साथ जोड़ा है। यह तो स्वयं में ही अर्थपूर्ण है। इस अर्थ की किसी अमूर्त रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रत्येक युग का अपना अर्थ ही मानव मस्तिष्क द्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तु-चाहे धर्म हो या तकनीकी-ज्ञान, काव्य-रचना हो अथवा पेड़ काटना—के अंतर्सबंधों को व्यक्त करता है। मनुष्य अपने 'मस्तिष्क से प्रभावित' विश्व की स्वयं रचना करता है। 'साथ रहने की प्रवृत्ति' (रांके के शब्दों में 'तुत्सामेनहंग') ही अर्थपूर्णता है। डिल्थे इस विचार का श्रेय वोल्तेयर को देता है कि संपूर्ण युग समजातीय होता है। हमने इतिहासकार का संदर्भ से संबंध बताते हुए इसकी चर्चा की थी। समय में विकास के प्रति रुचि भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। डिल्थे इसे हर्डर से संबद्ध करता है। युग का निर्माण बीते हुए युग के ऊपर होता है अतः वर्तमान भूत से संबद्ध है और अर्थपूर्ण ढंग से संपूर्ण भूत को अपने में समेटे हुए है। यही कारण है कि इस अंतर्सबंध को समझ कर ही मनुष्य सही अर्थ को समझ सकता है। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया का मूलभूत धर्मनिरपेक्षीकरण है। इसका अर्थ भी पूर्णतया अपने आपमें व्यक्त है जिसका बाहर से कोई संबंध नहीं।

(३) इतिहास के अध्ययन के संबंध में डिल्थे एक मुख्य अध्याय जोड़ता है जिसे 'ऐतिहासिक ज्ञान के स्वभाव' की संज्ञा दी जाती है। ऐतिहासिकता का यह नया आयाम है जो आज भी इतिहास दर्शन की प्रमुख समस्या है। रांके ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। पिछली दर्शन-शाखाओं ने बाह्य मूल्यों और सिद्धान्तों को लेकर ही इसका उल्लेख किया था। डिल्थे ने इस समस्या का इतिहासवाद के एक अंश के रूप में समाधान किया। ऐतिहासिक वास्तविकता व्यक्ति तथा व्यक्तियों द्वारा निर्मित विश्व के बीच की अंतर्क्रिया है (डिल्थे के अनुसार इतिहास में व्यक्ति प्रमुख मूल्य है, एक मूलभूत इकाई है)। ऐतिहासिक विश्व मस्तिष्क–प्रभावित अथवा मस्तिष्क–निर्मित विश्व है। अतः इतिहास की विषय-वस्तु वह सब कुछ है जो मनुष्य ने किया है। ये मस्तिष्क की अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें डिल्थे निर्वैयक्तिक कहता है। इनकी रचना मस्तिष्क से होती है किन्तु बाद में इनका अपना अस्तित्व बन जाता है। इनका विस्तार मुखभावों से लेकर वैधिक संग्रहों तक होता है। मन की इन निर्वैयक्तिक अभिव्यक्तियों से ही किसी युग का निर्माण होता है। किसी समयविशेष से संबद्ध इन अभिव्यक्तियों के योग में इस समय की आत्मा का प्रदर्शन होता है। इनकी अंतर्सबद्धता ही अर्थपूर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समष्टि को बनाती है। मनुष्य के मस्तिष्क की ही उपज होने पर भी ये निर्वैयक्तिक सत्ताएं अपने में तथा अपने साथ रहने वाले मनुष्यों को भी प्रभावित करती हैं। इतिहासकार का कार्य इस मस्तिष्क से प्रभावित विश्व को समझना है। यह संभव है क्योंकि मनुष्य समान रूप से मस्तिष्क से प्रभावित विश्व में ही रहता है। अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए डिल्थे आत्म जीवनी की व्याख्या करता है जिसे वह मनुष्य द्वारा अपने अतीत को समझने का प्रयास कहता है। अतीत में स्थित महत्वपूर्ण वस्तुओं की स्मृति, संस्मरण पत्र, दैनन्दिनी उसके मस्तिष्क की अन्य अभिव्यक्तियों में सम्मिलित हैं। इस प्रकार वह अपने भूत को समझने में सफल होता है। आत्म जीवन का यह सिद्धान्त–जो कि व्यक्तिगत स्मृतियों के स्थान पर तथ्यों से पुष्ट होता है—तथ्यों पर आधारित होने से यह निर्वैयक्तिक भी हो जाता है। जीवनी के विस्तरण द्वारा हमें डिल्थे के ऐतिहासिक अध्ययन के विचार को समझना है। उपरोक्त चयन स्वयं में पूर्ण नहीं है किन्तु ये, कम से कम, डिल्थे ने जीवन के अर्थ को ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा समझने का जो प्रयास किया उसका कुछ आभास तो अवश्य देते हैं।

डिल्थे के इतिहासवाद के विकास संबंधी चिंतन में निहित अर्थ की व्याख्या आज तक निरंतर की जा रही है। वह पहला व्यक्ति है जिसने इस प्रश्न को उठाया कि ऐतिहासिक ज्ञान का निश्चित स्वरूप क्या है। यह इतिहासकारों द्वारा अब तक विकसित कार्यविधि के सामान्य प्रश्न–इतिहास लेखन का प्रश्न—से कुछ और अधिक है। जैसा कि हम देख चुके हैं इसे परिपक्व रूप तो रांके ने दिया। उपरोक्त नये प्रश्न की क्रोचे, कालिंगवुड तथा हाल में विश्लेषणात्मक दार्शनिकों द्वारा विस्तृत व्याख्या होनी थी। अन्त में डिल्थे विको की ऐतिहासिक पद्धति के विशिष्ट स्वरूप के प्रश्न को लेता है और यह कहने का प्रयत्न करता है कि इतिहास आत्मप्रकाशकीय है। अतीत के प्रति हर्डर की संवेदना की अवधारणा की व्याख्या इस रूप में की जाती है कि सम्पूर्ण इतिहास मन की अभिव्यक्तियां है। रांके के प्रलेखों के परिष्कृत उपयोग को उनकी बोधगम्यता के गंभीरतर संदर्भ में रखा जाता है क्योंकि इसमें निर्वैयक्तिक रूप से तथ्य पाये जाते हैं जिनके द्वारा मनुष्य स्वयं को और सम्पूर्ण मानव को समझ सकता है।

यह विचार कि 'मस्तिष्क-प्रभावित' शब्द में निर्वैयक्तिकता निहित है इतिहास में एक भिन्न चिन्तन पद्धति को उपलक्षित करती है; इस विचार को एक विशेष अर्थ में वैज्ञानिक कहा जा सकता है। यह उस सतही विचार का अतिक्रमण करता है कि विज्ञान एक अनुभवसिद्ध पद्धति है और विज्ञान में एकमात्र पर्यवेक्षण ही प्रमुख है और इसके नियम पर्यवेक्षण पर ही आधारित हैं। इस शताब्दी के अन्त तक प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही यह अनुभव किया जाने लगा कि यह पद्धति इतनी सरल नहीं है। पोइंकेर के अनुसार वैज्ञानिक एक प्राक्कल्पना से प्रारंभ करते हैं और वैज्ञानिक ज्ञान तथ्य और चिंतन के बीच निरंतर अंतक्रिया है। साथ ही मात्र भौतिक कार्य–कारण के विचार की सीमाएं भी स्वीकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की जाने लगीं। सापेक्षता तथा प्रमात्रा के सिद्धांत प्राकृतिक विज्ञान को, १९ वीं शती में इसकी जो कल्पना थी, उससे कहीं जटिल बना देते हैं। डिल्थे व्यापक भौतिक क्रान्ति से प्रभावित था। इस क्रान्ति में प्राकृतिक विज्ञान की स्वीकृत जटिलताएँ इस निश्चय कथन से संगत बैठती थीं कि मानविकी विज्ञान भी संभव है।

१८७० से प्रथम विश्व युद्ध के वर्षों से ही सामाजिक विज्ञान के विषयों का समारंभ होता है। ये इस विश्वास पर आधारित हैं कि मानव जीवन की व्याख्या निर्वैयक्तिक और व्यवस्थित प्रणाली से की जा सकती है। मार्क्स ने दृढ़ विश्वास के साथ लिखा तथा उसने अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों के विकास को प्रभावित किया। मैक्स वेबर ने आदर्श प्रकारों की अवधारणा का प्रतिपादन किया। यदि मनुष्य का संपूर्ण रूप में सरलता से अध्ययन नहीं किया जा सकता है तो मानव अस्तित्व के विभिन्न वर्गों को समष्टि से निकाल कर अलग-अलग समझा जा सकता है। इस प्रकार से मनुष्य के आर्थिक पक्ष को अलग किया जा सकता है और मनुष्य का आर्थिक-जीव के रूप में—अर्थात् जब वह आर्थिक कारणों से प्रभावित हो कर कार्य करता है—अलग से अध्ययन किया जा सकता है। इसी तरह सत्ता के लिए मनुष्य की क्षुधा राजनीति में व्यक्त होती है और उसका अलग से अध्ययन किया जा सकता है (जैसे कि मेकियवेली ने 'दी प्रिंस' में तथा कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में किया है) किन्तु इन्हें मनुष्य का मनुष्य के रूप में विवरण न मानकर अपितु केवल अंशिक मनुष्य का विवरण मानना चाहिए। वेबर ने मनुष्य को उसकी संपूर्णता में समझने में जो बाधा है उसका यह समाधान दिया। किन्तु एक गंभीर प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि क्या मनुष्य इन विभिन्न भागों का योगमात्र है। इतिहासवादी इससे असहमत हैं।

वेबर की मुख्य रुचि समाज शास्त्र में थी जिसमें मनुष्य का सामाजिक जीव के रूप में अध्ययन किया जाता है। यह मनुष्य को उसके सामाजिक अस्तित्व तथा उसकी संपूर्ण अंतर्सम्बद्धता में समझने के प्रयास के रूप में इतिहास के सबसे निकट है। इस दिशा में भी मार्क्स ने प्रोत्साहन दिया था। उसने मनुष्य की परिभाषा वर्गों के आधार पर की और यह दावा किया कि मनुष्य वर्ग के सदस्य की तरह सामूहिक रूप से कार्य करते हैं और उनके समान मूल्य होते हैं। मनुष्य का समाज के सदस्य के रूप में अध्ययन का यह प्रयास एक सीमा तक इतिहासकार भी करते हैं। इसी सादृश्य के कारण इतिहास और समाजशास्त्र एक दूसरे का अतिव्यापन करते हुए दृष्टिगत होते हैं और वस्तुतः जर्मनी में इतिहास ही समाजशास्त्र बन जाता है। इस प्रसंग में प्रतिमान ढूँढें जाते हैं तथा किसी विशेष सामाजिक परिवेश में मनुष्य के कार्य व्यापार के विषय में सामान्यीकरण की चेष्टाऐं की जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से कम सीमित हैं क्योंकि किसी एक पक्ष को यह पूर्ण अस्तित्व से उतना अलग नहीं करता जितना अर्थशास्त्र या राजनीति करते हैं। समाज में सभी का समावेश होता है और मनुष्य का अस्तित्व समाज के बाहर नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपरोक्त विवरण हमें डिल्थे तथा उसके योगदान के तीसरे निहतार्थ के निकट पहुँचाता है। वह मानव (सामाजिक) विज्ञान के निर्माण का भी प्रयास कर रहा था किन्तु वह इसमें असफल रहा। वह अपने प्रस्तावित ग्रंथ को कभी पूरा नहीं कर सका और इतिहास की स्थापना अन्य उपरोक्त विषयों के समान सामाजिक विज्ञान के रूप में नहीं हुई। वेबर के समाधान को स्वीकार करने पर इतिहास में मनुष्य का ऐतिहासिक जीव के रूप में अध्ययन होता है अर्थात् उस मनुष्य के रूप में जो कि समय की प्रक्रिया में है। परन्तु समस्या यह है कि इसमें सभी कुछ का समावेश हो जाता है। इतिहास समाजशास्त्र की तरह मनुष्य को सामाजिक अंतर्सँवन्धों के साथ ही नहीं देखता अपितु उसको भी समय के प्रवाह में रखकर निरंतर परिवर्तनशील विकास में भी देखता है। समाजशास्त्री यह कह सकता है कि अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री मनुष्य को कुछ ही अंशों में देखते हैं किन्तु इतिहासकार समाजशास्त्री की भी यह आलोचना करता है। समाजशास्त्री मनुष्य को समय के प्रवाह से अलग करके देखता है,वह समय को स्थिर कर देता है—और यही कारण है कि यह अध्ययन यथार्थ से दूर हो जाता है—मनुष्य समय के प्रवाह में जीता है और उसके जीवन का निष्कर्ष यही है कि वह गतिशील है। मनुष्य ऐतिहासिक है और इतिहास मनुष्य का अध्ययन है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि डिल्थे सफल नहीं हो सका। वह मनुष्य के एक पक्ष तक ही अपना अध्ययन सीमित करता—यह सम्भव नहीं था और साथ ही वह पूर्ण को नहीं पकड़ पाया। कहने का यह अभिप्राय नहीं कि उसका प्रयास त्रुणिपूर्ण था। उसने प्राकृतिक और मानवीय विज्ञान के बीच जो मूलभूत अन्तर बताया वह उचित था। यह भी ठीक है कि उसने इतिहास को निर्वैयक्तिक अध्ययन बनाने की चेष्टा की। आधुनिक इतिहास का विकास प्राकृतिक विज्ञानों के साथ हुआ है, तथा इसने सदैव ठोस अविकार्य तथ्यों में रुचि रखी है। इतिहास कल्पना नहीं है, इतिहास की पुस्तक उपन्यास से भिन्न है। यह 'वास्तव में क्या घटा' इसे समझने का प्रयास है। इसे एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता की प्राप्ति का प्रयास कहना चाहिए।

इस महान् बौद्धिक क्रान्ति ने—डिल्थे भी जिसका एक भाग था—१९ वीं शताब्दी के योरोप की सरल मान्यताओं को चुनौती दी। प्रकृति अब विवरणीय नहीं रही और मनुष्य की क्रियाओं को अब संदेहपूर्ण तथा प्रश्न सूचक ढंग से देखा जाने लगा। मार्क्स ने यह सुझाया कि मनुष्य के विचारों और क्रियाओं को आर्थिक संदर्भ में समझना चाहिये और फ्रायड ने इससे आगे यह कहा कि सदैव कोई निश्चित कारण इन क्रियाओं के साथ नहीं होता अपितु मनुष्य कई ऐसे कार्य करता है जिसका निर्देश उसे अपने अचेतन से मिलता है और वह स्वयं अपने उन कार्यों को नहीं समझ पाता। मनुष्य के कार्यों का वर्णनमात्र अब अर्थपूर्ण नहीं रहा। पाश्चात्य मनुष्य ने विश्लेषण के युग में प्रवेश किया जहां निहित उद्देश्यों को ढूँढा जाने लगा और जहां ऊपरी अर्थों के सामने प्रश्नसूचक चिन्ह दिखने लगे। इससे १९ वीं शताब्दी के आत्मविश्वास को गहरा आघात पहुँचा तथा इसने इस मान्यता को भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिला दिया कि पाश्चात्य मनुष्य धीरे-धीरे निरन्तर संस्कृति के उच्चतर स्तर पर पहुँच रहा है। साथ ही जब एशियाई देश जापान ने १६०४ में रूस को पराजित किया तो यह विश्वास भी हिल गया कि योरोप की शक्ति सर्वोपरि है। योरोप में ही वियना कांग्रेस के द्वारा स्थापित व्यवस्था में संकट पैदा हो गया। विस्मार्क की संधि-व्यवस्था के दुर्गुण स्पष्ट दीखने लगे। शेष आशावाद को प्रथम विश्वयुद्ध ने छिन्न-भिन्न कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४

बीसवीं शताब्दी

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक शैक्षणिक अनुशासन एव लोकप्रिय साहित्य के रूप में इतिहास का प्रभुत्व उतना नहीं रह गया था जितका कि पिछली शताब्दी में था। डिल्थे का स्वप्न साकार न हो सका, क्योंकि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों ने मनुष्य के अध्ययन के प्रति अपना पृथक् योगदान दिया तथा इतिहास का इन नए विषयों से सम्बन्ध अनिश्चित रहा। स्वयं इतिहास के भीतर रांके द्वारा जोड़ी गई विभिन्न लड़ियाँ विश्रृंखलित हो गयीं। विषय की विभिन्न शाखाओं में योगदान दिए गए, परन्तु किसी को भी सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। इतिहासज्ञों का सबसे बड़ा वर्ग अभी तक रांके को अपना गुरु मानता रहा है तथा इतिहास को एक वैज्ञानिक अनुशासन के नाम से सम्बोधित करता रहा है। ऐतिहासिक पत्रिकाओं में छिटफुट प्रमाणों के आधार पर गौण विषयों से सम्बन्धित लेख छपते रहे। अधिकांश शोध प्रबन्ध अब भी अतीत के गौण अध्यायों पर केन्द्रित होते हैं तथा इसके औचित्य के लिए रांके के इस सिद्धांत की दुहाई दी जाती है कि इतिहास के सब क्षण सामान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस वर्ग के इतिहासकार अपने कार्य के सम्बन्ध में सभी सैद्धांतिक अथवा परिकल्पनात्मक प्रश्नों से बचते हैं तथा इनमें से प्रत्येक इतिहासकार यह सन्तोष अनुभव करता है कि वह अपनी ओर से एक ईंट विश्व-इतिहास रूपी भवन के निर्माण में लगा रहा है। विश्वविद्यालयों में लोग इस धारणा से सहमत हैं कि इतिहास को–जो कि मानव के अध्ययन के प्रति अपना पृथक् योगदान अर्पित करता है—विभिन्न अनुशासनों में से एक समझा जाये। चूंकि इतिहासकारों की यह शाखा कठिन प्रश्नों से बचती है तथा एक साधारण शोध प्रणाली का प्रयोग करती है जिसको कोई भी थोड़े से परिश्रम से सीख सकता है, अधिकांश द्वितीय श्रेणी के इतिहासकार इस वर्ग में सम्मिलित होते हैं। उनकी प्रवृत्ति कम से कम के बारे में अधिक से अधिक जानने की होती है तथा वे किसी भी सहकर्मी को उस समय तक एक सीमित विशेषज्ञ समझते हैं जब तक कि वह अन्य विशेषज्ञों के विशेष अध्ययन क्षेत्र में पदार्पण नही करता। प्राय: वे वस्तुओं का वास्तविक रूप भी प्रकट करते हैं। यूनानी इतिहास-लेखन के समय से ही इतिहासकार कल्पित मान्यताओं को तोड़ने, उच्च आदर्शों की पृष्ठभूमि में साधारण सांसारिक कारणों को खोजने, महान् मनुष्यों में दोष देखने तथा अच्छी प्रकार बनाई गई योज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाओं की असफलता को बताने में विशेष आनन्द का अनुभव करते रहे हैं। यह सब अतीत को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने के नाम पर किया जाता है।

इस प्रकार के इतिहास का सरलता से उपहास किया जा सकता है, किन्तु हम इसे पूर्ण रूप से महत्वहीन भी नहीं समझ सकते। प्रथम श्रेणी के कुछ इतिहासकार भी इस वर्ग के सदस्य हैं तथा वे यह दावा करते हैं कि उन्होंने अतीत को प्रस्तुत करने में महत्पूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इस विचार-धारा का सबसे महत्वःपूर्ण प्रतिनिधि लुइ नेमियर है। 18 वीं शताब्दी में ब्रिटेन की राजनीति के अध्ययन के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उस समय सभी महत्वपूर्ण विषयों पर संसद द्वारा निर्णय लिए जाने का आधार कोई सिद्धांत अथवा मान्यता न होकर संसद सदस्यों की आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि तथा उनके अन्य संसद सदस्यों के साथ सम्बन्ध थे। नेमियर के सुझाव पर सभी संसद-सदस्यो के बारे में विस्तृत जीवन आंकड़े एकत्रित करने के लिये एक विशाल ऐतिहासिक अनुसंधान-परियोजना स्थापित की गई है। इस प्रस्तावित परियोजना के कारण नेमियर पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने इतिहास को विवेकहीन कर दिया है। नेमियर का प्रत्युत्तर यह है कि मनुष्यों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का अपना एक इतिहास होता है, जिसके अनुसार उनका विकास होता है, और फिर पर्यावरण की जानकारी द्वारा मनुष्य का अध्ययन सम्भव है।

इस वर्ग के इतिहासकारों के अनुसार अतीत के इतिहास में कोई क्रमबद्धता नहीं है। इस क्रमबद्धता के अभाव में किसी क्षेत्र अथवा कालविशेष का इतिहास लिखने के लिए विविध विवरणों को जुटाना वास्तव में कठिन है। इस कठिनाई का नेमियर द्वारा प्रस्तावित समाधान यह है कि अनुसंधान-परियोजना का गठन किया जाए जिसके अधीन कई विद्वान् सामूहिक रूप से कार्य कर सकते हैं। परन्तु आधुनिक विषयों के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री के बाहुल्य को देखते हुए, इनके अध्ययन के लिए यह पद्धति भी अपर्याप्त हैं। पठनीय परिणामों को लिखना स्वयं में एक बड़ी समस्या है। मानव के अध्ययन में संलग्न एक इतिहासकार के सम्मुख यह एक बड़ी चुनौती है। यदि यह मान भी लिया जाए कि अतीत के इतिहास में कोई क्रमबद्धता नहीं है तथा किसी प्रकार का सामान्यीकरण नहीं दिया जा सकता है, फिर भी संकीर्ण अध्ययन किस प्रकार मानव के विषय में जानकारी प्राप्त करा सकता है? एलन बुलक ने अपने एक लेख में एक सुन्दर सुझाव रखा हैं। उसके इस सुझाव के अनुसार, एक ऐसे इतिहासकार का, जो जीवन पर्यन्त अतीत के किसी कालविशेष का अध्ययन करता है, मनुष्य के विषय में ज्ञान उस इतिहासकार के ज्ञान से किसी प्रकार कम नहीं होगा जो कि विश्व-इतिहास लिखता है। किसी घटनाविशेष के गहन अध्ययन से मानव की दशा के सम्बन्ध में वही अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है जो अनेक घटनाओं के अध्ययन से प्राप्य है।

विशिष्ट के इस महत्व को इतिहास का प्रमुख कार्य समझना, मूल्यों अथवा मान्यताओं की उपेक्षा करना तथा किसी प्रणालीविशेष को श्रेष्ठता के स्तर तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकसित कर उससे सन्तुष्ट हो जाना, इतिहासवाद का एक सतत उल्लंघन है। ऐतिहासिक ज्ञान के स्वरूप को परिभाषित करने तथा मानव-विज्ञान के लिए एक सुदृढ़ आधार स्थापित करने की सम्भावना का गवेषण करने का प्रयास डिल्थे के पश्चात् दो दार्शनिक-इतिहासज्ञों ने किया है। वे हैं इटली के बेनेदित्तो क्रोचे तथा इंगलैण्ड के आर. जी. कालिंगवुड। दोनों के अनुसार ऐतिहासिक ज्ञान मानव संबंधी ज्ञान का स्रोत है, किन्तु वे इसके प्रति बहुत आशावान नहीं हैं क्योंकि इसके लिये यथार्थवादी ज्ञान आवश्यक है।

क्रोचे के अनुसार ऐतिहासिक ज्ञान मानव में ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ रूप है तथा यह दर्शन में विलीन हो जाता है। विको तथा डिल्थे का अनुसरण करते हुए वह कहता है कि मनुष्य प्रकृति के परिमण्डल की अपेक्षा स्वयं अपने परिमण्डल को अधिक गहराई से समझ सकता है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक ज्ञान के सापेक्षतावाद तथा इससे वैज्ञानिक ज्ञान के यथार्थवादी स्वरूप के पार्थक्य पर बल देकर वह ऐतिहासिक ज्ञान की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार यह एक दुर्बलता न होकर एक शक्ति है। एक प्रसिद्ध वाक्यांश में वह कहता है, "सम्पूर्ण इतिहास वर्तमान इतिहास है।" इससे तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्तमान अतीत को अपनी दृष्टि से देखता है तथा अतीत को उस रूप में नहीं देखता जिसमें वह था। अतीत का निर्माण इतिहासकार के मस्तिष्क में होता है। क्रोचे तथा विज्ञानवादी इतिहासज्ञों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने की सम्भावना बहुत कम है। जिस वस्तु को डिल्थे ने बनाए रखने का प्रयत्न किया था, उसे क्रोचे ने बड़ी सरलता से त्याग दिया। उसके द्वारा प्रतिपादित इतिवृत्त तथा इतिहास के मध्य भेद कम से कम इतिहासज्ञ की कई समस्याओं में से एक का स्पष्टीकरण कर देता है। इतिवृत्त रूपी ढांचे पर निर्वचन का मांस लगाकर इतिहासकार को इसे इतिहास का रूप प्रदान करना चाहिए।

इसी प्रकार कालिंगवुड की भी मान्यता है कि इतिहास एक अद्वितीय प्रकार का ज्ञान है तथा यह मानव के सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। वह बीसवीं शताब्दी के ब्रितानी दर्शन में एकाकी व्यक्तित्व है तथा उसकी इतिहास पर कृति भी उसकी पार्थक्य की भावना से दुष्प्रभावित है। 'दी आइडिया आफ हिस्ट्री' नामक उसका महान् ग्रन्थ १९ वीं शताब्दी के वैज्ञानिक लक्ष्यों की आलोचना से परिपूर्ण है। उसके अनुसार ऐतिहासिक अध्ययन में जो भी दोष हैं, वे सब प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों के अनुकरण के कारण हैं। इस कृति के ऐतिहासिक खण्ड में यह विज्ञानवाद (जिसे वह प्रत्यक्षवाद कहता है) मतिभ्रंश के रूप में दिखाई पड़ता है। यह उसकी कृति को अऐतिहासिक बनाता है क्योंकि वह पिछली शताब्दी की विचारधारा को समझने में असमर्थ है तथा वह स्वयं–निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर अतीत का मूल्यांकन करता है। कालिंगवुड का अधिक महत्वपूर्ण योगदान उसके ग्रन्थ के उपसंहार में है जहां वह ऐतिहासिक ज्ञान की अपनी परिभाषा की व्याख्या करता है। न डिल्थे ने और न ही क्रोचे ने इसके समान कोई सुव्यवस्थित कृति लिखी है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(किन्तु यह भी मरणोपरान्त प्रकाशित हुई है) । यहाँ उद्धृत भाग बहुत सुन्दर ढंग से यह चित्रित करता है कि कालिंगवुड का एक अद्वितीय एवम् स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में इतिहास से क्या तात्पर्य है ।

कालिंगवुड सम्भवतः अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध वाक्यांश में कहता है "सम्पूर्ण इतिहास विचारधाराओं का इतिहास है" और इस प्रकार वह मानव के अध्ययन की विलक्षणता पर बल देता है । मनुष्य के कार्य विचारपूर्ण होते हैं (मार्क्स तथा फ्रायड के होते हुए भी) तथा इतिहासकार ऐतिहासिक अभिनेता के विचारों की पुनरावृत्ति कर अतीत का पुनर्निर्माण करता है । क्रोचे की भांति कालिंगवुड भी डिल्थे की यथार्थवादी विचारधारा का महत्व कम करता है । क्रोचे तथा कालिंगवुड दोनों ही इतिहास में वैज्ञानिक विचारधारा के प्रयोग की अवांछनीयता के प्रति इतने अधिक सचेत हैं कि वे १६ वीं शताब्दी के अन्त में मानवीय अध्ययन के प्रति किए गए योगदानों को स्वीकार नहीं कर पाते । इतिहासवाद की दो शाखाओं की इन प्रशाखाओं ने इतिहास के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूपों के प्रति कोई विशेष योगदान नहीं दिया है । १६ वीं शताब्दी की एक अन्य विशेषता सुनियोजित विश्व-इतिहास लिखने के प्रयत्न थे । बीसवीं शताब्दी के दो लोकप्रिय तथा प्रभावशाली ग्रन्थों में भी इस प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । परन्तु इन ग्रन्थों ने सामान्य इतिहासकार को प्रभावित नहीं किया है । ये ग्रन्थ हैं ओसवाल्ड स्पेंगलर का 'डिक्लाइन ऑफ वेस्ट' तथा आरनल्ड टॉयनबी की 'स्टडी आफ हिस्ट्री' । यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ पूर्णता तथा असाधारण अन्तर्दृष्टि का दावा करते हैं, फिर भी इनमें स्पष्ट रूप से त्रुटियाँ एवं अनुसंधान-पद्धति संबंधी दोष विद्यमान हैं । किन्तु इतना अवश्य है कि कम से कम ये उन समस्याओं को प्रतिबिम्बित करते हैं जिनको इतिहासज्ञ अभी तक हल नहीं कर पाया है ।

स्पेंगलर के इस महान् ग्रन्थ की योजना तथा इसका प्रथम प्रारूप १६११-१६१४ में ही बना लिए गए थे परन्तु १६१७ से पूर्व यह प्रकाशित नहीं हो सका । इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण पाश्चात्य जगत् का प्रथम विश्वयुद्ध के परिणाम-स्वरूप मोहभंग होना था, तथापि स्पेंगलर आदि अनुभूतिपूर्ण व्यक्तियों को इस पतन का आभास साधारण लोगों के पहले ही हो गया था । वास्तव में यह ग्रन्थ इतिहास का एक परिकल्पनात्मक दर्शन है, जो कि इतिहासवाद की कई अन्तर्दृष्टियों का प्रयोग करने के अतिरिक्त कुछ नए तत्वों को भी प्रस्तुत करता है । स्पेंगलर के अनुसार, इतिहास से तात्पर्य मानव-संसार के स्वभाव से है न कि प्राकृतिक संसार से । वह सम्पूर्ण मानव-इतिहास को आठ प्रमुख संस्कृति-सभ्यताओं में विभाजित करता है : मिस्री, चीनी, प्राचीन सामी, भारतीय, ईरानी, यूनानी, रोमन तथा पाश्चात्य । इनमें से प्रत्येक का एक मूलभूत प्रतीक है जिसके माध्यम से उस संस्कृति विशेष के आन्तरिक सम्बन्धन को जाना जा सकता है । कोई भी संस्कृति अन्य संस्कृतियों से सर्वथा भिन्न है तथा उसके अपने स्वयं-निर्मित मूल्य हैं जिन पर किसी अन्य संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं है । इनमें से प्रत्येक संस्कृति विकासशील है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु स्पेंगलर को ऐतिहासिक प्रक्रिया में रेखीय विकास का सिद्धान्त मान्य नहीं है। प्रत्येक समाज के विकास की कुछ निश्चित अवस्थाएं होती हैं जिनकी तुलना हम एक जीवन-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं से कर सकते हैं। प्रत्येक समाज अपने अवश्यं-भावी अन्त से पूर्व सर्जनात्मक संस्कृति तथा असर्जनात्मक सभ्यता के युगों से गुजरता है। इसका जीवन-काल लगभग एक सहस्र वर्षों का होता है। स्पेंगलर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पाश्चात्य सभ्यता का अन्त निकट है। वह अपने पाठकों से अनु-रोध करता है कि वे इस तथ्य को धैर्यपूर्वक स्वीकार करें। एक अपरिहार्य नियति के रूप में इसको स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार स्पेंगलर निर्भीकता पूर्वक रेखीय विकास के रूप में विश्व-इतिहास-लेखन का प्रयत्न त्याग देता है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् प्रत्येक युग एवं समाज के अपने पृथक् महत्व की बात करते थे, फिर भी वे पाश्चात्य सभ्यता को श्रेष्ठतर समझते थे। जिन विद्वानों का हमने यहा उल्लेख किया है, उनमें केवल वोल्तेयर ने ही प्राच्य जगत् को गम्भीरता से लिया है। स्पेंगलर प्रत्येक सभ्यता को समान महत्व देता है।

यद्यपि स्पेंगलर विभिन्न संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता है, फिर भी समाजशास्त्रियों ने इतिहासज्ञों की तुलना में उसे अधिक महत्व दिया है। आठ विभिन्न सत्ताओं का निरूपण कर, जो कि विकास की समान अवस्थाओं से गुजरती हैं, हम इस सिद्धान्त के प्रयोग से अतीत को विभिन्न तुलनीय इकाइयों में विभक्त कर सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में सामान्यीकरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। स्वयं स्पेंगलर ने अपने सिद्धान्त के आधार पर पाश्चात्य सभ्यता के निकट अन्त की भविष्यवाणी की थी (जो एक ऐसी सत्ता थी जिसने इतिहास को महत्व प्रदान किया था)। इस सिद्धान्त के प्रयोग से स्पेंगलर ने इतिहास एवं समाज-शास्त्र के पारस्परिक विलय के विरुद्ध मुख्य बाधा को दूर किया। स्पेंगलर समाजों के प्रारम्भ एवं अन्त, दोनों की कल्पना करता है।

स्पेंगलर के विश्लेषण का वास्तविक निहितार्थ यह है कि अतीत का सुनियो-जित एवं अनुशासित अध्ययन असम्भव है। उसकी यह मान्यता कि प्रत्येक सभ्यता पूर्णरूपेण विलक्षण एवं स्वाधीन है किसी प्रकार के तुलनात्मक विश्लेषण की सम्भावना नहीं छोड़ती। यहाँ तक कि प्रत्येक सभ्यता में मानव स्वभाव भी भिन्न है। एक बाहरी व्यक्ति तर्क अथवा अनुशासित अध्ययन के माध्यम से किसी सभ्यता को नहीं समझ सकता। केवल अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ही यह सम्भव है। इस कारण यह आपत्ति उठती है कि स्पेंगलर किस प्रकार विभिन्न सभ्यताओं की विशेष-ताओं का निरूपण करने का भी प्रयास कर सकता है, तथा उसकी कृति लगभग बुद्धिवाद-विरोधी रूप धारण कर लेती है। किन्तु उसका यह एक बड़ा योगदान है कि वह इस तथ्य के निहित अर्थ का गहन अध्ययन करता है कि कोई भी समाज-विशेष विभिन्न अन्तर्संबद्ध अवयवों से निर्मित हुआ है। स्पेंगलर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक ऐसी इकाई है जहां प्रत्येक अभिव्यक्ति एक दूसरे से संबंधित है तथा जहाँ सब लोग उस संस्कृति विशेष की आत्मा को अभिव्यक्त करते है। स्पेंगलर ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहासज्ञ के एक बड़े दायित्व के प्रति महान् योगदान दिया है, जिसका विकास मानवशास्त्रियों द्वारा विशेष रूप से आदिम संस्कृतियों के अध्ययन के अन्तर्गत किया गया, हाँलाकि उसकी पद्धति अपनी सम्पूर्णता में उनको प्रभावित नहीं करती।

आरनल्ड टॉयनबी का दस भागों में विभक्त ग्रन्थ 'स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' कई प्रकार से स्पेंगलर की कृति का रूपान्तरमात्र ही है। दोनों विद्वान् लगभग समकालीन हैं तथा टॉयनबी स्पेंगलर से केवल नौ वर्ष छोटा है। किन्तु जबकि स्पेंगलर ने एक युवक के रूप में इतिहास-लेखन किया टॉयनबी अपने ग्रन्थ की समाप्ति के समय एक प्रौढ़ व्यक्ति था। दोनों विश्व-इतिहास को अध्ययन के हेतु सभ्यता रूपी इकाइयों में विभक्त करते हैं। टॉयनबी ने इन इकाइयों की संख्या तेइस निर्धारित की है, जबकि स्पेंगलर के अनुसार यह संख्या आठ है। ये सभ्यतायें विभिन्न निश्चित अवस्थाओं से गुजरती हैं, यद्यपि टॉयनबी इस सन्दर्भ में जीवन-विज्ञान की भाषा का प्रयोग नहीं करता है तथा समय-विस्तार में अधिक भिन्नता पाता है। दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता अवनति के अन्तिम चरणों में पहुँच गई है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की मूलभूत रूपरेखा समान है।

किन्तु टॉयनबी यह कहने के स्थान पर कि सभ्यताओं को अनुशासित अध्ययन के माध्यम से नहीं समझा जा सकता स्पष्ट रूप से कहता है कि उसका अध्ययन अनुभवाश्रित है तथा कम से कम अपने ग्रन्थ के प्रारम्भिक भागों में वह निर्भीक रूप से मनोविज्ञान सहित विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का उपयोग कर अपनी बात कहता है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि किस प्रकार विभिन्न सभ्यतायें एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और इस प्रकार वह स्पेंगलर की इस मान्यता को अस्वीकार करता है कि-प्रत्येक सभ्यता का पार्थक्य में विकास एवं अन्त होता है। टॉयनबी यह दावा करता है कि वह इतिहास को समझने के लिए सामाजिक विज्ञानों की अनुसन्धान–पद्धति का प्रयोग कर रहा है।

इसके साथ ही वह देखता है कि प्रायः विकास का क्रम प्राचीन से आधुनिक की ओर अग्रसर होता है, तथा उसके ग्रन्थ के परवर्त्ती भागों में धर्म बहुत महत्व–पूर्ण हो जाता है। जैसे-जैसे सभ्यताओं का पतन होता है नए धर्मों का उदय होता है, तथा विश्व-इतिहास की प्रत्येक आनुक्रमिक अवस्था में धर्म का स्तर उच्चतर होता जाता है। धीरे-धीरे टॉयनबी पाश्चात्य सभ्यता के सम्बन्ध में अपना निराशा-वाद त्याग देता है तथा एक पैगम्बर का रूप धारण कर कहता है कि यदि पाश्चात्य जगत् अपनी समयोचित भूमिका तथा उचित मूल्यों को स्वीकार कर लेता है, तो वह अपनी पतनोन्मुख सभ्यता के भीतर एक नए धर्म का निर्माण कर विश्व इतिहास के प्रति अपना योगदान दे सकता है।

टॉयनबी का ग्रन्थ अपने संक्षिप्त रूप (जो दो भागों में विभक्त है) में विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत लोकप्रिय हुआ। भारतवासियों ने भी टॉयनबी को आदर की दृष्टि से देखा है क्योंकि उसने भारतीय धर्म की आधारभूत सहनशीलता की प्रशंसा की है। किन्तु इतिहासज्ञों ने उसकी कटु आलोचना की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम तो उसने विश्व इतिहास को एक पद्धति विशेष तक ही सीमित रखने का प्रयास किया है तथा पुनः उसने एक धर्म-उपदेशक का रूप धारण किया है। आलोचकों के अनुसार दोनों ही कार्य एक इतिहासकार को शोभा नहीं देते। यदि हम उसके आलोचकों के साथ सहमत भी हो जायें तो भी यह मानना पड़ेगा कि टॉयनबी उन अल्पसंख्यक व्यक्तियों में से एक है जिन्होंने मानव-सम्बन्धों जैसे विस्तृत विषय पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसके निरीक्षण-क्षेत्र के अन्तर्गत सभी युग, सभी लोग तथा ज्ञान की सभी शाखाएं आ जाती हैं। यह अन्ततः इतिहास का ही कार्य है। किन्तु वह विवरणात्मक विधि को छोड़कर प्रत्येक सभ्यता की विभिन्न विकास-अवस्थाओं का अन्य सभ्यताओं के साथ अध्ययन करता है जिससे कि उनका तुलनात्मक विश्लेषण तथा सामान्यीकरण प्रस्तुत किए जा सकें।

टॉयनबी सामाजिक विज्ञानों की पद्धतियों तथा सामग्री का आंशिक उपयोग करने पर भी उस दिशा को दिखाने में सफल हुआ है जिसमें चल कर बीसवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन ने नया मोड़ लिया है। सामाजिक विज्ञानों ने इसे आत्मसात नहीं किया है और न ही स्वयं में इसका एकीकरण हो सका हैं, परन्तु इसने सामाजिक विज्ञानों विशेषकर समाजशास्त्र की अन्तर्दृष्टि अवश्य अपनाई है। समाजवैज्ञानिक इतिहास की तीन प्रमुख विशेषताएं इसके सांस्थानिक, तुलनात्मक तथा सांख्यिकीय रूप हैं। समाज विभिन्न संस्थाओं का समूह है तथा व्यक्ति इन संस्थाओं में विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करता है। ब्रितानी संसद, मध्यमवर्ग यूरोपीय क्रान्तियों, तथा सामन्तवाद आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अध्ययन किए गए हैं। प्रारम्भ में इस प्रकार का अध्ययन एकरूपीय समाजों तक सीमित था। परन्तु शीघ्र ही यह प्रश्न उठा कि क्या वास्तव में विभिन्न समाजों की संस्थाओं के मध्य दिखाई देने वाली समरूपता इतनी अधिक है कि उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाए ?

स्पेंगलर द्वारा, मानव के अतीत को आठ संस्कृतियों में विभक्त करने के फलस्वरूप, तुलनात्मक अध्ययन की सम्भावना उत्पन्न हुई तथा टॉयनबी ने एक प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन किया है। सामाजिक विज्ञानों ने प्रायः तथा समाजशास्त्र ने विशेष रूप से मानव-समाज की इस प्रकार परिभाषा की है कि इससे तुलनात्मक अध्ययन को बल मिलता है। डिल्थे ने भी इस प्रकार के सामाजिक विश्लेषण का सुझाव दिया था। यद्यपि सांस्थानिक इतिहासज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि किसी परिस्थिति विशेष के अध्ययन के लिए इस प्रकार के विश्लेषण का प्रयोग किया जा सकता है, फिर भी वे तुलनात्मक विश्लेषण करने से झिझकते हैं। यूरोपीय समाजवाद के अपने प्रसिद्ध अध्ययन के पश्चात्, मार्क ब्लॉक ने एक ही प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक विश्लेषण की सम्भावना का सुझाव दिया। परन्तु यह भी विचारणीय है कि वह पूर्ण सतर्कता के साथ ही उस सीमा को सुझाता है जहाँ तक कि सामान्यीकरण दिये जा सकते हैं।

अपने अनुसन्धान कार्य के लिये समाज-वैज्ञानिकों ने विश्लेषण की नई पद्धतियों का विकास किया है। इनमें सर्वाधिक उपयोगी वे पद्धतियां हैं जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तर्गत समाज को अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न इकाइयों में विभक्त किया गया है, और फिर विभिन्न सांख्यिकीय प्रविधियाँ विस्तृत विश्लेषण को भी सम्भव बनाती हैं। इतिहासज्ञ अपने कार्य में इन पद्धतियों का लाभ उठा सकता है, तथा समाज वैज्ञानिकों के कुछ निष्कर्षों का अतीत के इतिहास-लेखन के लिए सामग्री के रूप में प्रयोग कर सकता है। रिचर्ड होमस्टाडट्र ने इस मत का प्रतिपादन किया है।

इतिहास-लेखन का परम्परागत स्वरूप विवरणात्मक है। इसी रूप में इतिहास १९ वीं शताब्दी में इतना अधिक लोकप्रिय था। किन्तु बीसवीं शताब्दी में, कुछ पाठ्य पुस्तकों को छोड़कर, विवरणात्मक विधि का कम ही प्रयोग किया गया है। अतीत के कुछ अंशों मात्र के अध्ययन अथवा तुलनात्मक अध्ययन या सामान्यीकरण की ओर उन्मुख विश्लेषण में विवरणात्मक पद्धति का प्रयोग सरलता से संभव नहीं है। यह सत्य है कि इस परिवर्तन का कारण इतिहास के संबंध में चली आ रही यह अनिश्चितता है कि क्या यह एक सामाजिक विज्ञान है? किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं। एक तो विश्व इतिहास के सभी मूलभूत विवरण गत शताब्दी में लिखे गए तथा एक बार मूलभूत विवरण के लिखे जाने के पश्चात उसमें केवल आंशिक सुधार ही सम्भव है। सम्भवतः कोई महान् विद्वान् विश्व-इतिहास के प्रमुख अंशों को पुनः आकर्षक ढंग से लिख सकें, किन्तु फिर भी जो लिखा जा चुका है, उसका मूलभूत रूप नहीं बदलेगा। फिर महान् इतिहास-ग्रन्थों की कथावस्तु राजनैतिक घटनाक्रमों से संबंधित है। फ्रांस की क्रान्ति तथा फलस्वरूप नई राजनैतिक संस्थाओं के प्रादुर्भाव ने इस प्रवृत्ति का और भी विकास किया। किन्तु सांस्कृतिक इतिहास-लेखन के लिये विवरणात्मक विधि को त्यागना पड़ा। वोल्तेयर ने 'लुई चौदहवें का युग' तथा जैकब बर्कहार्ट ने 'इटली में पुनर्जागरण की सभ्यता' में यही किया है। इसी प्रकार सामाजिक इतिहास-लेखन, जो साधारण मनुष्यों के जीवन पर ध्यान केन्द्रित करता है, इतिहास को विभिन्न युगों के स्थान पर विभिन्न प्रसंगों में विभक्त करता है। विवरणात्मक पद्धति राजनैतिक शक्ति का उपयोग करने वाले मनुष्यों के कार्यों का वर्णन करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

किन्तु जब हम इतिहास को सांस्कृतिक विकास तथा मनुष्यों के विकास के वृत्तान्त के रूप में देखते हैं, उस समय इस पद्धति की सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं। समाज के लोकतन्त्रीकरण, जिसके अधीन निम्नतम स्तर का मनुष्य भी महत्वपूर्ण बन गया है, तथा आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के बोध के कारण नवीन लेखन-शैलियों की आवश्यकता है। एक अन्य कारण निकट अतीत के अध्ययन के लिए निरन्तर बढ़ते हुए प्रमाणों की प्राप्यता है। इस प्रकार विस्तृत विश्लेषण की सम्भावना बढ़ जाती है तथा एक सामान्य विवरण को लिखना उतना ही कठिन हो जाता है। एक अन्तिम कारण यह भी है कि विवरणात्मक ढंग से एक व्यापक इतिहास, जिसमें प्राच्य जगत को उचित स्थान प्राप्त हो, लिखना कठिन है।

किन्तु इन कठिनाइयों के कारण इतिहासकार मानव का समय के आयाम में अध्ययन करने के अपने मूलभूत कर्तव्य से मुक्त नहीं हो जाता। सामाजिक विज्ञानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की चुनौती इतिहासकार का ध्यान इस प्राथमिक कर्तव्य से हटाती है। फिर भी, सामाजिक विज्ञानों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही गत शताब्दी की इतिहास-लेखन पद्धतियों की ओर लौटना उचित है।

बीसवीं शताब्दी में इतिहासकार का कार्य सामाजिक विज्ञानों के योगदान का उपयोग कर श्रेष्ठतर इतिहास लिखना है। होफस्टाडट्र ने अपने लेख मे बताया है कि यह कार्य किस प्रकार किया जा सकता है। हेनरी पिरेन ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है कि किस प्रकार अनिश्चितता के होने पर भी इतिहासकार अभी भी अपने विषय के विशेष कार्य की अभिपुष्टि करते हैं। वह समाज-वैज्ञानिकों द्वारा परिष्कृत उन पद्धतियों का स्वागत करता है जिनका उपयोग इतिहासकार अपने विशेष प्रकार के ज्ञान के सन्दर्भ में कर सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५

समकालीन झाँकी : विश्लेषणात्मक दर्शन और इतिहास

इतिहास बीसवीं शताब्दी के मध्य में स्वयं को एक ऐसी स्थिति में पाता है जहाँ उसे अपनी विलक्षणता का बोध है, अपनी आधारभूत पद्धति पर विश्वास है परन्तु जो विज्ञानों से अपनी नई विधाओं के सम्बन्ध के उद्‌घाटन में संघर्ष-रत है। इस स्थल पर दार्शनिकों का पदार्पण होता है। अन्तिम सत् की खोज के अपने पुराने दावों को त्यागकर आंग्ल-भाषी विश्व के अर्वाचीन दार्शनिकों ने स्वयं को उस भाषा के विश्लेषण के कम महत्वपूर्ण कार्य से ही संतुष्ट कर लिया है जिसमें मनुष्य स्वयं को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि ज्ञान की विभिन्न शाखाएं भिन्न–भिन्न अवधारणाओं का प्रयोग करती हैं अतः उन दार्शनिकों ने—जिन्हें तर्क शास्त्र की शिक्षा मिली है—अपने मनस् को इस शब्द-प्रयोग के विश्लेषण में लगा दिया है, और विभिन्न विधाओं को अधिक सही भाषा का प्रयोग करने के लिए चुनौती दे दी है। उन्होंने इतिहास पर अपने सौम्य दृष्टिपात को अभी हाल ही में केन्द्रित किया है। दो अत्यन्त पुराने और बहुत प्रभावशाली ग्रन्थ इसइया बर्लिन का **हिस्टॉरिकल इनैविटेबिलिटी** (ऐतिहासिक अपरिहार्यता) और कार्ल पॉपर का **पॉवर्टी ऑफ हिस्टारिसिज्म** (इतिहासवाद की दीनता) हैं। दोनों ही ग्रन्थ उन्नीसवीं शताब्दी के उन जर्मन दार्शनिकों की तत्वमीमांसीय उड़ानों, दूसरे शब्दों में, हेगेल और मार्क्स पर प्रहार हैं जो उसे ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर प्रयुक्त करते है मूल आक्षेप उन योजनाओं के नियतिवाद पर ही किया गया था जो ऐतिहासिक प्रक्रिया पर नियम थोप देता है, और मनुष्य से उसकी स्वतन्त्रता को छीन लेता दिखाई पड़ता है। विश्लेषणात्मक दर्शन की यह नयी विचारधारा ब्रिटेन के दर्शन पर आधारित है और इसके उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन दर्शन पर आधारित तत्व-मीमांसीय चिन्तन पर आक्रमण करने में एक विशेष आनन्द का अंश है। ब्रितानी दार्शनिकों ने कभी भी तत्वमीमांसा की सराहना नहीं की। उनकी विशिष्टता ज्ञानमीमांसा में ही रही है और वे उस सीमित प्रश्न से ही सम्बन्धित रहे हैं कि मनुष्य स्वयं को और प्रकृति को कैसे जानता है, परमात्मा को नहीं। पॉपर ने ऐतिहासिक नियतिवाद पर अपने तीव्र प्रहार में दुर्भाग्यवश इतिहासवाद शब्द का प्रयोग कर दिया है, और इस प्रकार उसने इस बात का एक झूठा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचार प्रस्तुत कर दिया है कि वस्तुतः इतिहासवाद क्या है ? वह इसे हर्डर और रांके के विशेषवाद और वीको एवं डिल्थे के स्वतः उद्घाट्यता पर जोर देने के स्थान पर हेगेल और मार्क्स का नियतिवाद मान लेता है। १९वीं शताब्दी के चिन्तनात्मक इतिहास पर हमला करते समय वह उन इतिहासकारों के समूह में मिल जाता है जिन्होंने उससे पहले ऐसा प्रहार किया था। किन्तु इतिहासवाद शब्द का प्रयोग करने से ऐसा लगता है कि वह इतिहासकारों पर उससे भी बड़ा प्रहार करना चाहता है।

इस असन्तुलित आरम्भ के बावजूद, इतिहास का विश्लेषणात्मक दर्शन ऐतिहासिक ज्ञान के सामान्य रूप पर संकेन्द्रित हो गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि ज्ञान की अन्य शाखाओं पर इसकी पहुँच है। प्रागनुभविक मानदण्डों का आरोपण करने के बजाय इसने इतिहासकारों के कार्य को ग्रहण कर लिया है और तार्किक विश्लेषण के उपकरणों को यह स्पष्ट करने में प्रयुक्त किया है कि वस्तुतः इतिहासकार क्या करता है, और फिर उसने ऐसे रास्ते सुझाये हैं जिनके अनुसार इतिहासकार उन अवधारणाओं एवं शब्दों को अधिक पैना कर सकते हैं जिनका प्रयोग वे और अधिक विशुद्धता और स्पष्टता को प्राप्त करने में करते हैं। १९५० से आगे के वर्षों में अंग्रेजी बोलने वाले देशों के बड़े विश्वविद्यालयों के बीस से भी अधिक दार्शनिकों ने इतिहास को अपने विशेष अध्ययन का विषय बना लिया है। १९६१ में **हिस्ट्री एण्ड थियरी** पत्र विनीत भाव से प्रारम्भ किया गया और यह कहा गया कि जब भी पर्याप्त लेख प्राप्त हो जायेंगे तभी इसका प्रकाशन कर दिया जावेगा। यह नियमित रूप से प्रकाशित होता रहा है और इसके पृष्ठों में हमें ऐतिहासिक ज्ञान के स्वरूप के बारे में बहुत उत्साह और उत्तेजना भी देखने को मिलती है।

दार्शनिक के दृष्टिकोण से इन समस्याओं का संक्षिप्तिकरण डब्ल्यू. एच. वाल्श के **इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफी आफ हिस्ट्री** में हुआ है और इतिहासकार के दृष्टिकोण से ई० एच० कार की पुस्तक **ह्वाट इज हिस्ट्री ?** में। इन लोगों के द्वारा उठाई गई समस्याएं ही हमारे समय के इतिहास-दर्शन की अनिर्णीत समस्याएं हैं।

वास्तव में इस सारी चर्चा के मूल में जो समस्या है वह है कि क्या इतिहास सामाजिक विज्ञान बन सकता है या उसे बनने का प्रयत्न करना चाहिए ? लेकिन यहां तीन मुख्य विषय हैं : विषयीनिष्ठता, वस्तुनिष्ठता, व्याख्या और अर्थ। किसी कथन को व्यक्तिपरक के विपरीत वस्तुपरक बनने के लिए ऐसे ज्ञान पर आधारित होना चाहिए जिसकी उत्पत्ति और आधार द्रष्टा (या ज्ञाता) के मनस् से बाहर हो। विषयनिष्ठता की परीक्षा किसी दूसरे निरीक्षक के संदर्भ में होती है। यदि प्रस्तुत कथन जिस पर विचार किया जा रहा है वास्तव में विषयनिष्ठ (निर्वैयक्तिक) हो तो दूसरा निरीक्षक उसे देख सकेगा और उस कथन से सहमत होगा। इतिहास ने सर्वदा यह दावा किया है कि वह एक वस्तुपरक भूतकाल से सम्बन्धित होता है जिसका वस्तुतः कभी अस्तित्व था। इतिहासकार अपने लेख या पुस्तक को पादटिप्पणियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहित प्रकाशित करके वस्तुपरक होने का दावा करता है क्योंकि उन स्रोतों की जांच अन्य व्यक्तियों द्वारा भी की जा सकती है। वस्तुत: वहां ऐसा नहीं होता है जहाँ इतिहासकार पूर्ण आत्मविश्वासी होता है। काफी समय में जाकर मूल स्रोतों (या उस सामग्री) से व्यवहार करने की एक अत्यन्त परिष्कृत किन्तु जटिल प्रणाली विकसित कर ली गयी हैं, और महत्वाकांक्षी इतिहासकारों को जो व्यवहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है उसमें उन्हें इस प्रणाली को जानना होता है—यही रांके की उन प्रभावशाली गोष्ठियों का विषय था जिसमें स्रोतों की समालोचना की जाती थी।

किन्तु विश्लेषणवादी दार्शनिक सन्तुष्ट नहीं होता है। उसकी विधा तो प्राकृतिक जगत् के सन्दर्भ में 'तथ्य' और 'सत्' के स्वरूप को भी वाद-विवाद की वस्तु मानती है; मानव जगत् के संदर्भ 'सत्य' की खोज भी स्पष्टत: बहुत कठिन होती है क्योंकि उसमें हमें द्रष्टा के मनस् और दृश्य-वस्तु दोनों पर ध्यान देना होता है। यहाँ जो समस्या है वह इतिहास से सम्बन्धित अन्य दार्शनिक प्रश्नों के समान ही एक सामान्य है जिस में समस्त ज्ञान का प्रश्न भी अन्तर्भूत है और इतिहास तो केवल एक विशेष उदाहरण है। किन्तु इतिहास हमारे समक्ष एक अतिरिक्त समस्या प्रस्तुत करता है क्योंकि यह अतीत से सम्बन्धित होता है जिसे किसी अन्य द्रष्टा के लिए पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता। वर्तमान की अपेक्षा अतीत में 'तथ्य' का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन होता है; इसी के साथ एक और कठिनाई होती है—तथ्यों की बहुलता की। इनमें से इतिहासकार को उन तथ्यों का चयन करना पड़ता है जिन्हें वह महत्वपूर्ण मानता है। किन्तु महत्ता को वह कौन से मापदण्ड से मापता है? परन्तु वह भी सम्पूर्ण समस्या नहीं है। स्वयं इतिहास ने पहले से ही एक बहुत बड़ा चयन कर लिया है : अतीत के मानवीय तथ्यों की समष्टि में से एक छोटे अंश के लिए ही साक्ष्य उपलब्ध है और यह चयन किसी महत्ता पर आधारित नहीं है। वे दीमक जो राजस्थान के पुरालेखों को चट करने में लगे हुए हैं, इतिहासकार की महत्ता की संकल्पना में सहभागी नहीं बनते। इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन में विषयनिष्ठता की समस्या संयोजित होती है।

जिस रूप में अनेकों विषयों ने विषयनिष्ठता की संभावना को बढ़ाने का प्रयास किया गया है वह एक पारिभाषिक शब्दावली को विकसित करना है। इससे विश्लेषणवादी दार्शनिक प्रसन्न होता है जिसका मुख्य कार्य भाषा-विषयक स्पष्टता एवं परिशुद्धि है। जब किसी सम्प्रत्यय या कारणात्मक अनुक्रम का इसके परिणाम सहित कोई नाम रख दिया जाता है तो वह हमारे भलीभांति समझ में आ जाता है, उसी के लिए जिसका अभिधान किया गया है। हमारा लक्ष्य प्रत्येक पद को विशिष्ट बनाना है, उस पद को उसके नित्यप्रति के अर्थ भेदों और एक से अधिक व्याख्या की संभावनाओं से मुक्त करना है। बोलचाल की भाषा के अधिकांश शब्दों को हमें संदर्भ में देखना और महसूस करना होगा। इतिहास ने इस प्रकार की सुनिश्चितता को जिस रूप में विकसित किया है वह केवल पाद-टिप्पणियों के प्रस्तुतिकरण से सम्बन्धित है और यहां भी मानक भिन्न होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक वैज्ञानिकों, विशेषत: समाजशास्त्रियों द्वारा जिस विशिष्ट शब्दावली को विकसित किया गया है उसके समक्ष इतिहासकार सिहर उठते हैं और उसी प्रकार का कार्य अपने क्षेत्र में करना अस्वीकार कर देते हैं। किन्तु यह देखना कठिन है कि यह कैसे संभव होगा। मानवीय अनुभव की समष्टि के कतिपय अंशों के पृथक्करण द्वारा ही ऐसी विशिष्ट शब्दावली संभव बन सकती है और यह इतिहास नहीं है। इतिहास मानवीय अनुभव पर इसकी समग्रता में विचार करता है; और इसके लिए दैनिक रूप में प्रयुक्त अपनी संश्लिष्टता में ही मानवीय भाषा की अपेक्षा है। जब तक ऐसी स्थिति है तब तक इतिहास को किसी भी अन्य के वस्तुनिष्ठता के मापदण्ड का सामना करने में कठिनाई ही होगी। तो भी, इतिहासकार मनोनिष्ठता को अस्वीकार करता है। उसका स्वीकृत कार्य अतीत को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना है, इस ढंग से कि वह पाठक को समझ में आ सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह कम से कम विषयनिष्ठता आंशिक को तो अवश्य प्रयुक्त करता है।

दूसरा प्रधान विषय है ऐतिहासिक व्याख्या का स्वरूप। कोई भी बौद्धिक विषय इस बात को स्पष्ट करने के प्रयत्न को स्वीकार करता है कि अमुक घटना क्यों घटित हुयी थी या हुई है और ऐसा वह हेतुओं को सूचीबद्ध करके करता है और तत्पश्चात् वह यह निरूपित करता है कि इन दिये हुये हेतुओं से अमुक परिणाम का निकलना पूर्णत: स्वाभाविक है। यह विज्ञान की विधि है। यदि भविष्य में भी कुछ इस प्रकार की परिस्थिति हुई तो इसके परिणाम की भविष्यवाणी की जा सकती है। इस ढंग से व्यवहार के नियमों के प्रतिपादन को सूत्रबद्ध किया जा सकता है। पुन: प्राकृतिक जीवन की समग्रता से कतिपय अंशों के पृथक्करण के द्वारा और बाह्य प्रभावों के निरास के द्वारा यह संभव बनता है। यदि किसी रसायनशास्त्री का परीक्षण असफल हो जाता है तो सबसे पहले उसकी यह प्रतिक्रिया होती है कि कहीं गलती से कोई अनचाहा रासायनिक पदार्थ तो घोल में नहीं मिल गया या कि तापक्रम तो गलत नहीं था या इसी प्रकार की कोई अन्य बात। किन्तु इतिहास में ऐसे चयनित विषयों का पृथक्करण संभव नहीं है। जब इतिहासकार हेतुओं को सूचीबद्ध करता है (उदाहरण के लिए फ्रान्स की क्रान्ति के हेतु) तो वह इनमें समाज में एक नये बुर्जवा वर्ग के बढ़ते हुये महत्व को, राज्य के दिवालियेपन को, पुराने सामन्तवर्ग की अभिवृत्तियों को, किसान वर्ग की गरीबी को, बादशाह के व्यक्तित्व आदि को सम्मिलित करता है। यह इतने अधिक विषम घटकों का संमेल है कि इन्हें किसी भी एक व्यवस्था में उपयुक्तता से नियोजित नहीं किया जा सकता।

तथापि कार्ल हैम्पेल ने एक लेख में जो बहुत प्रतिष्ठित हो गया है और जिस पर इतिहास के सभी दार्शनिकों को पूर्ण अधिकार होना चाहिये—यह दावा प्रस्तुत किया है कि विभिन्न विज्ञानों और इतिहास की व्याख्या करने की विधियों में कोई मूल भेद नहीं है। अधिक से अधिक इतिहास कुछ विशिष्ट कठिनाइयाँ और प्रस्तुत करता है। इतिहास यह व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि अमुक-अमुक घटना क्यों घटित हुयी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि विज्ञान (सामाजिक विज्ञानों सहित)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करता है। यह व्याख्या हेतुओं को सूचीबद्ध करने पर आधारित होती है। इसके पश्चात् वह एक सरल प्रतिमान बनाता है, उन हेतुओं का जो एक परिणाम को उत्पन्न करने वाले होते हैं और जो व्याख्या के लिए उपकरण (साधन) स्वरूप होते हैं; और वह इस बात पर जोर देता है कि इतिहास और विज्ञान दोनों ही इस प्रतिमान (मॉडल) को प्रयुक्त कर सकते हैं। इतिहास का अध्ययन भी नियमों के द्वारा किया जा सकता है। इतिहासकार का यह कार्य है कि वह इन नियमों का प्रतिपादन करें।

विलियम ड्रे हैम्पेल का एक मुख्य आलोचक है। वह बतलाता है कि इतिहासकार केवल उसी की व्याख्या करता है जो घटित हो चुका है, वह यह नहीं बतलाता कि बह क्यों घटित हुआ। इतिहासकार कभी भी भविष्यवाणी नहीं करता; वह तो केवल किसी घटना के घटित हो जाने के पश्चात् उसको स्पष्ट मात्र करता है, और उसके द्वारा प्रस्तुत हेतु उस घटना को संभव ही बनाते हैं अपरिहार्य नहीं। उदाहरण के लिए भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के अस्तित्व ने भारत की स्वतन्त्रता को संभव बना दिया। अतः जब भारत १९४७ में स्वतन्त्र हुआ तो हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलन के अस्तित्व के आधार पर हम भारत की स्वतन्त्रता की भविष्यवाणी नहीं कर सकते। ड्रे का तो यहाँ तक कहना है कि जो कुछ घटित हो चुका है उसका सरल शब्दों में कथन भी—कि भारत १९४७ में आजाद हुआ—एक प्रकार की व्याख्या ही है। ऐतिहासिक व्याख्या में जो वास्तविक भेद है वह यह है कि इसमें प्रेरक हेतु भी सन्निविष्ट हैं। मनुष्य अपने युक्तियुक्त मूलाधार के अनुसार कर्म करता है जिसकी कोई साधारण कार्य-कारणात्मक व्याख्या नहीं की जा सकती। जब इतिहासकार व्याख्या करता है तो वह यह दिखलाता है कि पात्रों के अमुक विश्वासों और प्रेरणाओं की स्थिति में अमुक कृत्य ही उपयुक्त हैं।

अनर्स्ट नैगल इस समस्या को और अधिक सुबोधगम्य बनाने का प्रयास करता है। उसने यह साफ तौर से दिखलाया है कि इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान में स्पष्ट भेद होते हैं। यह सत्य है कि इतिहास सामान्यीकरण के उपयोग से बच नहीं सकता, किन्तु यह वैज्ञानिक सामान्यीकरण से पूर्णतः भिन्न होता है। इसी भांति उसने यह भी दिखलाने का प्रयास किया है कि पृथक्करण का प्रश्न महत्वपूर्ण तथ्यों के 'चयन' से भिन्न होता है। अतः वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विज्ञान से विभेद होते हुए भी इतिहास यह दावा कर सकता है कि वह व्याख्या कर रहा है। यह निष्कर्ष ब्लेक की विषयनिष्ठता के निष्कर्ष के सामान ही है। इतिहास उन मापदण्डों पर खरा नहीं उतरता जो विज्ञान ने विषयनिष्ठता या व्याख्या के लिए आरोपित किये हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इतिहास पूर्णतः मनोनिष्ठ है या अतीत की घटनाओं की व्याख्या नहीं कर सकता।

ऐतिहासिक व्याख्या के लिए एक अतिरिक्त समस्या विभिन्न प्रकार के घटकों की सापेक्ष महत्ता के मूल्यांकन की कठिनाई भी है। यदि हम अधिक बार वाद-विवाद के विषयभूत घटकों की ही चर्चा करें तो भी हमारे सम्मुख आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और धार्मिक घटक है। इतिहास को यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छाँट लेना चाहिए कि किसी विशेष परिस्थिति में कौन से अधिक और कौन से कम महत्वपूर्ण हैं। यह उसकी स्वयं की दृढ़ धारणा के साथ-साथ प्रदर्शित किए जाने योग्य साक्ष्य पर भी निर्भर करता है। फ्रांस की क्रांति की व्याख्या के लिए विभिन्न इतिहासकार विभिन्न कारणात्मक घटकों पर बल देते हैं—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सद्धान्तिक। एसे ग्रन्थ मिल सकते हैं जो इनमें से प्रत्येक को प्रधानता देते हैं। अंशतः वे उस युग की रुचियों को प्रतिबिम्बित करते हैं जिनमें वे लिखे गये थे। और साथ ही यह कथन भी उतना ही सत्य है कि विभिन्न घटक विभिन्न कालों में अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। क्योंकि सामान्यतः आजकल धर्म एक कमजोर शक्ति हो गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'रिफॉरमेशन' (धर्म सुधार आंदोलन (१६वीं) शताब्दी) के समय भी यह महत्वपूर्ण नहीं था। मार्टिन लूथर के लिए इसके महत्व को न मानना काल-दोष होगा जो कि इतिहासकार का एक सबसे बड़ा दोष है। मार्क्स ने हमें वर्ग-संघर्ष के प्रति सचेत कर दिया है परन्तु यह इस बात के लिए हमें कोई न्यायोचित आधार नहीं देता कि हम प्राचीन काल की सभी क्रांतियों में वर्ग-संघर्ष को ही ढूँढें। और यह भी हो सकता है कि एक ही ऐतिहासिक काल में संबंधित घटनाओं के विभिन्न प्रधान कारण हों। १८४६ की यूरोप की क्रान्तियों में—जिन्हें स्वतन्त्रता के मुख्य आन्दोलन का ही एक अंश माना जाता है—हमें महत्वपूर्ण भेद दिखलाई देते हैं। इटली और हंगरी आस्ट्रीया की तानाशाही के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे, फ्रांस के समाजवादियों ने पेरिस के मजदूरों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे वहां के बुर्जुआ उदारवादियों को उखाड़ फेंके, जर्मनी के राष्ट्रवादी एकता के आदर्श के लिए प्रयास (संघर्ष) कर रहे थे। विभिन्न स्थानों पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और बौद्धिक कारण अलग-अलग मात्रा में क्रियाशील हो रहे थे। हैम्पेल का प्रस्ताव आकर्षक था क्योंकि यह बहुत सरल था, किन्तु उसके इस प्रतिमान में कारकों की जटिलता बाधा उत्पन्न करती है।

इसके अतिरिक्त दो और ऐसे विषय हैं जो ऐतिहासिक व्याख्या के प्रश्न को जटिल बनाते हैं; आकस्मिकता और व्यक्तिविशेष। प्रकृति-वैज्ञानिक आकस्मिकता के प्रश्न का निरास एक ऐसे व्यवस्थित विश्व की अभिधारणा द्वारा करता है जिसमें अप्रत्याशित घटनाएं घटित नहीं होतीं। परन्तु अनेकों ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं भी हैं जिनकी कोई तर्कमूलक व्याख्या दिखलाई नहीं पड़ती; अलेक्जैण्डर महान् की अकाल-मृत्यु का कोई ऐतिहासिक निमित्त नहीं था। कोई कह सकता है कि ब्रिटेन के लोग भारत में अपना राज्य अठाहरवीं शताब्दी के मुगल साम्राज्य की दुर्बलता के कारण स्थापित कर पाये। इस दुर्बलता की व्याख्या की जा सकती है और इसी तरह उस समय की ब्रिटिश शक्ति की भी। किन्तु उनका संयोग या एक ही समय में घटित होना अव्याख्येय है। इस प्रकार के अगणित उदाहरण हैं, जिनको कि "क्या होता यदि.............. ?" के उदाहरण देकर भलिभांति समझाया जा सकता है। क्या होता यदि नेपोलियन भी अलैक्जैण्डर की भांति तीस वर्ष की उम्र में मर जाता? क्या होता यदि राबर्ट क्लाइव १७५६ में भारत नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्राता ? क्या होता यदि लुई सोलहवाँ १७९३ में फ्रांस से सफलतापूर्वक बच निकलता ? क्या होता यदि हिटलर मई १०–११–१९४३ के बाद भी लन्दन पर (हवाई) आक्रमण जारी रखता ? क्या होता यदि जॉन और राबर्ट कैनेडी की हत्या नहीं की जाती ? इन घटनाओं के कोई व्याख्याएं नहीं हैं, किन्तु फिर भी इतिहासकार को उन्हें अपनी कहानी में शामिल करना पड़ता है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि जिन आकस्मिक घटनाओं की चर्चा अभी की गई उनमें से अधिकांश व्यक्ति विशेषों से सम्बन्धित हैं। इतिहास में व्यक्तिविशेष [विशेष तौर पर 'नायक (वीर)' या 'विश्व के ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष'] की भूमिका अभी भी मुख्य समस्या बनी हुई है। इतिहास में व्यक्ति विशेष एक आन्तरिक मूल्य है। ये हम ही हैं जो व्यक्ति विशेष बनकर प्रश्न पूछ रहे हैं और समझने का प्रयास कर रहे हैं। एक ओर यह अधिक स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्ति विशेष स्वतन्त्र नहीं है। वह किसी समाज का एक अभिन्न अंग है और आर्थिक राजनैतिक एवं सैद्धान्तिक कारक घटनाओं की सामान्य दिशा को नियत करते हैं। और तब भी वह दृढ़ता पूर्वक कहता है कि मनुष्य और इतिहास निर्वैयक्तिक शक्तियों से निर्धारित नहीं होते। यह मनुष्य का अनुभव नहीं है। ऐतिहासिक विकास के मध्य में की भी मनुष्य अपनी कुछ स्वतन्त्रता कायम रखता है। **'दॅ हीरो इन हिस्ट्री'** के विशद् अध्ययन के पश्चात् सिडनी हुक इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इतिहास की एक सामान्य दिशा है जिसमें व्यक्ति विशेष अपनी सीमित स्वतन्त्रता कायम रखता है।

इतिहासकार भी व्याख्या देता है, किन्तु वह केवल यही बताता है कि क्या घटित हो गया, और वह भी साधारण बोलचाल की भाषा में। वह आवश्यकता को पूरा करने के लिए कतिपय सामान्यीकरणों का उपयोग कर लेता है, जैसे 'शक्ति भ्रष्ट करती है' और 'वह सरकार गिर जाती है जो आर्थिक स्थायित्व को बनाये रखने में असफल हो जाती है'। यद्यपि ये कहावतों से कुछ अधिक ही हैं, तथापि इन्हें इतिहास को निर्धारित करने वाले नियम तो मुश्किल से ही कहा जा सकता है।

व्याख्या का प्रश्न अर्थ के प्रश्न से गहन रूप से सम्बद्ध है। यदि इतिहास 'बोधगम्य' है तो वह 'अर्थवान' भी है। यदि इतिहास मनुष्य द्वारा रचित है तो यह मनुष्य के स्वभाव को ही प्रतिबिम्बित करता है, और इसलिए अन्य मनुष्य भी इसे समझ सकते हैं। जब मनुष्य किसी बात को समझता है तो वह उसके अर्थ को देख लेता है। इतिहास मनुष्य के क्रिया-कलापों का ही अध्ययन है; और प्रत्येक व्यक्ति कम से कम स्वयं के लिए तो विमर्शपूर्वक कर्म करता है। दूसरों के क्रियाकलापों को समझने की लालसा (जिसका विस्तार ही इतिहास है) मनुष्य के इस विश्वास की साधारण अभिव्यक्ति है कि उसने जो कुछ कर्म किया है वह सार्थक है, और वह चाहता है कि दूसरे लोग भी उसे इसी प्रकार से देखें, समझें। मार्क्स और फ्रॉयड की मुख्य चुनौती यही थी कि उन्होंने इस दृढ़ धारणा की सरल अभिव्यक्ति को संकट में डाल दिया। और तब भी प्रत्येक ने अपने तरीके से यह दिखाने का प्रयास किया कि मनुष्य स्वयं को और अन्यों को किस प्रकार अधिक अच्छी तरह समझ सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनुष्य स्वीकृत मूल्यों के संदर्भ में कर्म करता है। यह बात समाज या संस्थाओं के लिए भी उतना ही सही है जितनी व्यक्ति के लिए। विश्लेषणात्मक दार्शनिक मूल्य के प्रश्नों से दूर रहते हैं; उनको तर्क और सूक्ष्मता में रूपान्तरित करना कठिन होता है। किन्तु शब्दों के अर्थ की उनकी खोज भी एक वृहत्तर अर्थ की खोज का ही एक अंग है। मनुष्य की सम्पूर्ण बौद्धिक जिज्ञासा यदि समस्त जगत् या जीवन का नहीं, तो कम से कम उसके एक अंश का तो अर्थ समझने की होती है। अर्थ के साथ समस्या यह है कि यदि ऐतिहासिक प्रक्रिया को इस से बाहर कोई अर्थ दिया जाय तो मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खोता हुआ प्रतीत होता है। यदि ऐतिहासिक प्रक्रिया को परमात्मा के विधान का ही विस्तार होना है, तो ऐसी हालत में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विकास नहीं कर रहा है। यदि वह आर्थिक-नियमों का ही विस्तार है, तो मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासाएं और प्रेरणायें सीमित हो जाती हैं और तब ऐसे मूल्य जिनका आर्थिक महत्व नहीं हो निरर्थक हो जाते हैं। इतिहासकार ने तो किसी भी ऐसे आरोपण को अस्वीकृत कर दिया है और जोर देकर यह कहा है कि अर्थ इतिहास में अन्तर्निहित रहता है और उसे वहाँ खोजा जाना चाहिये। इस मत के साथ समस्या यह है कि यह हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि कोई अन्तिम या सार्वभौम (सामान्य) सत्य नहीं है, जो भी सत्य है वह किसी अमुक काल या देश के लिए है, फलस्वरूप यह मनुष्य की नौका को इतिहास के सागर में बिना किन्हीं पथ-निर्देशक नक्षत्रों एवं लंगर के छोड़ देता है। के कुछ लोग किसी तत्वमीमांसीय संस्थान के अंग बनना पसन्द करेंगे। विश्लेषण-वादी दार्शनिक इन वृहत्तर प्रश्नों को दूर हटाना चाहता है; किन्तु वह यह स्वीकार करता है कि यह इतिहासकार का कार्य है कि वह इतिहास को बोधगम्य बनाये, और यह एक प्रकार का अर्थ है। डबल्यू० एच० वाल्श ऐतिहासिक प्रक्रिया के किसी भी तत्वमीमांसीय अर्थ की संभावना को, या विधि के द्वारा दिए गए किसी भी अर्थ (व्याख्या) को (हैम्पेल) स्पष्टतः अस्वीकार करता है। किन्तु वह (डिल्थे का अनुगमन करते हुये) यह अनुभव करता है कि ऐतिहासिक घटनाओं की अन्तःसम्बद्धता इतिहास को समझने के लिए उपयुक्त आधार प्रस्तुत करती है, और यही इसका अर्थ है।

फिर भी, जियाफ्र बैराक्लफ पश्चिमी सभ्यता की बीसवीं शताब्दी की नैतिक विफलताओं को इतिहासवाद की उस प्रवृत्ति के कारण मानता है जो सभी सत्यों को सापेक्ष मानती है। वह एक ऐसे नये, अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण और मूल्याभिमुखी इतिहास लेखन की वकालत करता है जो समकालीन व्यक्ति को नये लक्ष्य का बोध करा सके। टायनबी का दावा है कि वह इतिहासप्रक्रिया की दिशा से अवगत है और एक नये आध्यात्मिक जागरण की संभावनाओं को स्पष्ट करता है यदि पश्चिमी जगत् अनुकूल या समुचित नेतृत्व एकत्रित करे। राइनहोल्ड नीबूर आधुनिक क्रिश्चियन दृष्टि-कोण के अनुसार एक लक्ष्योन्मुख इतिहास की स्पष्ट दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसमें परमात्मा का विधान, व्यक्ति की संकल्पेच्छा, और मनुष्य की नैतिक समस्याएं सभी का समाधान हो जायेगा। इतिहासकार ई० एच० कार, समाजवादी दृष्टिकोण के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार, प्रगति में अपने विश्वास को पुनः व्यक्त करते हैं, एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो अज्ञात है किन्तु जिसको हम उत्कण्ठापूर्वक खोजना चाहते हैं।

इतिहासकार जिस बात को प्राप्त करना चाहता है, अर्थ का प्रश्न उसके मर्मस्थल पर आघात करता है। इतिहास की विधि प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी है और विचार की ऐतिहासिक विधा स्पष्ट नज़र आती है, तो भी समाजशास्त्र की विश्लेषण की विधि बहुत कुछ इतिहास के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मानवीय ज्ञान में इतिहास भी अपना आंशिक योगदान करता है और शायद यह सबसे अधिक निरापद मत है। परन्तु इतिहास के सिद्धान्त और व्यवहारिक पक्ष के विकास के इस अध्ययन में यह सर्वत्र स्पष्ट रहा है कि इतिहासकार, चाहे उसकी इच्छा हो या न हो, या चाहे वह जाने या न जाने, जीवन के मुख्य प्रश्नों से बराबर टकरा रहा है। प्राकृतिक और मानवीय विज्ञानों के लिए इसी तरह के आधार के सभी दावों के प्रयास असफल हो गए हैं। अब यह इतिहासकार के लिए बच रहा है कि वह ऐतिहासिक ज्ञान के सूक्ष्म स्वभाव की परख करे। उस कार्य में विश्लेषणवादी दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट करके सहायता कर रहे हैं।

यह आश्चर्य की ही बात है कि कला पर कितना कम कहने की आवश्यकता पड़ी है। मनुष्य के विभिन्न बौद्धिक क्रिया-कलापों में, निश्चित तौर पर ही प्रकृति-विज्ञान और ललितकलायें (साहित्य को सम्मिलित करते हुए) विधि और उद्देश्य की दृष्टि से दो चरम स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतिहास कहीं इन दोनों के मध्य में है। यदि यह विज्ञान नहीं है, तो क्या यह कला है ? क्या यह मूलरूप से व्यक्तिगत सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति है ? जबकि अच्छा इतिहास–लेखन साहित्यिक होता है (किन्तु विज्ञान का ऐसा कोई दावा नहीं होता क्योंकि उसकी विशिष्ट शब्दावली होती है), और वह साधारण भाषा का उपयोग करता है, इतिहास कभी भी अपने इस कार्य से मुक्त नहीं हो सकता कि वह स्वयं को अटल और अपरिवर्त्तनीय तथ्यों पर आधारित करे ताकि अतीत का वैसा ही चित्र तैयार करदे जैसा वह वस्तुतः था। इसकी अभिव्यक्ति की अनेक सीमाएं हैं जो कि साहित्य और कला के अध्ययन के क्षेत्र में अज्ञात हैं। यह एक बौद्धिक विषय है। यह तथ्य कि इतिहास के कलाओं से सुनिश्चित सम्बन्ध के बारे में अधिक चर्चा बहुत कम की जाती है यह इस बात को सूचित करता है कि आधुनिक विश्व में प्रकृति-विज्ञानों का बौद्धिक साम्राज्य है। किन्तु अब इतिहास इसकी उस सांघातिक पकड़ से मुक्त हो गया है जिसकी वजह से हमें विज्ञान का अनुकरण करना पड़ता था और अब यह अपनी भवितव्यता के प्रति सचेत हो गया है। इस बात को इतिहास के सामाजिक विज्ञानों के साथ आदान-प्रदान में देखा जा सकता है और साथ ही एतिहासिक कार्य का यह भी एक मुख्य अंग रहेगा कि वह मानव इतिहास के पृथक्कृत स्तरों की व्याख्या करे। अब इस बात की कोई संभावना नहीं रही है कि इतिहास १६ वीं शताब्दी की भांति केवल वर्णनात्मक बन जायेगा। विश्लेषणवादी दार्शनिकों की चुनौती ने इस विश्वास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को—स्वयं दार्शनिकों में भी—और अधिक दृढ़ता प्रदान करदी है कि ऐतिहासिक विचार की पद्धति वैज्ञानिक से भिन्न है। और इतिहास अभी भी मनुष्य के जीवन में अर्थ प्रदान करने का दावा करता है, जबकि दर्शन ने अपने इस उत्तरदायित्व को त्याग दिया है। यह सही है कि अतीत में अधिकांश लोगों ने अधिकांश समय अर्थ की प्राप्ति के लिए ऐतिहासिक-प्रक्रिया से दूर और बाहर की ओर ही झांका है। किन्तु आधुनिक मनुष्य ऐसे मत को मानने में अब आनाकानी करता है जिसमें इतिहास की अस्वीकृति अन्तर्निहित हो; आधुनिक मनुष्य इतिहास की चेतना से संयुक्त हो गया है और उसकी अर्थ की खोज ने उसे विचार की ऐतिहासिक विधि की ओर उन्मुख तथा उस पर आश्रित कर दिया है।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६

प्राचीन भारतीय इतिहास-दर्शन तथा इतिहास लेखन

'इति ह आस' इन तीन पृथक् शब्दों का संश्लिष्ट रूप है 'इतिहास', जिसका अर्थ होता है 'निश्चित रूप से ऐसा हुआ।' इस व्याख्या के अनुसार, अतीत के जिन वृत्तों के अस्तित्व को हम पूर्ण विश्वास के साथ प्रमाणित कर सकें उन्हें इतिहास की श्रेणी में रखा जा सकता है। इतिहास की यह स्थूल तथा सरलतम परिभाषा है जो सभी को मान्य होगी और सामान्यतया जनसाधारण इतिहास से यही समझता है। इतिहास की आधुनिक परिभाषाओं में प्रायः इन वृत्तों के पीछे कारण-श्रृङ्खला और कभी-कभी अनन्तर में परिणाम-श्रृङ्खला को भी सम्मिलित किया जाता है। आधुनिक इतिहासकार केवल इस अभिज्ञान से संतुष्ट नहीं होता कि कोई घटना घटी प्रत्युत् वह यह भी जानने का प्रयत्न करता है कि वह घटना क्यों घटी। इस जिज्ञासा के पीछे यह भावना काम कर रही होती है कि कोई भी **भौतिक** घटना आपाततः नहीं घट सकती। अस्तु इतिहास के विभिन्न घटक तत्वों के विषय में एवं तद्प्रसूत समस्याओं पर विद्वानों में परस्पर पर्याप्त वाद-विवाद रहा है, किन्तु उन विभिन्न मतों का विवेचन यहां अपेक्षित नहीं।

एक लम्बी अवधि से विद्वानों के एक वर्ग में यह मान्यता प्रचलित रही है कि प्राचीन भारतवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था। घटनाओं के विवरण में तिथिक्रम के सही निर्वाह के प्रति उदासीनता एवं तथ्यविशेष को कल्पित एवं पौराणिक कथाओं के परिवेश में रख कर विकृत करने की प्रवृत्ति ने इस मान्यता को आधार सा प्रदान किया। इन विद्वानों ने इस अवधारणा का प्रतिपादन किया कि भारतीय घटनाओं के तथ्यपरक विवरण में रुचि नहीं रखते थे। उन्होंने इस अरुचि के मूलभूत कारणों की भी गवेषणा की है और उन्हें भारतीय धर्म, मनोवृत्ति, जलवायु आदि में आरोपित करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, लोएस डिकिन्सन (Lowes Dickinson) ने अपनी इस प्रतिपत्ति को कि "हिन्दू इतिहासकार नहीं हुए हैं"[१] भारतीय जलवायु एवं भौगोलिक परिवेश के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनके कथानुसार भारत में मनुष्य प्रकृति के समक्ष

१. ऐन एसे आन द सिविलाइजेशन आफ़ इण्डिया चाइना एण्ड जापान, पृ० १५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वयं को तुच्छ और असमर्थ पाता है और तत्परिणामस्वरूप उसमें अपनी नगण्यता तथा जीवन की व्यर्थता की भावना जन्म लेती हैं, उसे जीवन की अनुभूति एक भयानक दुःस्वप्न के रूप में होती है और दुःस्वप्न का इतिहास नहीं हो सकता—ऐसा उनका तर्क है। कुछ इसी प्रकार का विचार टीलहार्ड द शार्डिन (Tielhard the Chardin) का है जिनके अनुसार भारतीय अपने माया और कर्म के सिद्धांतों में विश्वास के कारण अध्यात्म में ही डूबे रहे और "अपनी अतिशय निष्क्रियता एवं निरपेक्षता की भावना के कारण उनमें विश्व-निर्माण की क्षमता का आभाव दिखाई पड़ता है।"[२] कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इसी प्रकार के भाव अभिव्यक्त किए हैं। डा० हीरानन्द शास्त्री ने इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "प्राचीन भारतीयों ने इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया—इस कारण नहीं कि उनमें ऐतिहासिक प्रवृत्ति का आभाव था, अपितु इस कारण कि वे वर्तमान भौतिक जीवन की अपेक्षा आगामी जीवन में अधिक रुचि रखते थे। उनके लिए दृश्यमान जीवन माया अथवा भ्रमस्वरूप था तथा शमशान भूमि से परे स्थित जीवन वास्तविक था। अध्यात्मशास्त्र की इस त्रुटिपूर्ण एवं विपर्यस्त अवधारणा के ही कारण हम इस देश के प्राचीन लोगों द्वारा लिखा इतिहास नहीं देखते। ....ऐसा नहीं हुआ होता यदि हमारे पूर्वजों ने वर्तमान जीवन के उपर भी ध्यान होता और अपनी शक्ति का "पर्वतों वह्निमान् धूमात्" इत्यादि पर दुरुपयोग न किया होता।........"[३] उपरोक्त तर्कों के अतिरिक्त यह तर्क भी प्रस्तुत किया गया है कि काल-विवेचन इतिहास-रचना का आधार है और भारतीयों ने समय को सदैव गौण स्थान दिया है। अतएव तिथि-क्रम के यथार्थ प्रस्तुतीकरण की ओर से वे उदासीन रहे हैं।[४]

डिकिन्सन का तर्क हास्यास्पद सा है और इसके प्रत्युत्तर में कुछ कहना आवश्यक नहीं जान पड़ता। जहां तक भारतीयों की तथाकथित अ-ऐतिहासिकता के स्रोत को उनके दार्शनिक सिद्धांतों में देखने का प्रश्न है, यह ध्यातव्य है कि भारतीय विचार में वर्तमान जीवन को कभी भी **सर्वथा** नगण्य नहीं माना गया है। "इह चैक वेदिथ"—सत्य को यहीं जानना है और इसी जीवन में ही धर्म का आचरण करना है, सदैव से ही हिन्दू धर्म की यह निष्ठा रही है। कर्म और मायावाद के सिद्धांतों को निष्क्रियता एवं निरपेक्षता का स्रोत मानना इन सिद्धांतों के अज्ञान का परिचायक है। कर्म के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या यथास्थान आगे की जाएगी। यहां केवल यह जान लेना पर्याप्त है कि कर्मवाद नियतिवाद से भिन्न है तथा क्रिया–स्वातंत्र्य की अपेक्षा रखता है। मायावाद के प्रसिद्ध प्रतिपादक शङ्कराचार्य भी उन कार्यों से विमुख नहीं हुए जिनका निर्वाह वे अपना उत्तरदायित्व समझते थे। सारे भारत का

---

२. द फेनामेनन आफ़ मैन।

३. डा० हीरानन्द शास्त्री, आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरेंस, पटना के ऐतिहासिक विभाग का अध्यक्षीय भाषण।

४. द्र० चन्द्रकान्त गजानन राजे, **बायोग्रैफी एण्ड हिस्टरी इन संस्कृत लिटचर**, बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रेस, १६५८, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्रमण करके अपने सिद्धांत का प्रतिपादन और प्रचार करने वाला दार्शनिक क्या संसार के मिथ्यात्व को इन विद्वानों के अनुसार समझता था ? संसार के मिथ्यात्व के प्रतिपादन का स्तर दूसरा है, इसमें दृश्यमान् विश्व की सामान्यतया मान्य यथार्थता और तदनुसार उत्तरदायित्व-निर्वाह का तिरस्कार नहीं निहित है। जगत् के मिथ्यात्व का अर्थ केवल इतना है कि यह परम सत्य नहीं है। परम सत्य केवल ब्रह्मन् है और जगत् उसका विवर्त है, जगत् की सत्यता तद्प्रसूत सत्यता है तथा इसकी मिथ्या सत्ता केवल किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होने के कारण हैं।

इस अभियोजन के प्रत्याख्यान में बहुत कुछ कहा जा सकता है।[५] वास्तविकता यह है कि कर्म और मायावाद में विश्वास होने पर भी भारतीयों ने एक गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण किया और भारतीय इतिहास के अज्ञानी ही उनकी महती उपलब्धियों से अपरिचित होंगे। इस जीवन के महत्व को भारतीयों ने सदैव समझा। "चरैवेति चरैवेति' भारतीय ऋषियों की वाणी रही है। "इह चैव वेदिथ"— सत्य को यहीं जानना है। भारत कर्मभूमि है—ऐसा विभिन्न ग्रन्थ कहते हैं:—

पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता।
(**ब्रह्मपुराण**, २७. २)

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम्॥
(**अध्यात्म रामायण**, ६. ४. ५१)

प्रयाति कर्मभूमिर्ब्रह्मन् नान्यलोकेषु विद्यते।
(**मार्कण्डेय पुराण**, ५७. ६२)

अभि संपूजितं यस्माद् भारतं बहु पुण्यदम्।
कर्मभूमिरतो देवैर्वर्षं तस्मात्प्रकीर्त्तिनम्॥
(**ब्रह्म पुराण**, ७०. २४)

तथा त्वमपि कर्मभूमिभूतेऽस्मिन् भारते वर्षे जन्मनि जन्मन्येवोत्पन्नानुरागाः।
(बाण, **कादम्बरी**, संपादित पी० एल० वैद्य, पृ० ३१९)

किन्तु, यह सत्य है कि इतिहास जिस रूप में आज परिभाषित होता है उस रूप में भारतीयों ने इतिहास–रचना नहीं की। भारत में अतीत की स्मृति इतिहास

---

५. द्र० बी० जी० गोखले, **इण्डियन थाट थ्रू दी एजेज : ए स्टडी आफ सम डामिनेन्ट कान्सेप्ट्स**, बाम्बे, १९६१, पृ० ९ ३०; के सच्चिदानंद मूर्ति, **दी इण्डियन स्पिरिट**, वाल्टेयर, १९६५, पृ० ५७। वी० एस० पाठक (**ऐन्श्येन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया**, एशिया पब्लिशिङ्ग हाउस, १९६६, अध्याय १) ने न केवल भारत में ऐतिहासिक लेखन की निरन्तरता को वैदिक युग से दिखाया है अपितु इतने प्राचीन काल में भी इतिहासकारों की एक विशिष्ट शाखा के अस्तित्व का आग्रह किया है। हाल में हुए एक अन्य प्रकाशन में (**ऐन इन्ट्राडक्शन आफ इण्डियन हिस्टोरियोग्रैफी**, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे, १९७२) ए० के० वार्डर ने 'इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण' प्रस्तुत करने के उद्देश्य से वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक लिखी गई ऐतिहासिक कृतियों की चर्चा की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के रूप में नहीं सुरक्षित की गई। अतीत दो प्रकार का होता है:—(१) मृत अतीत जैसे घटनाएं, व्यक्ति इत्यादि, तथा (२) जीवन्त अतीत अर्थात् परम्पराएं जिनकी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सम्प्रेषण होता रहता है। भारत में परम्पराओं की सुरक्षा का प्रयास ऐतिहासिक स्मृति के रूप में नहीं किया जाता था। इसमें सभी की क्रियात्मक सहभागिता आवश्यक समझी जाती थी। विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसने इतने सुदूर अतीत का इतना बड़ा भाग सुरक्षित रखा हो। भारत में सदैव यह विश्वास किया गया कि हम अतीत के वंशधर हैं जिसकी सुरक्षा हमारा कर्त्तव्य है तथा जिसमें योगदान करते हुए हमें ऋणमुक्त होना है। वैदिक युग से ही यह विश्वास प्रचलित था कि मनुष्य तीन ऋणों—पितृऋण, देव ऋण तथा ऋषि ऋण—के साथ उत्पन्न होता है तथा इन ऋणों से मुक्ति पाने के लिए क्रमश: वंश-वर्धन, विद्याभ्यास एवं याज्ञिक कर्म की अपेक्षा है। अतएव, निश्चित रूप से परम्परा के प्रति चेतना तथा उत्तरदायित्व की भावना भारतीयों में विद्यमान थी। आज भी दक्षिण भारत में ऐसे पंडित हैं जो वैदिक यज्ञों का संपादन उसी कुशलता के साथ कर सकते हैं जैसे वे ३००० वर्ष पूर्व संपादित होते थे। इसी भावना के कारण प्राचीन ग्रन्थों का समय-समय पर संपादन तथा उन्हें निरन्तर नूतन एवं बुद्धिगम्य बनाए जाने का प्रयास किया जाता रहा। महाभारत को सदैव समयानुकूल बनाया जाता रहा। इसी प्रकार पुराणों में परिवर्द्धन तथा परिवर्तन आधुनिक युग तक किए जाते रहे।

भारतीयों की तथाकथित अ-ऐतिहासिकता के अभियोजन के पीछे भारत में ऐतिहासिक रचनाओं की अपेक्षाकृत क्षीण उपलब्धि भी है। यहां यह स्मरणीय है कि संभवत: प्राप्त सामग्री वस्तुत: अस्तित्वमात्र सामग्री का अत्यन्त थोड़ा अंशमात्र है। ज्ञान की एक शाखा अथवा अध्ययन के एक विषय के रूप में इतिहास को अत्यन्त आदरणीय स्थान प्राप्त था। शासकों के लिए इतिहास-अध्ययन पर बल देते हुए कौटिल्य ने इसके व्यावहारिक लाभ को स्वीकार किया है।[६] साथ ही, इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि शासकों के यहां शासकीय तथा प्रशासकीय विवरण तैयार किया जाता था। कम से कम मौर्यों के समय से तत्संबंधी विभाग का होना एक ऐतिहासिक तथ्य है। गुप्त अभिलेखों में 'अक्षपटलाधिकृत' नामक अधिकारी का उल्लेख है। विविध शासनवंशीय उथल-पुथलों के कारण ये विवरण अब अप्राप्य हैं।

यह कहना सत्य नहीं है कि भारत में इतिहास उपेक्षित रहा। तथापि, कुछ अर्थों में इसकी उपेक्षा की गई। उदाहरण के लिए, जब भी किसी धर्म अथवा दर्शन की प्रमुख परम्परा का संकलन किया गया, इसके लेखकों अथवा प्रतिपादकों के विषय में ठीक-ठीक तथा विस्तृत विवरण नहीं रखा गया। न ही परवर्ती अंशों को प्राचीन-तर भाग से पृथक रखने की चेष्टा की गई। बृहद्काय वेदों, पुराणों के रचनाकारों के विषय में हम सर्वथा ज्ञान शून्य हैं। इसी प्रकार जब रामायण, महाभारत तथा पुराणों को अनुश्रुत इतिहास के रूप में कल्पित किया गया तथा उन्हें काल्पनिक

६. द्र० आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा अर्धकाल्पनिक प्राचीनता से समन्वित किया गया तो एक आलोचनात्मक विवेक द्वारा ऐतिहासिक सामग्री को अनैतिहासिक सामग्री से पृथक् नहीं किया गया। शासकीय प्रलेखों के आधार पर जब बाणरचित **हर्ष रचित** तथा कल्हणरचित **राजतरङ्गिणी** जैसी ऐतिहासिक जीवनियां लिखी गई तो इतिहास और कल्पना के समन्वयन को बचाने के लिए उपयुक्त चेष्टा नहीं की गई। यद्यपि **राजतरङ्गिणी** में तथ्यों को कल्पना से पृथक् करने का प्रयास है, किन्तु सामान्यतया यहां भी इतिहासकार कवि की भूमिका ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ता है।

वस्तुतः भारतीयों ने केवल जानकारी के लिए ऐतिहासिक तथ्यों के लेखन में अपेक्षित रुचि नहीं लिया। अतीत तथा इसकी स्मृति की सुरक्षा को उन्होंने धार्मिक तथा काव्यात्मक मूल्यों के अधीनस्थ रखा। इतिहासकार एक आलोचनात्मक बुद्धि से समन्वित तथा केवल अतीत के तथ्यों में रुचि रखने वाला व्यक्ति होता है तथा इतिहास एक आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक तथा पक्षपात शून्य लेखन है-इतिहासकार तथा इतिहास का यह आदर्श भारतीयों द्वारा अधिक महत्व ग्रहण करता हुआ नहीं प्रतीत होता।

अतीत के विषय में जो वस्तुतः महत्वपूर्ण है वह है उत्तराधिकार रूप में प्राप्त विचार तथा आदर्श न कि ऐतिहासिक विवरणों की निरन्तरता। वस्तुतः यह मूल्यों की बात है।[७] वस्तुतः ऐतिहासिक प्रक्रिया का वास्तविक अर्थ सभी सांस्कृतिक प्रकरणों को अर्थ के एक विकासशील संदर्भ के प्रकरण के रूप में प्रतिष्ठित होने में, अथवा दूसरे शब्दों में आत्म-बोध की गवेषणा के रूप में लिए जाने में निहित है।[८] वैयक्तिक जीवन के स्तर पर भी कोई व्यक्ति अपने अतीत से सम्बन्धित सभी घटनाओं तथा व्यक्तियों को याद नहीं रखता और न रख सकता है। वह केवल उन घटनाओं को, उन व्यक्तियों को याद रखता है जिन्हें वह कुछ महत्व प्रदान करता है। इसी प्रकार किसी भी समाज अथवा संस्कृति में वही बातें सुरक्षित रखी जाती हैं जिन्हें वह अपने लिए आवश्यक तथा मूल्यवान् समझती हैं। प्राचीन यूनानी तथा चीनी संस्कृति में राज्य को सर्वोपरि महत्व दिया गया तथा इसे मानव-जीवन की सभी आकांक्षाओं की पूर्ति का निमित्त माना गया। राजा देव-पुरुष होता था जो मनुष्य तथा आकाश के बीच स्थित था तथा राज्य की समृद्धि अथवा विपदात्मक स्थिति उसके कुशल अथवा अकुशल आचरण का प्रतिबिम्बन मात्र समझी जाती थी। इन संस्थाओं को

---

७. समस्त मानवीय कार्यव्यापारों और इसी कारण इतिहास की मूल्याभिमुखता के ऊपर विस्तारपूर्ण दार्शनिक विवेचन के लिए द्र० यशदेव शल्य, **ज्ञान और सत्**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७, में 'मानव प्रतिमा' शीर्षक अध्याय।

८. द्र०, जी० सी० पाण्डे, **द मीनिङ्ग एण्ड प्रोसेस आफ कल्चर**, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १९७२, पृ० २०; पुस्तक के द्वितीय अध्याय में लेखक ने प्रभावपूर्ण ढंग से यह तर्क किया है कि "ऐतिहासिक प्रक्रिया को प्रमुखतः आध्यात्मिक-प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह सर्वोपरि मूल्य प्रदान दिए जाने के कारण, इनकी स्मृति को इन संस्कृतियों में सावधानी से सुरक्षित करने का प्रयास किया गया है। भारत में अर्थ अथवा भौतिक शक्ति को सर्वोपरि मूल्य कभी नहीं माना गया। आजकल कुछ लोग इस बात पर विशेष बल देने लगे हैं कि भारतीय संस्कृति में अध्यात्म और धर्म पर अधिक बल नहीं था तथा इसे सर्वोपरि मूल्य माना जाता था। यह कहना ठीक नहीं है। उनके इस कथन के पीछे यह भ्रामक धारणा काम करनी प्रतीत होती है कि 'अध्यात्म' तथा 'सेक्यूलरिज्म' के बीच विरोध है। निस्संदेह, इनके मस्तिष्क में 'सेक्यूलरिज्म' की एक विचित्र अवधारणा स्थित जान पड़ती है तथा वे सभी धर्मों के उच्छेद में ही इस आधुनिक मूल्य की उपलब्धि मानते हैं। धर्म की सामाजिक उपयोगिता के प्रश्न पर काफी पहले से चिन्तकों में एक विवाद चला आ रहा है। जहाँ कुछ लोग इसे समस्त मानव पर्येषणा का चरम बिन्दु, नैतिकता की भित्ति तथा सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक शान्ति का मूल स्रोत माना है, वहीं कुछ लोग इसे असहिष्णुता तथा कट्टरता का कारण एवं विकास में बाधा स्वरूप मानते हैं। जहां दुरखाइम ने धर्म को समस्त उच्च संस्कृति का स्रोत बताया, मार्क्स ने इसे जनसामान्य की अफीम की संज्ञा प्रदान की। जो भी हो, यह एक विवेच्य प्रश्न है; जहां तक प्राचीन भारतीय संस्कृति में अध्यात्मिक मूल्यों की सर्वोपरिता में आस्था होने का प्रश्न है, इसमें अविश्वास केवल एक दुराग्रह ही कहा जाएगा। मूल भारतीय चिन्तना अनिवार्य रूप से दुःखों के आत्यन्तिक विनाश अथवा मुक्ति की ओर उद्दिष्ट रही है। इस मान्यता के अनुसार ऐतिहासिक काल में स्थित इहलौकिक वस्तुएं अनित्य हैं और इस कारण उनके प्रति नित्य कामना अवाञ्छनीय है। मानव इतिहास का मूल्य शक्ति अथवा धन की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि में न निहित हो कर आत्मोत्कर्ष तथा आध्यात्मिक अनुभूति में निहित है। आध्यात्मिक मूल्यों पर इस विशेष बल के कारण ही भारत में तथाकथित 'सेक्यूलर' साहित्य इतना कम और आध्यात्मिक तथा धार्मिक साहित्य इतनी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है; वेद, गीता, पुराण आदि पूरी निष्ठा के साथ इतने दीर्घकाल से अक्षरशः सम्प्रेषित हुए हैं। यहां राज्यों तथा राजाओं के इतिहास का लेखन उनके अधिकारियों का उत्तरदायित्व समझा जाता था; सम्पूर्ण संस्कृति इसके प्रति अधिक रुचि नहीं रखती थी। प्राचीन यूनानी तथा चीनी संस्कृति में राज्य पर दिए गए बल को ध्यान में रखने पर यह विभेद स्पष्ट हो जाएगा। इस प्रकार यह कहना ठीक नहीं है कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था; उनके मस्तिष्क में इतिहास की वस्तुतः भिन्न अवधारणा थी।

इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि 'इतिहास' को अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करते रहे हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषद् साहित्य में [६] ज्ञान की इस शाखा को इतिहासवेद की संज्ञा से अभिहित किया गया

---

६. **शतपथ ब्राह्मण, १३. ४. ३; छान्दोग्य उपनिषद्, ७. १. २।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। वास्तव में इतिहास-पुराण दोनों संश्लिष्ट रूप में उल्लिखित हुए हैं और उन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह एक सर्व ज्ञात तथ्य है कि वेद हिन्दुओं के पवित्रम धर्मग्रन्थ हैं जिस कारण इन्हें अपौरुषेय माना जाता है। इतिहास को वेद कहना ही इस शास्त्र के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का पर्याप्त परिचय देता है, और वह भी इतने प्राचीनकाल से। उत्तरवर्त्ती भारतीय विचारधारा में भी इतिहास को वेद समझने की परम्परा विद्यमान रही। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि "तीन वेद-साम, ऋक् और यजुस्-वेदत्रत्री बनते हैं। तथा इतिहासवेद के साथ ये वेद के नाम से जाने जाते हैं।" राजा की दिनचर्या में इतिहास-श्रवण को कौटिल्य ने एक आवश्यक क्रिया बताया है: मध्याह्न से पूर्व का समय सैनिक प्रशिक्षण में बिता कर राजा को मध्याह्न का समय इतिहास-श्रवण में बिताना चाहिए। इस प्रसङ्ग में कौटिल्य ने इतिहास के घटक अङ्गों का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी आते हैं।[१०] इस प्रकार इतिहास का अर्थ केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन अर्थात् साम्राज्यों के अभ्युदय और पतन की कथा ही नहीं हैं अपितु इतिहास का अध्ययन नैतिक नियमों, सामाजिक संस्थाओं और वैधिक नियमों का भी समावेश करता है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के इस प्रारम्भिक युग में ही ऐतिहासिक साहित्य-सृजन का प्रचलन हो चुका था और किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक कृतियों का अस्तित्व विद्यमान था। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्राचीन साहित्य में इतिहास, पुराण तथा इतिहास-पुराण के प्रचुर उल्लेख उपलब्ध हैं। किन्तु ये तत्कालीन ऐतिहासिक कृतियां आज अनुपलब्ध हैं। मैक्समूलर का विचार था कि वैदिक साहित्य में जिस सामग्री को 'पुराण' नाम से अनिहित किया गया है उसी का स्थान रामायण तथा महाभारत ने लिया है तथा परवर्त्ती पुराणों में भी—यद्यपि कुछ परिवर्तित रूप में—इस सामग्री को अस्तित्वमान मानना चाहिए। सामान्यतया यह माना जाता है कि वैदिक युगीन प्राचीन इतिहासों का सम्प्रेषण मौखिक रूप से ही सम्पन्न होता था। किन्तु सीग का विचार है कि इसके अवशेष वैदिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं—ब्राह्मणों, सूत्रों इ०—में बिखरे हुए हैं।[११] ब्राह्मणों के युग में पुराण-साहित्य ने एक निश्चित स्वरूप ग्रहण किया तथा याज्ञिक अनुष्ठानों के समय इनका श्रवण आवश्यक माना गया। समय की गति के साथ-साथ इतिहास-साहित्य के आकार में भी वृद्धि होती गई और अन्ततः यह रामायण, महाभारत तथा पुराणों के माध्यम से एक सुनिश्चित रूप को प्राप्त हुआ। यास्क के समय तक एक विशिष्ट प्रकार के रचनाओं का अस्तित्व प्रतिष्ठित हो चुका था जिन्हें 'ऐतिहासिक' कहा

---

१०. अर्थ शास्त्र, १. ५।

११. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, जि० ७, पृ० ४६० इ०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता था। ये वेदों की व्याख्या एक विशेष दृष्टिकोण से करते थे; अन्य विशिष्ट दृष्टिकोणों से वेदों पर विचार करने वाले। रचनाकारों को 'निरुक्त' 'याज्ञिक' तथा 'पूर्व याज्ञिक' तथा 'वैयाकरण' इत्यादि कहा जाता था।

वैदिक काल में ही ऐतिहासिक साहित्य के सृजन की परम्परा अस्तित्व में आ चुकी थी और इस युग की विविध ऐतिहासिक रचना-विधाओं से कालान्तर में विभिन्न ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ।[१२] इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में विभिन्न स्थानों पर उद्धृत शिक्षकों की वंश-सूचियों का उल्लेख किया जाना चाहिए। ब्राह्मण काल तक वैदिक याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रचुर जटिलता का समावेश हो चुका था। वैदिक मौखिक शिक्षा परम्परा में इस ज्ञान की अक्षुण्णता क्रमागत शिक्षक-शिष्य-परम्परा के कारण ही संभव हो सकी।

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के विकास में सूतों का महत्वपूर्ण योग रहा है और वैदिक युग की राजनीतिक संरचना में इन्हे आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। परम्परा के अनुसार इन्हें राजकीय तथा पुरोहित-शिक्षकों की वंश-तालिका बनाने और उन्हें सुरक्षित रखने का श्रेय प्राप्त है।

वंश-साहित्य के सृजन की परम्परा दीर्घकाल तक चलती रही। 'वंश' और 'वंशानुचरित' पुराण-साहित्य के आवश्यक अङ्ग बताए गए हैं और पुराणों में विभिन्न शासन वंशों के वंश-वृक्ष दिए गए हैं। पुराणों के अतिरिक्त 'वंश' के रूप में ऐतिहासिक रचना का विकास कई दिशाओं में मुखरित हुआ।[१३] साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त, वंश ऐतिहासिक रचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष राजकीय कार्यालयों में पल्लवित हुआ। ज्ञात ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कम से कम मौर्यकाल से शासन की ओर से अभिलेखागारों की स्थापना की जाने लगी थी। कौटिल्य की सूचना के अनुसार, ये राज्य-लेखागार अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं के अतिरिक्त परम्पराओं, व्यवसायों के इतिहास तथा देशों, ग्रामों, परिवारों और नियमों के संव्यवहारों का भी लेखा रखते थे; उपहार के रूप में प्राप्त राजकर्मचारियों को प्राप्त आयों तथा राजा की पत्नियों और पुत्रों की आय का हिसाब रखना भी उनके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आता था और जो महत्वपूर्ण है वह यह है कि उनसे संधियों और मित्र अथवा शत्रु राज्यों से प्राप्य अथवा उनको देय उपहारों इत्यादि का भी सही-सही विवरण रखने की अपेक्षा की जाती था।[१४] युवान च्वाङ्ग के विवरण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[१५]

---

१२. विस्तृत विवेचन के लिए द्र०, यू० एन० घोषाल, **स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर**, कलकत्ता, १९५७ तथा वी० एस० पाठक, **ऐन्श्येन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया** एशिया पब्लिशिङ्ग हाऊस, १९६६, अध्याय १।

१३. द्र०, पाठक, **वही**, पृ० १९-२१।

१४. **अर्थ शास्त्र**, २. २५।

१५. वाटर्स (सं०) **युवान च्वाङ्ग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया**, लन्दन, १९०४, जि० १, पृ० १५४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजकीय शासन पत्रों से संबंधित अध्याय में कौटिल्य ने इन प्रपत्रों के विषय में यह निर्देश दिया है कि इनमें लेख जारी करने वाले शासक का नाम, वंश तथा विरुदों का होना अपेक्षित है।[१६] **वृहस्पति स्मृति** में भी भूमिदान विषयक प्रपत्र में वंश (राजकीय वंश तालिका) का दिया जाना आवश्यक बताया गया है।[१७] शासन वंशों से संबंधित ये लेखागारिक प्रपत्र अब सर्वथा अप्राप्य हैं।

ऐतिहासिक लेखनों का उद्भव आकस्मिक ढंग से नहीं होता; वे किसी न किसी दार्शनिक निष्ठा की अपेक्षा रखते हैं। एक विशद दृष्टिकोण से विचार करने पर इतिहास-दर्शन में वस्तुत: मानव जीवन की प्रक्रिया पर एक चिन्तनशील विमर्श संपन्न होता है। ऐतिहासिक विकास के स्वरूप तथा उसकी विविध अवस्थाओं की चर्चा के प्रसङ्ग में ऐसी जिज्ञासाएं उठती हैं और उनका समाधान किया जाता है कि दर्शन तथा ऐतिहासिक विमर्श का मिथश्छेदन अनिवार्य सा हो जाता है। मानव-स्वरूप का निर्धारण उसकी स्वयं-विषयक अवधारणा द्वारा होता है; इसी बिन्दु पर दार्शनिक विचार मनुष्य की चिन्तन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।[१८] क्योंकि दर्शन का प्रमुख कार्य अन्ततः मानव अस्तित्व के रहस्यों का समाधान एवं तदनन्तर मनुष्य की नियति को सुनिश्चित करना है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है? उसके समक्ष परम लक्ष्य क्या हैं? तथा इस लक्ष्य विशेष की प्राप्ति के साधन क्या हैं?—इस प्रकार के विचार-विमर्शों में ऐसी जिज्ञासाएं उठती हैं और इनके समाधान की प्रक्रिया में जो उत्तर प्राप्त होते हैं वे वस्तुत: उस दृष्टिकोणविशेष का निर्धारण एवं निश्चयन करते हैं जिससे ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया को समझा जाता है। इन्हीं उत्तरों से कोई समाज अथवा राष्ट्र यह जानता है कि उसके अतीत में मूल्यवान क्या है और इस ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वह उसे सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। क्योंकि किसी राष्ट्र अथवा समाज के संदर्भ में-वैसे किसी व्यक्ति के अपने इतिहास के संदर्भ में भी यह सत्य है—इतिहास उस राष्ट्र अथवा समाज द्वारा अपने अतीत में मूल्यवान समझे जाने वाली वस्तुओं की सुरक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस तथ्य विशेष को ध्यान में रखते हुए प्रमुख भारतीय दार्शनिक अवधारणाओं में निहित ऐतिहासिक समस्याओं पर विचार प्रासङ्गिक होगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि इसमें किसी प्रकार के संदेह के लिए स्थान नहीं दिखाई पड़ता कि ईश्वरवादी सम्प्रदायों तथा सांख्य-योग दर्शन का पुराणों एवं महाभारत में प्राप्य ऐतिहासिक लेखन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार भौतिकवादी लोकायत दर्शन के प्रभाव के परिणामस्वरूप शासकों में पुरोहितों के प्रभाव से मुक्त होकर राजकीय प्रतिष्ठा

---

१६. **अर्थशास्त्र**, ४. २८।

१७. **वृहस्पति स्मृति**, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, बड़ोदा, पृ० ६२।

१८. द्र० माइकेल भदे, **माडर्न फिलासफी आफ हिष्टरी : इट्स ओरिजिन एण्ड डेस्टिनेशन**, दी हेग, १९७०, पृ० ३; हेनरे इरेले, **द ला कोनेसांस हिस्तारिक**, पेरिस, १९५४, पृ० २३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उद्घोषण की आकांक्षा तथा शासकीय प्रपत्रों के नियमित लेखन हेतु एक विशेष प्रकार के अधिकारी वर्ग की नियुक्ति में रुचि उत्पन्न हुई होगी। संप्रति हमारा मन्तव्य प्राचीन भारतीयों की कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक अवधारणाओं में अन्तर्निहित ऐतिहासिक पूर्वापेक्षाओं पर विचार करना मात्र है।[१९]

ऊपर हमने यह कहा है कि मूल भारतीय चिन्तना अध्यात्म पर विशेष बल देती है तथा मोक्ष को परम मूल्य स्वीकार करती है। यह मूल्य अतिमा में स्थित है तथा मनुष्य को स्थिर आसक्ति केवल इसी के प्रति होनी चाहिए। ऐतिहासिक काल में स्थित सभी लौकिक वस्तुएं नश्वर हैं और इस कारण उनमें इस प्रकार की आसक्ति केवल बन्धन का कारण बनेगी। यहां यह भ्रान्ति हो सकती है कि इस तर्क के अनुसार अन्य सांसारिक मूल्यों का सर्वथा मिथ्यात्व तथा उनकी ओर उद्दिष्ट सभी कार्यव्यापारों की निरर्थकता सिद्ध होती है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि भारतीयों ने ऐतिहासिक काल के विशेष महत्व को स्वीकार किया है जिसमें रहते हुए ही एक विशेष प्रकार का आचरण करते हुए मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना है। मोक्ष की प्राप्ति एकाएक नहीं हो जाती; मनुष्य अपने व्यक्तित्व का निरन्तर उत्कर्ष करते हुए इसे प्राप्त करता है और इसके लिए काल-सीमा का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति की अपनी क्षमताओं पर होता है। अतएव, जब तक लक्ष्य अप्राप्त है तब तक संसार और इसके सभी कार्यव्यापार मूल्यों से संयुक्त है और प्रत्येक व्यक्ति को इसमें प्रवृत्त होना है, यद्यपि उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वे सभी 'धर्म' अथवा नैतिक नियम से नियंत्रित हों। इस प्रकार, पुरुषार्थ की अवधारणा में 'धर्म' के साथ 'अर्थ' और 'काम' 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में स्वीकार किए गए हैं, तथा ऐतिहासिक काल में रहने वाले सभी लोगों के लिए वे अन्वेष्य हैं। परम सुख तथा शान्ति की दृढ़ इच्छा ने भारतीयों को इहलोक के महत्व से विमुख नहीं किया; केवल उन्होंने इहलोक को परम मूल्य नहीं स्वीकार किया। इसी विश्वास के कारण भारतीय एक गौरवपूर्ण अतीत की रचना कर सके और उन्होंने मानव जीवन से संबंधित विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपलब्धियां की। इसके अतिरिक्त, भारतीय चिन्तकों का एक ऐसा वर्ग भी था जो किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं करता था और वर्तमान जीवन को ही एकमात्र सत्य मानता था। लोकायत दर्शन ने 'अर्थ' ओर 'काम' मात्र को मूल्य माना और इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिन्तना में भौतिकवादी प्रवृत्ति का अनुप्रवेश किया।

भारतीय जनमानस को प्रभावित करने वाली प्रमुख दार्शनिक अवधारणाओं में कर्म की अवधारणा का विशेष स्थान है। जीवन में चतुर्दिक दृश्यमान विविधताओं

---

१९. एक अन्य स्थान पर मैंने इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के निर्माण के ऊपर उनमें प्रभाव को जानने के उद्देश्य से कुछ प्रमुख भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के विश्लेषण का प्रयास किया है, द्र० १९६९ में इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ़ एडवान्स्ड स्टडी, शिमला द्वारा आयोजित **सेमिनार आन हिस्टारिकल माडेल्स इन द स्टडी आफ ट्रेडीसन्स एण्ड चेन्ज इन इण्डिया** में 'बिलीफ्स अन्डरलाइङ्ग दी ऐन्श्येन्ट इण्डियन कन्शेप्शन आफ़ हिस्टरी' शीर्षक लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार के भोगों और अनुभवों के एक तर्कसम्मत स्पष्टीकरण की प्राप्ति कर्म के सिद्धान्त में देखी जाती है। इस सिद्धान्त की चर्चा में स्पष्टत: ऐतिहासिक काल में मनुष्य के स्थान का प्रश्न सन्निहित है और, अतएव, इतिहास-बोध के प्रसङ्ग में इस सिद्धान्त का एक विशिष्ट महत्व है।

सामान्यरूपेण कर्म के सिद्धान्त का अर्थ है 'मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी के अनुसार फल प्राप्त करता है।' यदि इसे दार्शनिक शब्दावली में कहा जाय तो इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक (नैतिक) कर्म अपने पीछे एक अदृष्ट शक्ति छोड़ता है जो भविष्य में किसी समय स्वानुरूप फल की प्राप्ति कराती है। कर्म का सिद्धान्त अनिवार्यत: संसार तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त से जुटा हुआ है और यह भविष्य उसके किसी भी अगले जन्म में पड़ सकता है। वैदिक युग के अनुष्ठानात्मक एवं कर्मकाण्डीय धर्म में इस प्रकार के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन असंभव था; किन्तु उपनिषदों में यह पूर्णत: सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त के रूप में मिलता है तथा ६ठीं शताब्दी के सभी दार्शनिक चिन्तकों ने इस पर तथा इससे संबंधित समस्याओं पर विचार-विमर्श आवश्यक समझा।

कर्म के सिद्धान्त की भाग्यवादी व्याख्या बड़ी स्वाभाविक है। तथा, भारत में इस प्रकार की व्याख्या—केवल साधारण अशिक्षित जनता में नहीं अपितु बुद्धि-वादियों तथा दार्शनिकों में भी, उदाहरणार्थ आजीवक सम्प्रदाय में—सर्वथा अज्ञात नहीं रही है। किन्तु यदि मनुष्य के सभी कार्यव्यापारों एवं उसके जीवन की सभी घटनाओं को पूर्व—नियोजित मान लिया जाय तो इससे इस अवधारणा का पूर्ण निराकरण सिद्ध होगा कि मनुष्य इतिहास का स्रष्टा है क्योंकि सृजन में कार्यस्वातंत्र्य की अपेक्षा निहित होती है। वह नियति के हाथ में एक खिलौनामात्र होगा जो ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया को कोई दिशा प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ है; उस स्थिति में सभी ऐतिहासिक घटनाएं किसी अतिमानवीय शक्ति की लीलामात्र मानी जाएंगी जिनमें मनुष्य द्वारा किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना का सर्वथा निरास होगा।

यहां यह उल्लेखनीय है कि कर्म के सिद्धान्त की तर्कसम्मत व्याख्या भाग्यवाद का पूर्ण निरास करती है और न ही प्रमुख भारतीय दर्शनों में—बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म विशेष रूप से उल्लेखीय हैं—इसे इस रूप में समझा गया है। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म दोनों स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह पूर्णतया मनुष्य के ऊपर है कि वह बन्धन में रहे अथवा उससे मुक्ति पा ले। वस्तुत: इस सिद्धांत को ठीक से न समझने के पीछे इस तथ्य विशेष की उपेक्षा होती है कि भारतीयों ने मानव के समग्र अस्तित्व के संदर्भ में सदैव दो स्तरों की परिकल्पना की है : माया का स्तर अथवा दृश्यमान विश्व तथा परमार्थ अथवा परम सत्य। प्रथम स्तर पर मनुष्य किसी अन्य प्राकृतिक पदार्थ के समान एक प्रदत्त ऐतिहासिक काल में रहता है जब कि दूसरे स्तर पर उसे प्राकृतिक जगत में निहित सभी ऐतिहासिकता एवं द्वैत के पार जाना होता है। कर्म के सिद्धांत के अनुसार, मनुष्य का नैतिक जीवन उसकी आध्यात्मिक नियति से संबद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है तथा जीवन की अयाथार्थता एवं नश्वरता के पारगमन के इच्छुक व्यक्ति को इसके माध्यम से एक आध्यात्मिक आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु भौतिक जीवन के संबंध में, जहां कि प्राकृतिक नियम अपने सामान्य ढंग से कार्य करते हैं तथा विविध भौतिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए जिनका सम्यक् नियन्त्रण मनुष्य के लिए आवश्यक है, इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दिया जाता।[२०] जब तक मनुष्य इस संसार में रहता है तथा अहं भाव से समन्वित होता है, वह एक स्वतंत्र कर्त्ता है; उसके पीछे एक लम्बा इतिहास है और उसे इस इतिहास को चरम परिणति तक पहुँचाना है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कर्म का सिद्धांत किसी भी रूप में कर्तृत्व भावना के निरास का सिद्धान्त नहीं है; मनुष्य संकल्प शक्ति से युक्त प्राणी है और उसमें इसको कार्य रूप में अनूदित करने की क्षमता है जिसके द्वारा वह इतिहास को एक निश्चित दिशा प्रदान करने में समर्थ है।

इस प्रकार, भारतीय चिन्तना के अनुसार सामान्यतया मनुष्य की स्वतंत्रता में विश्वास प्रकट किया गया है। किन्तु इतिहास-निर्माण कैसे होता है? प्रत्येक व्यक्ति इतिहास-स्रष्टा नहीं होता। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक समाज में इतिहास-निर्माण केवल कुछ जनों द्वारा संपन्न होता है; ऐतिहासिक शब्दावली में उन्हें 'महान् व्यक्ति' (जननायक) की संज्ञा दी जा सकती है। भारतीय चिन्तना में अवतारवाद के सिद्धांत से यदि धार्मिक परिच्छाया को हटा दिया जाय तो विविध अवतारों को इस प्रकार के महान् व्यक्तियों के रूप में समझा जा सकता है जो विभिन्न समयों में उत्पन्न हो कर अपने समाज और परिवेश के अवाञ्छनीय तत्वों को दूर कर उन्हें एक नया रूप प्रदान करते हैं। गीता में अवतारवाद के सिद्धान्त को सर्वाधिक सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥[२१]

इस प्रकार इस अवधारणा के अनुसार मानव इतिहास में जब जब नैतिक अथवा सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न होती हैं, तब तब साधुजनों की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए ईश्वर स्वयं पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करता है। भारतीय विचार के अनुसार ईश्वर तत्व प्रत्येक जीव में विद्यमान है, अवतार सामान्य जीव से केवल इस अर्थ में विशिष्ट होता है कि इसमें यह तत्व अपेक्षाकृत पर्याप्त अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। ये अवतार या अपने युग के महान् व्यक्ति समसामयिक अपेक्षाओं को ठीक से पहचानते हैं और तदनुरूप कार्य करते हुए इतिहास-प्रक्रिया को एक विशिष्ट आयाम प्रदान करते हैं। इतिहास-दार्शनिकों के एक वर्ग के अनुसार, ये

---

२०. 'कर्म' व्यापार के विभिन्न स्तरों पर विस्तृत विवेचन के लिए द्र० मेरी पुस्तक **दी एज आफ विनय**, मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ८४-८५।

२१. **गीता** ४, ७-८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महान व्यक्ति ही इतिहास-स्रष्टा होते हैं। किन्तु, इतिहास-दर्शन के इस संप्रदाय के विरुद्ध एक अन्य विचार भी है जो ऐसे महान् व्यक्तियों को इतना महत्व नहीं देता और जिसके अनुसार स्वयं ये महान् व्यक्ति अपने युग की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया इन व्यक्तियों की इच्छा एवं कार्य व्यापारों पर आश्रित नहीं होती अपितु यह एक स्वयं विकासशील धारा है जिसमें इन व्यक्तियो की नैमित्तिक भूमिका मात्र होती है। वस्तुतः, अवतार-वाद में इन दोनों विचारों का समन्वय देखना चाहिए। ये अवतार एक निश्चित प्रयोजन से आते हैं किन्तु ये सामान्य विश्व व्यवस्था—जो विश्व के विविध प्राणियों तथा वस्तुओं को समञ्जसित रूप में व्यवस्थित रखती है—से स्वतंत्र नहीं होते। विश्व की प्रत्येक वस्तु उसी परम सत्ता से उद्भूत है।[२२] यह परम सत्ता 'काल' है जो सबको चलाता है[२३] और किसी विशेष युग अथवा परिस्थिति में अव-तार विशेष के जन्म का निर्धारण भी इसी के द्वारा होता है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि अवतारवाद ने कभी कभी भारतीय मस्तिष्क में एक भाग्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया। विपत्ति के अवसर पर अकर्मण्य हो कर ईश्वर के अवतार द्वारा विपत्ति निवारण की आशा इसी प्रवृत्ति की देन है। किन्तु इस सिद्धांत ने भारतीयों को एक विशिष्ट जीवनी-शक्ति तथा आशावादिता भी प्रदान की जिसके कारण वे विभिन्न संकटों तथा विपत्तियों को यह विश्वास रखते हुए झेल सके कि वर्तमान विपत्ति की घड़ी कुछ ही काल के लिए है और उपयुक्त समय पर कोई दैवी सत्ता उत्पन्न होने वाली है।

अवतारवाद में एक अन्य ऐतिहासिक निहितार्थ छिपा हुआ है। अवतार वाञ्छनीय तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही यह एक विरोधी शक्ति की पूर्वापेक्षा रखता है जो दुष्टता का प्रतीक होती है। इन दोनों विरोधी शक्तियों में शाश्वत काल से संघर्ष चला आ रहा है जिसमें कभी एक की और कभी दूसरे की प्रभुत्ता स्थापित होती रहती है और उसी के अनुसार युग विशेष परिभाषित होता रहता है। इतिहास में इस प्रकार का द्वैध पूर्वापेक्षित है क्योंकि इसके बिना इति-हास में किसी प्रकार के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक वस्तु-सामग्री कभी भी एकरूप नहीं होती। भारतीयों ने केवल इस आशावादिता को अप-नाया है कि अन्ततः साधु तत्त्व की ही विजय होगी। पौराणिक विश्वास के अनुसार वर्तमान चक्र (कलि युग) के अवतार का जन्म अभी होना है। इसी प्रकार, बौद्धों के अनुसार मैत्रेय बुद्ध का जन्म भविष्य में किसी समय होने वाला है। इस प्रकार के विश्वास में एक इलहामी तत्त्व विद्यमान है जिससे ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया को एक विशेष अर्थ तथा प्रयोजन प्राप्त होता है।

---

२२. **गीता** १०.८।

२३. कलयति इति कालः; कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत्।
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवतारवाद के सिद्धांत से घनिष्ट रूप से जुटा हुआ युगों का सिद्धांत है। भारतीय विचार में काल के रेखीय विकासक्रम में विश्वास नहीं है; इस विकास-क्रम को चक्रीय माना गया है। सत्, त्रेता, द्वापर तथा कलि —ये चार युग इसी उल्लेख-क्रम में एक दूसरे का अनुगमन करते हैं। प्रत्येक युग उसके अन्दर धर्म की सामान्य स्थिति के आधार पर परिभाषित होता है। धर्म को एक गाय के रूप में परिकल्पित किया गया है जो सत्युग में अपने चारों पैरों पर खड़ी होती है किन्तु प्रत्येक अनुवर्त्ती युग में उसके एक एक पैर विनष्ट होते जाते हैं और अन्ततः कलियुग में उसे एक पैर पर ही खड़ा रहना होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक अनुवर्ती युग में अधर्म की अपेक्षाकृत वृद्धि की मान्यता के कारण युग सिद्धांत को मानव-नियति की निराशावादी व्याख्या नहीं मानना चाहिये; न ही यह सामान्य अवनति का युग है। कलियुग में केवल 'धर्म' का ह्रास बताया गया है, भौतिक सुखों के साधनों तथा वैज्ञानिक एवं यांत्रिक उपलब्धियों का नहीं। आवश्यकता से अधिक समृद्धि तथा प्रचुर सुख-साधनों के बीच धार्मिकता तथा नैतिकता का पालन दुष्करप्राय होता है एवं मानव-जीवन में परस्पर विरोध की संभावनाएं बढ़ जाती हैं; इन दोनों में अनिवार्य विरोध नहीं है किन्तु जनसामान्य के स्तर पर ऐसा ही घटता दिखाई देता है। वर्तमान युगीन सामान्य स्थिति, जिसमें मनुष्य ने भौतिक तथा वैज्ञानिक–यांत्रिक क्षेत्र में अचिन्तनीय उपलब्धियां प्राप्त की है किन्तु साथ ही विक्षोभ, असंतोष, पूर्ण विनाश के भय से आक्रान्त है, संभवतः भारतीयों की युग-परिकल्पना का परिपोषण करती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कलियुग में परम लक्ष्य की प्राप्ति की संभावनाएं कम हो जाती हैं। प्रत्येक प्रयासशील व्यक्ति अपने उद्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ है; अपितु, इस युग में लक्ष्य प्राप्ति के साधन भी अपेक्षाकृत सरल होते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर, युग-सिद्धांत के अनुसार इतिहास का पथ न तो स्थिर है और न ही यह एक सीधी रेखा में है। यह चक्रीय है जिसमें अभ्युदय एवं पतन दोनों ही स्थान पाते हैं। प्रत्येक समाज एवं राष्ट्र के जीवन में विभिन्न अवसरों पर कभी उत्थान का समय आता है, कभी पतन एवं ह्रास का; इतिहास की वस्तु सामग्री एकरूप न हो कर इन दोनों से ही निर्मित होती है। युग सिद्धांत में यही ऐतिहासिक अर्थ निहित दिखाई पड़ता है।

ऊपर एक अन्य स्थान पर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि भारतीय एक ज्ञान-शाखा अथवा विषय के रूप में इतिहास को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते थे। यहां तक कि कुछ वैदिक मंत्रों को भी —जिनके 'अपौरुषेयत्व' पर भारतीय परंपरा में बहुत अधिक बल दिया गया है —इतिहास की संज्ञा प्रदान की गई है अथवा उन्हें इतिहास के लक्षणों से संपन्न माना गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने **निरुक्त** (४.६) में इसे ऋक्, गाथा तथा इतिहास का सम्मिश्रण बताया है। **बृहद्देवता** (८.११) में एक पूरे सूक्त (१०.१६२) को 'इतिहास सूक्त' की संज्ञा प्रदान की गई है। ब्राह्मण साहित्य (उदाहरणार्थ, **शतपथ**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण, १३, ४, ३, १२) तथा उपनिषदों में (उदा०, **छान्दोग्य** ७. १. २.) ऐतिहासिक लेखनों को 'इतिहास-वेद' कहा गया है —यहां तक उल्लेखनीय है कि भारतीयों के अनुसार वेद पृथ्वी पर पवित्रतम वस्तु हैं। ऐतिहासिक लेखनों के लिए इतिहास के अतिरिक्त 'आख्यान' तथा 'पुराण' शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। पुराण निस्संदेह एक अधिक व्यापक शब्द था किन्तु कम से कम अथर्ववेद में एक स्थल पर (११. १०. ७) इसे 'प्राचीन कथा' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु सामान्यरूपेण इतिहास-पुराण का एक संशिलष्ट शब्द के रूप में प्रयोग हुआ है।

यद्यपि वैदिक मंत्रों में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री मिलती है तथा परवर्ती साक्ष्यों द्वारा इस काल में ऐतिहासिक रचनाओं का अस्तित्व माना गया है, तथापि एक विषय के रूप में इतिहास का अस्तित्व स्पष्टतः नहीं प्रमाणित होता। किन्तु अथर्ववेद (१५. ६. ४.) तथा ब्राह्मणों (**शतपथ,** ४. ३. १२. १३; ११. ५. ६. ८) से यह स्पष्ट है कि इतिहास निस्संदेह ऐतिहासिक लेखनों का परिचायक था।[२४] **निरुक्त** तथा **बृहद्देवता** जैसे प्रारम्भिक ग्रन्थों में इतिहास को 'पुरावृत्त' (='प्राचीन घटनाएं,) का संकुचित अर्थ प्रदान किया है किन्तु इतिहास विषयक विकसित एवं परिपक्व भारतीय अवधारणा में यह न केवल राजनीतिक इतिहास जैसी ऐतिहासिक रचनाओं को सन्निविष्ट करता था अपितु इसके अन्तर्गत नैतिक इतिहास, धार्मिक इतिहास, सामाजिक संस्थाओं का तथा अर्थ एवं राजनीति इत्यादि का भी इतिहास आता था। उदाहरणार्थ, कौटिल्य के **अर्थ शास्त्र** में[२५] पुराण, इतिवृत्त, अख्यायिका (कथाएं), उदाहरण (शिक्षाप्रद दृष्टान्त), धर्म शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र को इतिहास की संज्ञा से विशेषित बताया गया है।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के चार प्रकार दिखाई पड़ते हैं अथवा, यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय, प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक लेखन को इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : १. धार्मिक कथाओं तथा पुराणकथाओं के रूप में इतिहास, २. शासन वंशीय प्रलेखों के रूप में इतिहास, ३. जीवन-चरित (जिसमें धार्मिक पुरुषों की जीवनियाँ भी सम्मिलित हैं) के रूप में इतिहास, तथा ४. इतिवृत्त के रूप में इतिहास।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत साहित्य का वह प्रकार आता है जिसमें अतीत का विवरण संयोग बश कर दिया गया है अर्थात् जिसमें ऐतिहासिक सामग्री धार्मिक कथाओं तथा पुराण कथाओं के साथ घनिष्ट रूपेण संलग्न है एवं इतिहास को उसमें से निकालना होता है। सर्व प्रथम हम वैदिक साहित्य को ही लें तो देखेंगे कि दशराज्य युद्ध जैसे स्पष्ट ऐतिहासिक अवतरणों को छोड़ भी दें तो विभिन्न धार्मिक एवं पुराण-कथा-विषपक अवतरणों में प्रचुर ऐतिहासिक सूचनाएं भरी पड़ी है। वे हमें न केवल धार्मिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचारों के विकास से परिचित करती हैं अपितु उनसे समसामयिक जीवन के विविध पक्षों—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक-

२४. पाठक, **वही,** पृ०६–७।
२५. **अर्थ शास्त्र,** १. ५. १०. अनु० शामाशास्त्री, मैसूर, १९६१, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का चित्रण भी प्राप्त होता है जो इतिहासकार के अध्ययन का एक प्रमुख विषय हैं। देवताओं का विवेचन हमारे समक्ष वैदिक मनुष्यों का सही स्वरूप प्रकाशित करता है –ऐसे लोग जो युद्ध-प्रिय थे, जो जीवन की सभी सुखकर वस्तुओं (रायः) तथा शक्ति वर्धक वस्तुओं (वाजः) को पाना चाहते थे, जो अपने शत्रुओं को पराजित करने में सहायक उपादानों, शक्ति तथा अश्व, को उच्च मूल्य प्रदान करते थे तथा जो देवताओं की प्रार्थना एक दुर्बल एवं असहाय प्राणी के रूप में नही अपितु समानता के स्तर से करते थे। यह देखने के लिए कि किस प्रकार एक देवता विशेष का परिवर्तनशील स्वरूप हमें सामाजिक परिवर्तन का अभिज्ञान करा सकता है, हम इन्द्र का उदाहरण ले सकते हैं, जो कि वैदिक मंत्रों का प्रमुख देवता है। इन्द्र का 'युद्ध-देवता' से 'वर्षा के देवता' में परिवर्तन एक घुमक्कड़ तथा लड़ाकू समुदाय का कृषकों के एक स्थायी स्थान पर रहने की अवस्था में संक्रमण का परिचायक है। पुराण-कथाओं द्वारा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकने का एक अन्य दृष्टान्त पुरुष सूक्त है जिसमें पुरुष के चार अङ्गों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का उद्भव बताया गया है; अब इसे सर्वमान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि मंत्र का प्रमुख प्रयोजन वस्तुतः सामाजिक-शरीर तथा इसके चार घटक अङ्गों की चर्चा है।

यहां हम दो महाकाव्यों—रामायण तथा महाभारत–को छोड़ कर सीधे पुराणों को लेते हैं जो इस प्रकार के साहित्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। सिद्धांत के अनुसार पुराण में पांच बातों का विवेचन है:—सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (ऋषियों तथा राजाओं की वंशावलियां), मन्वन्तराणि (मनुओं की वंशावली) तथा वंशानुचरित (राजाओं की वंशावलियां)। इनमें से प्रथम दो तथा चतुर्थ ब्रह्माण्ड–स्वरूप के विषय से संबद्ध हैं एवं वंश तथा वंशानुचरित मानवीय इतिहास से संबंधित हैं। पुराणों में हमें विभिन्न शासकों, शासन वंशों तथा शासकों के कार्यों की चर्चा प्राप्त होती है। पुराणों में एक अध्याय का नाम भुवनकोश है, शब्दशः जिसे विश्व वृत्तान्त से संबद्ध होना चाहिए। किन्तु, इसका प्रमुख प्रयोजन भारत वर्ष के भूगोल का विवरण प्रदान करना है। यह भारत वर्ष राजनीतिक दृष्टिकोण से अस्तित्वमान भारत वर्ष नहीं अपितु वह समस्त भू-क्षेत्र है जो भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत समझा गया है। इस कारण भारत के विवरण के प्रसंग में पुराण मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को भी सन्निविष्ट कहते हैं जो वस्तुतः इससे बाहर हैं। सामान्यरूपेण चौथी शताब्दी तक के भारत के भूगोल के विषय में पुराणों में बड़ी मूल्यवान सूचनाएं निहित हैं।[२६] कुछ समय पहले तक पुराणों को ऐतिहासिक मूल्य से सर्वथा शून्य माना जाता था। पुराणों का अध्ययन करते समय इस तथ्यविशेष को सदैव

---

२६. पुराणों के आधार पर प्राचीन भौगोलिक विवेचन के लिए उल्लेखनीय हैं : एस० एम० अली, जीओग्रेफी आफ़ द पुराणज । तथा एम० आर० सिंह, **ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द जीओग्रेफिकल डेटा इन दी अर्ली पुराणज**, पन्थी पुस्तक, कलकत्ता, १९७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मस्तिष्क में रखना चाहिए कि वे मनुष्य–इतिहास को एक सार्वभौमिक इतिहास के संदर्भ में रखते तथा समझते हैं, और इस दृष्टिकोण से आधुनिक इतिहास लेखन के बहुत बड़े भाग को पौराणिक कहा जा सकता है। कभी-कभी पुराण शासकों की शासनविधियों को अविश्वसनीय रूप से बहुत बड़ी संख्या प्रदान करते हैं एवं देशों एवं लोगों के विषय में अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देते हैं। इन कारणों से मेकाले जैसे आलोचकों ने इन्हें अविश्वसनीय तथा निरर्थक कहने को प्रेरित किया। किन्तु पुराणों के ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण कलियुग अर्थात् वर्तमान काल से पहले की घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रसंग में हैं, कलियुग के प्रसङ्ग में दिए गए विवरण तथा संख्याएं अत्यन्त विवेकपूर्ण हैं और पौराणिकों में इस बोध का अस्तित्व प्रदर्शित करते हैं कि वर्तमान ऐतिहासिक काल के तथ्यों को नहीं विकृत करना चाहिए। इसी प्रकार वे जब भारत के बाहर के प्रदेशों का विवरण देते हैं तभी उनमें अविश्वसनीयता दिखाई पड़ती है और यहां वे यात्रियों की कथाओं का स्वरूप ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुत: सुनी गई परम्परा तथा कल्पना के आधार पर दूरस्थ प्रदेशों का इस प्रकार का विवरण अकेले पुराणों की ही विशिष्टता नहीं है। इस प्रकार के विवरण यहां तक कि तथाकथित 'इतिहास के पिता' हेरोडोटस में भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, हेरोडोटस एक भारतीय जन-जाति की चर्चा के प्रसंग में कहता है कि उनके कान इतने बड़े होते हैं कि वे अपने संपूर्ण शरीर को इसमें लपेट लेते हैं। कुछ विद्वानों की शङ्कालुता के बावजूद, पुराणों के अध्ययन से उपलब्ध राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सूचनाओं को अन्य विद्वानों द्वारा विश्वसनीय माना गया है। पार्जिटर, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा हाजरा जैसे विद्वानों ने विद्वान्-समाज का पुराणों के प्रति दृष्टिकोण को बदल दिया है। आधुनिक शोधों ने पुराणों को पुन: प्रतिष्ठापित ही किया है एवं उनसे स्मिथ-जो यद्यपि भारतीय इतिहास के प्रति सहानुभूति परक दृष्टिकोण रखने वाला लेखक नहीं है—के इस कथन का समर्थन होता है कि "आधुनिक योरोपीय इतिहासकारों ने गलती से पौराणिक सूचियों के प्रति अविश्वास की प्रवृत्ति अपनाई है, किन्तु सूक्ष्म अध्ययन से उनमें पर्याप्त विशुद्ध तथा मूल्यवान परम्परा प्राप्त होती है।"

वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक लेखनों का अस्तित्व प्रमाणित होता है : वंश, गाथाएं, नाराशंसी एवं दानस्तुति। वंश पुरोहितों तथा राजाओं की वंशावलियों की सूची देते हैं जब कि अन्य तीन राजकीय जननायकों एवं संरक्षकों की प्रशंसा से संबद्ध हैं। परवर्ती काल में इन अव्यवस्थित ऐतिहासिक रचनाओं को एक सुसंगठित एवं व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हुआ। जहां एक ओर इस प्रकार के लेखनों का राजाओं तथा संरक्षकों की जीवन कथाओं (जिन्हें 'चरित' कहा जाता था) तथा शासकीय इतिवृत्तों (उदाहरणार्थ, कल्हण की **राजतरंगिणी**) के रूप में विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर इन्हीं ने राजाओं को अपने शासन-काल की घट-नाओं के विवरण–संग्रह के लिए भी प्रेरित किया। प्रारंभिक कालों में, जब कि राजकीय शक्ति का स्रोत ब्राह्मणों की प्रार्थनाओं में स्थित माना जाता था, तब राज्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन ब्राह्मणों को संरक्षण प्रदान करते थे एवं इस प्रकार के शासकीय विवरणों के लेखन का कार्यभार उन्हीं के ऊपर होता था; किन्तु कालान्तर में राजकीय शक्ति के स्रोत की इस अवधारणा में अविश्वास होने पर तथा राजाओं द्वारा अपने स्वतंत्र एवं सर्वोपरि प्रभुत्व की उद्घोषणा के पश्चात् ब्राह्मणों ने इस ओर उदासीनता दिखाई और उन्होंने राजनीतिक घटनाओं में रुचि लेना बन्द कर दिया। उनके लिए राजा का जीवन तथा उसके कार्य उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गए और उन्होंने इन्हें ब्रह्माण्डीय इतिहास के एक गौण अङ्ग के रूप में समझा। समय-समय पर कुछ दरबारी लेखकों ने अपने संरक्षकों की जीवन कथा पर पुस्तकें लिखीं किन्तु उनका विशेष प्रयोजन उन्हें साहित्यिक प्रतिभा तथा चातुर्य के एक प्रकाशन के रूप में प्रस्तुत करना था, एक ऐतिहासिक विवरण के रूप में प्रस्तुत करना नहीं। दूसरी ओर, राजाओं ने इस कार्य के लिए अपने अधिकारियों को नियुक्त करना प्रारंभ कर दिया जिनसे सावधानी पूर्वक घटनाओं के लेखन की अपेक्षा की जाती थी। कम से कम मौर्यकाल से इस प्रकार के विभाग का अस्तित्व प्रमाणित होता है; अशोक के लघु शिला लेख की येरागुडी-प्रति में 'करणिक' नामक अधिकारी की चर्चा है जो संभवतः लेखा-अधिकारी था।[२७] कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से तो निश्चितरूपेण इस प्रकार के एक विभाग का अस्तित्व प्रमाणित होता है। गुप्त अभिलेखों में 'अक्षपटलाधिकृत' नामक अधिकारी का उल्लेख है जिसे राजकीय प्रलेखों का प्रधान संग्रहक कहा जा सकता है। हर्ष के समय तक इस विभाग की निरन्तरता का समर्थन युवान च्वाङ्ग के साक्ष्य से होता है। किन्तु, प्रभूत मात्रा में हुए राजनीतिक उथल-पुथल के कारण ये राजकीय प्रलेख सुरक्षित नहीं रह सके और अब हमें नहीं प्राप्त हैं। यह स्मरणीय है कि प्राचीन भारत में लिखने वाले ब्राह्मण नहीं थे। ब्राह्मणों को राजकीय महत्व के इन प्रलेखों से कोई महत्व नहीं था और इस कारण उनके द्वारा बाद की पीढ़ियों के लिए इनकी सुरक्षा तथा संप्रेषण को आवश्यक न समझा जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। ब्यूलर का यह कथन उपयुक्त है कि भारतीय पंडितों ने श्री हर्ष के **नैषधीय चरित** पर टीकाएं लिखने तथा उसे सुरक्षित रखने में बड़ी रुचि दिखाई है किन्तु **नवसाहसांक चरित**,जिसमें कि लेखक के संरक्षक राजा के कार्यों का विवरण है, को विस्मरण के गर्त्त में जाने देने से रोकना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।[२८] प्राचीन भारत में ब्राह्मण ही अतीत के संरक्षक तथा संप्रेषक थे और इस प्रकार के लेखनों की विलुप्ति के लिए उनके उदासीन दृष्टिकोण को ही उत्तरदायी समझना चाहिए। इसके लिए उन पर दोष आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण नहीं था।

तथापि कभी-कभी वे अपने समसामयिक शासकों तथा संरक्षकों की जीवन-कथा-लेखन में प्रवृत्त हुए; साहित्य के इस वर्ग को 'चरित' कहा गया। वैदिक

---

२७. द्र० **इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली**, १९३५, पृ० ५६८।

२८. द्र० कीथ, **ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२० पृ० १४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आख्यानों को परवर्ती चरित-साहित्य का पूर्वरूप कहा जा सकता है।[२९] यहाँ मैं इन चरितों को उनसे पृथक् करना चाहता हूं जो कि राजकीय प्रलेखों तथा प्रशस्तियों के आधार पर लिखे गए और जिस कारण जिन्हें इतिवृत्त कहना अधिक उपयुक्त होगा (उदाहरणार्थ बाण रचित **हर्षचरित**)। प्रथम वर्ग में वे जीवन-चरित भी आएंगे जो महान् धार्मिक पुरुषों की जीवन-कथा से संबद्ध हैं। इस प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि **रामायण** को भी राम के चरित के रूप में प्रस्तुत किया गया है (रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु ऋषिसत्तम—**रामायण** १. ३१, ब्रह्मा की वाल्मीकि से प्रार्थना)। इस प्रकार चरित-साहित्य पर्याप्त प्राचीन है। भवभूति विरचित **महावीर चरित** तथा **उत्तर रामचरित** निस्संदेह राम के उपरोक्त 'चरित' पर आधारित हैं; भास का एक प्राचीनतर नाटक **बाल चरित** भी उसी आदर्श पर लिखा गया है। यह सच है कि इन पुस्तकों का इसके अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है कि ये विभिन्न धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं को आगे बढ़ाती हैं। जीवन-कथा के स्वरूप वाली कुछ और भी कृतियां हैं जिन्हें ऐतिहासिक प्रणय-कथा कहना अधिक उपयुक्त होगा; इन पुस्तकों का कथानक एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति के ऊपर होता है किन्तु इसमें लेखक की कल्पना तथा आलङ्कारिक प्रदर्शन का बहुत अधिक पुट होता है। भास विरचित **स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण** तथा कालिदास लिखित **मालविकाग्निमित्रम्** इस वर्ग के अन्दर आएंगे। इस शृंखला के एक परवर्ती दृष्टान्त के रूप में हम पद्मगुप्त लिखित (१००५ ईसवी) **नवसाहसांकचरित** को ले सकते हैं जिसमें लेखक ने एक पौराणिक कथानक के परिवेश में मालवा के सिन्धुराज नवसाहसांक का इतिहास देने का प्रयास किया है। इन कृतियों के प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि यद्यपि इनका मूल कथानक किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आधारित है, किन्तु इसे पौराणिक कथाओं अथवा कल्पनाओं से मुक्त रखने की कोई चेष्टा नहीं की गई है। वे काव्यात्मक अलङ्कारों से पूर्ण हैं तथा इनमें घटनाओं के यथातथ्य निरूपण अथवा प्रमाणिक विवरण की अपेक्षा काव्यात्मक उत्कृष्टता लाने पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐतिहासिक तथ्य उसी सीमा तक दिए गए हैं जहां तक कि वे काव्यात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं। इस प्रसङ्ग में दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है जो इतिहास के अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं यद्यपि वे उपरोक्त दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। ये हैं : वाक्पतिराज लिखित **गौडवहो** तथा विल्हण रचित **विक्रमाङ्कदेवचरित**। प्रथम में कवि के संरक्षक कनौज शासक यशोवर्मन् द्वारा किसी गौड शासक की पराजय का विवरण है (इस शासक का नाम नहीं दिया गया है); **विक्रमाङ्कदेवचरित** में चालुक्य शासक विक्रमादित्य की जीवन-कथा दी गई है।

बाण रचित **हर्ष चरित** तथा कल्हण रचित राजतरङ्गिणी इसी कोटि से उद्भूत हैं किन्तु इनके विकसित तथा विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप के कारण इन्हें इतिवृत्त के अन्तर्गत रखा गया है। ऐतिहासिक लेखन की एक स्वतंत्र कोटि के रूप

---

२९. पाठक, वही, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में इन पर विचार करने के पूर्व हम धार्मिक जीवनकथाओं पर संक्षिप्त चर्चा करना चाहेंगे।

हम लोग पहले ही वैदिक साहित्य में प्राप्त वंश-सूचियों का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कभी कभी अट्ठावन तथा साठ नामों तक शिक्षकों की अनुक्रमिक सूची दी गई है।[३०] सामान्यरूपेण यह विश्वास किया जाता है कि सूची के प्रारंभ में दिए गए देवताओं के नामों को छोड़ कर मनुष्यों के नाम अधिक संभवतया ऐतिहासिक-व्यक्तियों के नाम हैं।[३१] किन्तु, ये केवल नाम मात्र हैं एवं जीवन-कथा संबंधी अन्य कोई विवरण नहीं मिलता। उपनिषदों में अवश्य ही व्यक्तियों के दार्शनिक विश्वासों तथा व्यक्तियों के पारस्परिक संवादों का लेखन हुआ है, किन्तु यहां भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के साथ नामों का आकस्मिक संबंध मात्र दिखाई पड़ता है तथा इन व्यक्तियों के जीवन इत्यादि के विषय में अधिक कुछ नहीं ज्ञात होता। भारतीय लेखन में एक नियमित पवित्र जीवनकथा अथवा संघ के इतिहास के अनुप्रवेश का श्रेय बौद्ध धर्म को जाता है। यह स्मरणीय है कि प्रारंभिक बौद्ध धर्म में प्रारंभिक धर्मानुयायियों का ध्यान शास्ता के जीवन के प्रति उतना अधिक नहीं है जितना कि उनकी शिक्षाओं के ऊपर। इसी कारण प्रारंभिक पालि ग्रन्थों में हम बुद्ध की उतनी व्यवस्थित जीवन कथा नहीं पाते जितनी कि **महावस्तु**, **ललित-विस्तर** तथा **निदान कथा** जैसे परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होती है। यद्यपि एक विद्वान् द्वारा[३२] यह सुझाव प्रस्तावित हुआ है कि मूल **विनय** के स्कन्धक भाग के प्रारंभ में बुद्ध की उनके जन्म से लेकर शिक्षण कार्य की अवस्था तक की जीवन कथा दी गई थी, यह मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति से प्रारंभ होकर पालि विनय वस्तुतः मूल तथा ऐतिहासिक स्थिति का अनुसरण करता है।[३३] तथापि, प्रारंभिक पालि ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसे कई सूक्त तथा अवतरण मिलते हैं जिनके आधार पर बुद्ध की एक व्यवस्थित जीवन-कथा प्राप्त होती है। बुद्ध की जीवनी पर परवर्त्ती ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर हम यह रोचक तथ्य पाते हैं कि इन प्रारंभिक अवतरणों में ऐतिहासिकता को अवरुद्ध करने वाली पौराणिकता का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है। इन अवतरणों में पुराणकथाएं बहुत ही कम हैं तथा इनमें अतिशयोक्ति की मात्रा भी बहुत कम है; इन कारणों से ऐतिहासिक सत्य बहुत कम आच्छन्न हुआ है।

बुद्ध के परवर्त्ती ईश्वरीकरण के परिणामस्वरूप परवर्त्ती जीवनियों महावस्तु, ललित-विस्तार तथा निदानकथा के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। बुद्ध की जीवनी

---

३०. वंशों की सूची के लिए द्र० यू० एन घोषाल, **स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर**, पृ० २–३, टिप्पणी १।

३१. घोषाल, वही पृ० ३ जहां जहां उन्होंने अपने समर्थन में मैक्स म्यूलर को भी उद्धृत किया है।

३२. द्र० फ्राउवाल्नर, **अर्लिएस्ट विनय एण्ड द बिगनिंग्स आफ बुद्धिस्ट लिटरेचर**, रोमा १९५६, पृ० ५१।

३३. द्र० मेरी पुस्तक **दी एज आफ विनय**, प्रथम अध्याय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं के विषय में प्रारंभिक लेखकों द्वारा मौन-ग्रहण अथवा उनके सामान्य विवेचन ने काल्पनिक कथाओं तथा पुराणकथाओं के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ रखा था। यह एक रोचक तथ्य है कि ये सभी बुद्धत्व प्राप्ति तक ही बुद्ध की जीवनी प्रदान करते हैं। अश्वघोष रचित **बुद्धचरित** तथा **सौन्दरानन्द** भी इसी कोटि में आते हैं; पहले ग्रन्थ का कथानक बुद्ध का जीवन है जब कि दूसरे में नन्द द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकरण की कथा दी गई है। ये ग्रंथ आलङ्कारिक भाषा में हैं तथा साहित्यिक रचनाओं के रूप में अधिक मूल्यवान हैं।

जैन पट्टावलियां भी पौराणिकता के दोष से सयुक्त दिखाई पड़ती है। इनमें उनके तीर्थङ्करों के विषय में समान प्रकार का विवरण दिया गया है जिनमें ऐतिहासिक भावना का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है; यह अवश्य है कि चन्द्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक नामों के साथ विभिन्न कथाओं तथा किंवदन्तियों का भी इनमें समावेश हुआ है।

भारतीय ऐतिहासिक लेखन के चौथे वर्ग का प्रतिनिधित्व बाण विरचित **हर्ष चरित** तथा कल्हण विरचित **राजतरङ्गिणी** जैसे ग्रन्थों द्वारा होता है। **हर्षचरित** एक समसामयिक लेखक द्वारा प्राथमिक ज्ञान पर आधारित एक शासक-विशेष से संबद्ध इतिवृत्त है; **राजतरङ्गिणी** एक शासनवंशीय इतिवृत्त है जिसे पूर्ववर्त्ती इतिवृत्तों, प्राचीन लेखों एवं राजकीय प्रलेखों के आधार पर लिखा गया है।[३४] एक इतिवृत्तकार के रूप में बाण के मूल्याङ्कन के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उसकी कृति की प्रामाणिकता अन्य साक्ष्यों से भी सिद्ध होती है और इस कारण इसे हर्ष के प्रारम्भिक जीवन पर एक प्रामाणिक साक्ष्य स्वीकार किया जाता है। किन्तु इतिवृत्तकार के साथ-साथ बाण 'कवि' भी था। उसमें स्थित कवि के कारण ही हम कहीं-कहीं मानवीय कार्यव्यापारों में दैवी हस्तक्षेप, स्वप्नों के सत्य होने में विश्वास तथा चमत्कारिक कार्यों के अस्तित्व की चर्चा पाते हैं। कहीं-कहीं काव्यात्मक चातुर्य के प्रकाशन की प्रवल आकांक्षा के कारण महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं गौण हो गई दिखाई पड़ती हैं। कल्हण अपेक्षाकृत कहीं अधिक संतुलित इतिवृत्तकार है। उसने अपने ग्रन्थ के लिए और अधिक व्यापक कथानक—अर्थात् कश्मीर का इतिहास-लिया है तथा निर्णय की निष्पक्षता प्रदर्शित करता है। वह स्वयं कहता है कि केवल वही इतिहासकार प्रशंसा का पात्र है जो एक दण्डाधीश के समान पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त है।[३५] वह न केवल ऐतिहासिक पात्रों का विस्तारपूर्ण निरूपण प्रस्तुत करता है अपितु उनकी वैदेशिक नीतियों, एवं प्रशासन इत्यादि की भी चर्चा करता है। ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में आधारहीन किंवदन्तियों एवं कथाओं की उपेक्षा करते हुए वह एक समीक्षात्मक-दृष्टि-संपन्न इतिहासकार के रूप में उपस्थित होता है।[३६] कभी-

३४. इन दो इतिवृत्तों के विस्तारपूर्ण विवेचन के लिए द्र०, घोषाल, **वही** अध्याय ४ तथा ५; पुनः **हर्षचरित** पर पाठक, **वही**, अध्याय २।

३५. **राजतरंगिणी**, १, ७।

३६. द्र०, उदाहरणार्थ. **वही**, १. ३०९–१७; ७. १६९१–९५; ८. २२४–३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कभी वह किसी घटनाविशेष पर प्राप्त विविध विवरणों को देता हैं एवं स्वयं अपनी निर्णायक बुद्धि द्वारा उनके मिथ्यात्व का प्रदर्शन करता है।[३७] किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह तथ्यविशेष है कि एक इतिहास लेखक के रूप में कल्हण ने इतिहास-अध्ययन से शिक्षाएं प्राप्त करने की चेष्टा की है। एक उदाहरण के रूप में हम शिर:शिला के दुर्ग के विरुद्ध जयसिंह की तैयारियों पर उसकी टिप्पणी को ले सकते हैं जिसमें वह कहता है कि शत्रु के साधनों को बढ़ा कर देखने तथा उस पर आक्रमण करने में अनावश्यक तर्क-वितर्क करने से असफलता ही प्राप्त होती है।[३८] राजतरङ्गिणी में इस प्रकार के दृष्टान्त प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं।

---

३७. उदाहरणार्थ, विक्रमादित्य के तादात्म्य के प्रश्न पर, २. ६; यशकर की मृत्यु के कारण के प्रसंग में, ५. १०८–१२।

३८. **वही**, ७. २५२२–२३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

भारतीय इतिहास-लेखन का एक परिचय*

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने का एक प्रयोजन भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रदान करना है। दीर्घकाल से अधिकांश विद्वानों में यह धारणा प्रचलित रही है कि विविध कारणों से प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के प्रति उदासीन रहे हैं। जहां कुछ ने इस मान्यता को भारतीय जलवायु तथा भौगोलिक परिवेश के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया (उदाहरणार्थ, लोएस डिकिन्सन, **ऐन ऐसे ऑन द सिविलाइज़ेशन ऑफ़ इण्डिया, चाइना एण्ड जापान**), वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वानों ने भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया है (उदाहरणार्थ, टीलहार्ड द शार्डिन, **द फ़ेनामेनन ऑफ मैन;** डा० हीरानन्द शास्त्री का पटना में हुए **आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेंस** के इतिहास विभाग के अध्यक्षीय पद से दिया गया भाषण)। किन्तु अब इस मान्यता का धीरे-धीरे निरास होने लगा है (द्र०, के० सच्चिदानन्द मूर्ति, **दी इण्डियन स्पिरिट**; बी० बी० गोखले, **इण्डियन थाट थ्रू दी एजेज़ : ए स्टडी ऑफ सम इण्डियन कान्सेप्ट्स**; १९६९ में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ ऐडवान्स्ड स्टडी, शिमला द्वारा 'हिस्टारिकल माडल्स इन द स्टडी ऑफ़ ट्रेडीशन एण्ड चेंज इन इण्डिया' पर आयोजित गोष्ठी में पढ़ा गया मेरा 'बिलीफ्स अण्डरलाइंग दी एन्श्येन्ट इण्डियन कन्सेप्शन ऑफ हिस्टरी' शीर्षक लेख)। इस प्रश्न पर विस्तारपूर्ण विचार किए बिना प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने भी उपरोक्त भ्रान्तिपूर्ण मान्यता का स्पष्ट प्रत्याख्यान किया है।

लेखक ने पुस्तक का एक अन्य प्रयोजन बताया है भारतीय इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का प्रकाशन, जिसके लिए मूल भारतीय ऐतिहासिक कृतियों का ज्ञान तथा अध्ययन अपेक्षित है।

इस दिशा में बहुत कुछ कार्य कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। लेखक ने इनमें टॉड, पार्जिटर एवं के० पी० जायसवाल का आदरपूर्ण नामोल्लेख किया है। सी० एच० फिलिप्स द्वारा संपादित **हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान**

---

* ए० के० वार्डर, **ऐन इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन हिस्टोरियोग्रैफी**, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे, १९७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एण्ड सीलोन में इस विषय की गवेषणा को प्रस्तावित किया गया है किन्तु उपरोक्त भ्रान्तिपूर्ण मान्यता में विश्वास के कारण विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। इस क्षेत्र में अवतक किए गए कार्यों में डॉ० वी० एस० पाठक की **ऐन्श्येन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया** नामक पुस्तक विशेषरूपेण उल्लेखनीय है जिसके योगदान को लेखक ने भी प्रशंसापूर्ण शब्दों में स्वीकार किया है।-अपनी पुस्तक में डॉ० पाठक ने पाँच काव्य-इतिहासों (बाण, पद्मगुप्त, बिल्हण, सोमेश्वर तृतीय तथा जयानक) का चयन कर उनमें प्राप्त ऐतिहासिक विवरण की विधा को प्रस्तुत किया है और इस प्रकार उनकी व्याख्या का सूत्र प्रदान किया है। तथापि डॉ० पाठक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने ब्राह्मण इतिहास-लेखन की निरन्तरता को वैदिक साहित्य से लेकर मध्य-युगीन लेखकों तक सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। ए० के० वार्डर ने डा० पाठक की पुस्तक को इस क्षेत्र के अध्ययनों का प्रमुख आधार-ग्रन्थ माना है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि इस क्षेत्र में कुछ अन्य पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ है जिनका उल्लेख वर्तमान लेखक द्वारा नहीं हुआ है। डॉ० यू०एन० घोषाल की पुस्तक **एटडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर** (कलकत्ता, १९५७) का प्रथम भाग प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन से ही संबद्ध है। कई अध्यायों में लेखक ने वैदिक, बौद्ध, तथा जैन इतिहास-लेखन के साथ-साथ कल्हण तथा बाण की कृतियों पर विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है; इन पर इतना विस्तारपूर्ण विवेचन और कहीं नहीं किया गया है। इस प्रसंग में दो अन्य उल्लेखनीय पुस्तकें चन्द्रकान्त गजानन राजे की **बायोग्रैफी एण्ड हिस्टरी इन संस्कृत लिटरेचर** (बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५८) तथा एस० जे० समर्थ की **द हिन्दू व्यू ऑफ़ हिस्टरी; क्लासिकल एण्ड मार्डन** (बंगलोर, १९५९) हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की वस्तु-सामग्री अंशतः तिथिक्रम के अनुरूप है किन्तु आगे चलकर यह-विशेषरूपेण इस कारण कि मध्य युग में स्वयं इतिहास-लेखन क्षेत्रसंबद्ध हो जाता है-क्षेत्रसंबद्ध हो गई है। अनिर्वहनीय भार से बचने के लिए महत्त्वपूर्ण होने पर भी आभिलेखिक इतिहास-लेखन को वर्तमान अध्ययन से बाहर रखा गया है। प्राक्कथन के अतिरिक्त पुस्तक में सत्ताईस अध्याय हैं और अन्त में एक बड़ी पुस्तक-सूची दी गई है।

प्रथम अध्याय : 'भारतीय सभ्यता का परिचय' में लेखक ने सर्वप्रथम सामान्यरूपेण किसी भी सभ्यता के उद्भव की अपेक्षाओं तथा विकास-प्रक्रिया की चर्चा की है, और, अन्ततः, उसका निष्कर्ष है कि सभ्यता के विकास ने अनिवार्यतः एक विशिष्ट शासक वर्ग को जन सामान्य से पृथक् कर दिया जिस प्रक्रिया में प्रथम वर्ग ने सदैव कुछ विशेषाधिकारों को भोगा है, और तब से सभी सभ्यताओं में एक ही अन्तर्भूत समस्या रही है : स्वातंत्र्य की समस्या। लेखक के अनुसार, एक अर्थ में किसी भी सभ्यता का और विशेषरूपेण भारतीय सभ्यता का इतिहास वस्तुतः इस समस्याविशेष का ही इतिहास है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

भारतीय इतिहास-लेखन का एक परिचय*

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने का एक प्रयोजन भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रदान करना है। दीर्घकाल से अधिकांश विद्वानों में यह धारणा प्रचलित रही है कि विविध कारणों से प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के प्रति उदासीन रहे हैं। जहां कुछ ने इस मान्यता को भारतीय जलवायु तथा भौगोलिक परिवेश के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया (उदाहरणार्थ, लोएस डिकिन्सन, **ऐन ऐसे ऑन द सिविलाइज़ेशन ऑफ इण्डिया, चाइना एण्ड जापान**), वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वानों ने भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया है (उदाहरणार्थ, टीलहार्ड द शार्डिन, **द फ़ेनामेनन ऑफ मैन**; डा० हीरानन्द शास्त्री का पटना में हुए **आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेंस** के इतिहास विभाग के अध्यक्षीय पद से दिया गया भाषण)। किन्तु अब इस मान्यता का धीरे-धीरे निरास होने लगा है (द्र०, के० सच्चिदानन्द मूर्ति, **दी इण्डियन स्पिरिट**; बी० बी० गोखले, **इण्डियन थाट थ्रू दी एजेज़ : ए स्टडी ऑफ सम इण्डियन कान्सेप्ट्स**; १९६९ में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ ऐडवान्स्ड स्टडी, शिमला द्वारा 'हिस्टारिकल माडल्स इन द स्टडी ऑफ़ ट्रेडीशन एण्ड चेंज इन इण्डिया' पर आयोजित गोष्ठी में पढ़ा गया मेरा 'बिलीफ्स अण्डरलाइंग दी एन्श्येन्ट इण्डियन कन्सेप्शन ऑफ हिस्टरी' शीर्षक लेख)। इस प्रश्न पर विस्तारपूर्ण विचार किए बिना प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने भी उपरोक्त भ्रान्तिपूर्ण मान्यता का स्पष्ट प्रत्याख्यान किया है।

लेखक ने पुस्तक का एक अन्य प्रयोजन बताया है भारतीय इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का प्रकाशन, जिसके लिए मूल भारतीय ऐतिहासिक कृतियों का ज्ञान तथा अध्ययन अपेक्षित है।

इस दिशा में बहुत कुछ कार्य कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। लेखक ने इनमें टॉड, पार्जिटर एवं के० पी० जायसवाल का आदरपूर्ण नामोल्लेख किया है। सी० एच० फिलिप्स द्वारा संपादित **हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान**

---

* ए० के० वार्डर, **ऐन इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन हिस्टोरियोग्रैफी**, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे, १९७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एण्ड सीलोन में इस विषय की गवेषणा को प्रस्तावित किया गया है किन्तु उपरोक्त भ्रान्तिपूर्ण मान्यता में विश्वास के कारण विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। इस क्षेत्र में अबतक किए गए कार्यों में डॉ० वी० एस० पाठक की **ऐन्श्येन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया** नामक पुस्तक विशेषरूपेण उल्लेखनीय है जिसके योगदान को लेखक ने भी प्रशंसापूर्ण शब्दों में स्वीकार किया है। अपनी पुस्तक में डॉ० पाठक ने पाँच काव्य-इतिहासों (बाण, पद्मगुप्त, बिल्हण, सोमेश्वर तृतीय तथा जयानक) का चयन कर उनमें प्राप्त ऐतिहासिक विवरण की विधा को प्रस्तुत किया है और इस प्रकार उनकी व्याख्या का सूत्र प्रदान किया है। तथापि डॉ० पाठक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने ब्राह्मण इतिहास-लेखन की निरन्तरता को वैदिक साहित्य से लेकर मध्य-युगीन लेखकों तक सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। ए० के० वार्डर ने डा० पाठक की पुस्तक को इस क्षेत्र के अध्ययनों का प्रमुख आधार-ग्रन्थ माना है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि इस क्षेत्र में कुछ अन्य पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ है जिनका उल्लेख वर्तमान लेखक द्वारा नहीं हुआ है। डॉ० यू०एन० घोषाल की पुस्तक **एटडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर** (कलकत्ता, १९५७) का प्रथम भाग प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन से ही संबद्ध है। कई अध्यायों में लेखक ने वैदिक, बौद्ध, तथा जैन इतिहास-लेखन के साथ-साथ कल्हण तथा बाण की कृतियों पर विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है; इन पर इतना विस्तारपूर्ण विवेचन और कहीं नहीं किया गया है। इस प्रसंग में दो अन्य उल्लेखनीय पुस्तकें चन्द्रकान्त गजानन राजे की **बायोग्रैफी एण्ड हिस्टरी इन संस्कृत लिटरेचर** (बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५८) तथा एस० जे० समर्थ की **द हिन्दू व्यू ऑफ़ हिस्टरी; क्लासिकल एण्ड मार्डन** (बंगलोर, १९५९) हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की वस्तु-सामग्री अंशतः तिथिक्रम के अनुरूप है किन्तु आगे चलकर यह-विशेषरूपेण इस कारण कि मध्य युग में स्वयं इतिहास-लेखन क्षेत्रसंबद्ध हो जाता है–क्षेत्रसंबद्ध हो गई है। अनिर्वहनीय भार से बचने के लिए महत्त्वपूर्ण होने पर भी आभिलेखिक इतिहास-लेखन को वर्तमान अध्ययन से बाहर रखा गया है। प्राक्कथन के अतिरिक्त पुस्तक में सत्ताईस अध्याय हैं और अन्त में एक बड़ी पुस्तक-सूची दी गई है।

प्रथम अध्याय : 'भारतीय सभ्यता का परिचय' में लेखक ने सर्वप्रथम सामान्यरूपेण किसी भी सभ्यता के उद्‌भव की अपेक्षाओं तथा विकास-प्रक्रिया की चर्चा की है, और, अन्ततः, उसका निष्कर्ष है कि सभ्यता के विकास ने अनिवार्यतः एक विशिष्ट शासक वर्ग को जन सामान्य से पृथक् कर दिया जिस प्रक्रिया में प्रथम वर्ग ने सदैव कुछ विशेषाधिकारों को भोगा है, और तब से सभी सभ्यताओं में एक ही अन्तर्भूत समस्या रही है : स्वातंत्र्य की समस्या। लेखक के अनुसार, एक अर्थ में किसी भी सभ्यता का और विशेषरूपेण भारतीय सभ्यता का इतिहास वस्तुतः इस समस्याविशेष का ही इतिहास है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय सभ्यता के उद्गम तथा विकास एवं अन्य सभ्यताओं के साथ इसके संबंधों का पर्यवेक्षण करने के पश्तात् लेखक ने भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों का संक्षिप्त तिथिक्रमिक उल्लेख किया है, जो सामान्यतया मान्य मतों पर आधारित है। लेखक ने दृढ़ शब्दों में एशियाई सभ्यताओं की हीनता के सिद्धान्त का तथा इस मत का कि भारतीय सभ्यता में जो कुछ भी अच्छा है वह पाश्चात्य का प्रभाव है तिरस्कार किया है। साथ ही उसने इस अतिशयोक्तिपूर्ण सिद्धांत के प्रति समीक्षात्मक बुद्धि अपनाने का आग्रह किया है कि भारतीय रहस्यवादिता तथा आध्यात्मिकता के प्रति अतिशय अनुरक्ति के कारण इहलौकिक विषयों के प्रति प्रारम्भ से ही उदासीन रहे हैं।

द्वितीय अध्याय : 'सभ्यता की उत्पत्ति के विषय में भारतीय परंपरायें' शीर्षक इस अध्याय में लेखक ने इस प्रश्न से संबद्ध ब्राह्मण तथा बौद्ध परंपराओं का उल्लेख किया है। दोनों परम्पराएं संसार तथा समाज के चक्रीय विकास-प्रक्रिया को स्वीकार करती हैं। किसी अतिमानवीय सत्ता में विश्वास न होने के कारण बौद्ध इस विकास-प्रक्रिया को स्वतः विकासमान मानते हैं। प्रारम्भ में किसी प्रकार की सामाजिक जटिलता नहीं थी और सभी किसी भी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, नैतिक अथवा राजनैतिक विचारों से सर्वथा मुक्त रहते हुए प्रकृति-प्रदत्त भोजन से संतुष्ट जीवन-यापन करते थे। इस आदर्श व्यवस्था का पतन उस समय से प्रारम्भ हुआ, जब किसी के मस्तिष्क में खाद्य-पदार्थों के संग्रह का विचार उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे जटिलताएं बढ़ती गईं और उनके समाधान के लिए नए-नए नियम और नई नई संस्थाएं बनती गईं। इस समय तक लोग कृषि-कर्म से परिचित हो गए थे तथा कृषि-योग्य भूमि का बँटवारा एक अन्य जटिल प्रश्न था। सभ्यता की उत्पत्ति विषयक यह विचार प्राग-ऐतिहासिक समाज के विकासविषयक आधुनिक मतों से सर्वथा संगत दिखाई पड़ता है। यह सच है कि इसे बौद्ध नैतिक अवधारणाओं के आधार पर व्याख्यायित किया गया है।

इस परम्परा का ब्राह्मण-रूप थोड़ा भिन्न है। प्रारम्भिक न्यायपूर्ण समाज के पतन को चार युगों (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि) से संबद्ध किया गया है। विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों, मुख्यतः **महाभारत** तथा **पुराणों में** उद्धृत परम्पराएं प्रायः एक दूसरे से पूर्ण संगत नहीं दिखाई पड़तीं। **महाभारत** के अनुसार पहले राज्य का अस्तित्व नहीं था, किन्तु कालान्तर में मनुष्यों में पारस्परिक द्वेष तथा लोभ का जन्म हुआ जिसके कारण ब्रह्मा ने राज्य के और सम्यक् प्रशासन के उद्देश्य से इसके साथ ही वेद, दर्शन, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का भी प्रणयन किया। **पुराणों** में मौलिक परम्परा यह दिखाई पड़ती है कि समाज का यह विकार तथा तद्प्रसूत विभाजन कृत युग के पश्चात् त्रेता युग में हुआ। **नाट्यशास्त्र** के प्रथम अध्याय में इसका समर्थन होता दिखाई पड़ता है। **वायुपुराण** (अध्याय ८) में इस विषय पर विस्तारपूर्ण विचार मिलता है जो बौद्ध परम्परा से संगत है। इसमें पहले खाद्य-पदार्थ के संग्रह की अवस्था से कृषि-अवस्था की प्राप्ति की चर्चा है; त्रेता युग में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृषि के विकास के साथ दूसरों की सम्पत्ति के अपहरण की समस्या उत्पन्न हुई जिस पर ब्रह्मा ने समाज का विभाजन किया और क्षत्रियों को शासन-कर्म के लिए नियुक्त किया। कालान्तर में विविध परवर्ती परिवर्तनों तथा परिवर्धनों के परिणामस्वरूप इस परम्परा में बहुते सी नई बातें जुट गईं।

तृतीय अध्याय : से इतिहास-लेखन पर विचार प्रारम्भ किया गया है। इस अध्याय का शीर्षक 'वैदिक इतिहास-लेखन' है। **ऋग्वेदसंहिता** वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, लेखक के अनुसार जिसकी रचना संभवतः १५०० तथा १००० ई० पू० के बीच में हुई। यद्यपि इसमें कुछ समसामयिक ऐतिहासिक रचनाओं का उल्लेख हुआ है तथा कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के भाग इसमें सन्निविष्ट हैं; तथापि यह मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थ है तथा स्वतंत्र ऐतिहासिक रचनाएं इसमें अपने मूलरूप में सुरक्षित नहीं मिलती। **ऋग्वेदसंहिता** के कुछ मंत्रों में आर्यों द्वारा भारत-विजय की परम्परा का संकेत मिलता है; इनमें इन्द्रगाथाओं का विशेष महत्त्व है। अन्य मानवीय जननायकों से संवद्ध गाथाएं भी हैं जिनका विभिन्न अनुष्ठानात्मक अवसरों पर संगायन किया जाता था। इन्द्र से संवद्ध गाथाएं महाकाव्य-शैली में है और यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से राजनीतिक घटनाओं से संबद्ध मौलिक परम्पराओं का एक विशाल संग्रह विद्यमान था। कुछ गाथाओं को 'नाराशंसी' (मनुष्यों की प्रशंसा में) कहा गया है।

वैदिक साहित्य में 'आख्यान' तथा 'इतिहास पुराण' भी मिलते हैं, जो अधिकांशतः गद्य में हैं किन्तु कुछ पद्य-रूप में भी हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि लेखक ने ऐतिहासिक-लेखन के कुछ प्रकारों का केवल नाम भर दिया है, उनके स्वरूप पर विचार नहीं किया है। इसके विस्तृत निरूपण के लिए डॉ० यू० एन० घोषाल तथा डा० वी० एस० पाठक की पुस्तकें द्रष्टव्य हैं।

यहां यह समझ में नहीं आता कि लेखक ने वैदिक साहित्य में केवल ऋग्वेदसंहिता को ही क्यों रखा है।

अध्याय चार : 'इतिहास एवं पुराण का सार्वभौमिक इतिहास' : परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में (उदाहरणार्थ **अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्**) 'इतिहास' तथा 'पुराण' का उल्लेख पंचम वेद के रूप में हुआ है। परवर्ती काल में इतिहास शब्द का प्रयोग पर्याप्त व्यापक हो गया तथा इसमें सभी प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं का समावेश किया जाने लगा; **पुराण** भी इस शब्द में सन्निविष्ट हो गए। मूल **पुराण** संभवतः एक ही ग्रन्थ था जिसमें प्राचीन राजाओं से संबद्ध सभी विवरण तथा कथाएं संगृहीत थीं। इसका संकलन संभवतः आठवीं शताब्दी ई० पू० में लोमहर्षण द्वारा किया गया, अथवा उन्होंने इसे व्यास से प्राप्त किया जो लगभग एक शताब्दी पूर्व रहे होंगे।

पुराणों से इतर इतिहास में हमें भारत आख्यान (जिसे कालान्तर में **महाभारत** नाम दिया गया) की परम्पराएं प्राप्त होती हैं जिसे पूर्वोल्लिखित व्यास से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संबद्ध किया गया है। यह भारत अथवा पौरव शासनवंश के गृह युद्ध का विवरण है (युद्ध संभवतः ९५०–९०० ई० पू० के बीच हुआ)। बीच-बीच में इसमें अन्य कई आख्यानों को रखा गया है; सम्भवतः इन्हें ही, **पुराण** से पृथक्, 'इतिहास' के रूप में जाना जाता था। किन्तु, कौटिल्य ने 'इतिहास' को साहित्य के एक विशिष्ट वर्ग के रूप में लिया है जिसमें पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र सभी का समावेश होता था।

राजकीय वंशावलियों के निरूपण तथा ऐतिहासिक जननायकों की प्रशंसा में गीतों के संकलन का कार्य सूत द्वारा किया जाता था। यह पद ब्राह्मणों द्वारा अधिगत रहा प्रतीत होता है, तथा कुछ स्रोत इन्हें भार्गव, भारद्वाज तथा काश्यप पुरोहित-कुलों से संबंधित करते हैं; इनमें विशेष रूप से भार्गव कुल इतिहास-लेखन के साथ विशिष्टरूपेण संबद्ध दिखाई पड़ता है। इस क्षेत्र में भार्गवों के योगदान की डॉ०पाठक की पुस्तक में विस्तारपूर्ण चर्चा मिलती है। भारत-परम्परा को भी कालान्तर में भार्गवों ने अपना लिया। भार्गव और आंगिरस कुलों ने मिल कर भार्गवांगिरस-परम्परा का निर्माण किया; और पौरव शासनवंश के समय से मगध साम्राज्य के उदय तक भार्गवांगिरस इतिहासकारो का एक संप्रदायविशेष इतिहास का (और इसके एक अंश के रूप में **पुराण** का) प्रणयन तथा पुनर्लेखन करता रहा।

सार्वभौमिक इतिहास के लेखन की यह परम्परा चौथी शताब्दी ई० तक रही; बीच के शासनवंश पुराणों में सम्मिलित किए जाते रहे। इस समय तक **महाभारत** को संभवतः वह रूप प्राप्त हो चुका था जिसे समीक्षापूर्ण संपादन के फलस्वरूप इसको अब प्रदान किया गया है। **पुराणों** का अभी इस प्रकार का समीक्षापूर्ण संपादन नहीं किया जा सकता है। मुख्य **पुराण** १८ माने जाते हैं जिनमें प्राचीन इतिहास के लिए **वायु**, **मत्स्य**, तथा **मार्कण्डेय** विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यह सार्वभौमिक इतिहास सृष्टि के उद्भव तथा विकास एवं देवताओं से संबद्ध विभिन्न कथाओं से प्रारम्भ होता है। हमारे अपने कल्प का इतिहास मनु वैवस्वत से प्रारम्भ होकर भारत युद्ध तक के विभिन्न राजवंशों की चर्चा करता है; तत्पश्चात् यह बाद के विभिन्न शासनवंशों का उल्लेख करता है। यह उल्लेखनीय है कि **पुराणों** का संशोधन मध्यकाल अथवा सामन्तयुग के प्रारम्भ में हुआ और इस कारण इसमें राजा का समाज के रक्षक के रूप में निरूपण स्वभाविक था। **पुराणों** में यथासंभव प्राचीन इतिहास को इस आदर्श का परिपोषण करते हुए दिखाने की प्रवृत्ति मिलती है।

लेखक ने पहले पुराणों में चर्चित मगध साम्राज्य के पूर्व के विभिन्न सूर्यवंशीय एवं चन्द्रवंशीय शासनवंशों का विवरण दिया है और फिर मगध साम्राज्य के शासनवंशों का उल्लेख किया है। इन शासनवंशों के विषय में पुराणों में कुछ अनिश्चतता तथा अस्पष्टता मिलती है जिन्हें बौद्ध ग्रन्थों से तुलना करके शुद्ध किया जा सकता है। सातवाहनों के बाद छोटे-छोटे भू-प्रदेशों पर शासन कर रहे राजवंशों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट रूप में मिलता है। कुषाण शासकों का, जिन्होंने सातवाहनों के साथ-साथ लगभग २०० वर्षों तक राज्य किया, पुराणकार या तो चर्चा ही नहीं करते अथवा यह माना जा सकता है कि वे तुषार नाम से उल्लिखित हुए हैं। अन्य विदेशी वंशों को म्लेच्छ अथवा बर्बर कह कर छोड़ दिया गया है। कुछ नाग-वंशों का अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूतिपरक उल्लेख हुआ है किन्तु सभ्यता के पुनरुज्जीवन की वास्तविक आशा पुनः विन्ध्यशक्ति द्वारा वाकाटक वंश की स्थापना द्वारा दिखाई पड़ती है। गुप्तों का उल्लेख केवल गंगा के दोआब पर शासन कर रहे एक गौण वंश के रूप में होता है और इस प्रकार हम चौथी शताब्दी ई० एवं **पुराणों** में लिखित सार्वभौमिक इतिहास के अन्त पर पहुँचते हैं। संभवतः यह तिथि इतिहास के अन्तिम पुस्तकीकरण की तिथि है, यद्यपि कुछ अंशों में परिवर्तन बाद में भी होते रहे।

अध्याय ५ : 'बौद्ध इतिहास-लेखन' : सिद्धान्ततः **त्रिपिटक** बुद्ध की जीवनी से संबद्ध विभिन्न घटनाओं का विवरण है; **सुत्तपिटक** में उनके उपदेशों का तथा **विनयपिटक** में संघ की स्थापना तथा उसके नियमों का संकलन है। इन ग्रन्थों से तत्कालीन सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बुद्ध के मुख में रखे गए कुछ उपदेशों में प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं एवं परम्पराओं की भी चर्चा मिलती है। जनसामान्य द्वारा निर्वाचित प्रथम राजा महासम्मत था (जिसे परवर्ती बौद्ध टीका-परम्परा में मनु से समीकृत किया गया है)। यह स्पष्ट है कि बुद्ध अथवा इन ग्रन्थों के संकलनकर्त्ता उक्त सार्वभौमिक इतिहास-परम्परा के कुछ रूपों से परिचित थे जिस पर पिछले अध्याय में पुराणों के प्रसंग में चर्चा की जा चुकी है। बौद्धों की प्राचीन राजाओं के विषय में अधिक रुचि नहीं थी; नैतिक दृष्टि से आदर्श राजा का उदाहरण प्रस्तुत करने पर ही उनकी कहीं-कहीं चर्चा हुई है। **त्रिपिटक** में चर्चित प्राचीन राजाओं में इक्ष्वाकु, मान्धातृ भरत, धृतराष्ट्र, शिवि तथा जनक के नाम मिलते हैं।

विनयपिटक से वस्तुतः बौद्ध धर्म के इतिहास का लेखन प्रारम्भ होता है। इसमें बुद्धकालीन घटनाओं के विवरण के अतिरिक्त परिनिर्वाण के बाद का भी इतिहास संकलित किया गया है; परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्षों पश्चात् घटित द्वितीय संगीत का भी विवरण इसमें प्राप्य है। इसके बाद संघ कई संप्रदायों में विभक्त हो गया और विभिन्न संप्रदाय पृथक्-पृथक् अपना इतिहास-लेखन करने लगे और इन्हें **त्रिपिटक** में नहीं सम्मिलित किया जाने लगा। स्थविरवाद संप्रदाय (जिसका मुख्य केन्द्र अब लंका था) ने टीकाओं तथा वंशों के रूप में इतिहास-लेखन की परंपरा को आगे बढ़ाया। वंशों में आचार्य-शिष्य परम्परा की सूचियां दी गई है। इतिहास-लेखन की इस परम्परा में लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना का तथा इसके बाद का विवरण उपलब्ध है। **दीपवंश** तथा **महावंश** ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष रूप से उल्लेखनीय है; इनमें भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्य हैं। (बौद्ध इतिहास-लेखन पर विस्तारपूर्ण चर्चा के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डॉ० घोषाल की पुस्तक द्रष्टव्य है; इतिहास के प्रति प्रारम्भिक बौद्ध दृष्टिकोण पर विवेचन के लिए द्र० बी० जी० गोखले, 'थेरवाद व्यू ऑफ हिस्ट्री', **जर्नल ऑफ दी अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी**, जुलाई १९६५, पृ० ३५४–३६०)।

लंका की इस समृद्ध इतिहास-लेखन की परम्परा के विपरीत स्वयं भारतीय बौद्धों द्वारा लिखे गए कुछ ही ग्रन्थ प्राप्य हैं। इसका मुख्य कारण यहां इस धर्म का पतन था। इन भारतीय ग्रन्थों की रिक्तता की कुछ पूर्ति चीनी तथा तिब्बती स्रोतों द्वारा होती है। **मञ्जुश्रीमूलकल्प** एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका मूल केरल से प्राप्त हुआ। यह आठवीं शताब्दी तक का भारतीय इतिहास प्रदान करता है यद्यपि इसका निरूपण रूपरेखात्मक ही है। नन्दों, मौर्यों, गुप्तों, मैत्रकों, मौखरियों, पुष्पभूति तथा गोपाल के इतिहास पर यह पर्याप्त प्रकाश डालता है। तिब्बती इतिहासकार तारा-नाथ (सत्रहवीं शताब्दी) तथा बु-स्तन (अठारहवीं शताब्दी) इसके परिपूरक स्रोत हैं। बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों के इतिहास के लिए वसुमित्र, भावविवेक, परमार्थ तथा विनीतदेव की रचनाएं विशेष रूप से सहायक हैं। अन्ततः हम **अवदान** साहित्य पाते हैं जिनमें **अशोकावदान** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः बौद्ध इतिहास-लेखन के अन्तर्गत प्राथमिक एवं गौण इतिहास-लेखन के बीच विभेद किया जाना चाहिए। प्रथम वर्ग में वह साहित्य आता है जो न्यूना-धिक समसामयिक है तथा घटनाओं का पूर्वाग्रहों से मुक्त लेखन प्रस्तुत करता है, जबकि दूसरा वर्ग इस प्रकार की घटनाओं का परवर्ती लेखन प्रस्तुत करता है जिसमें इतिहास की अपेक्षा पुराणकथाओं के प्रति अधिक रुचि दिखाई पड़ती है। **त्रिपिटक** प्रथम वर्ग का साहित्य है; **महावस्तु, निदानकथा, शाक्यमुनिबुद्धचरित, ललित-विस्तर** एवं अश्वघोष रचित **बुद्धचरित** इत्यादि बुद्ध की जीवनियां दूसरे वर्ग में आती हैं जिसमें घटनाओं का निरूपण परिस्थितिपरक ऐतिहासिक विवरणों के समान न हो कर एक नैतिक प्रतिमान के सन्दर्भ में रखकर किया गया है। बौद्ध सिद्धांत के अनु-सार सभी कर्मों का अतीतकालिक जीवन से संबंध है और इसी प्रकार वर्तमानकालान कर्मों में भावी जीवन के फल निहित हैं। इस प्रतिमान के प्रति मोह ने अनिवार्यतः परवर्ती बौद्ध लेखकों को घटनाओं को इस प्रकार चुनने अथवा विकृत करने के प्रति उत्साहित किया कि बौद्ध नैतिकता के आदर्श को प्रोत्साहन प्राप्त हों। नैतिकता के प्रोत्साहन के इस प्रश्न के साथ ही परवर्ती लेखन में काव्य गुणों के समावेश का प्रश्न भी विचारणीय है; उदाहरणार्थ, अश्वघोष, इतिहास-लेखक न होकर एक महान् कवि है। तथ्य-निरूपण पर इस बात का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

अध्याय ६ : 'जैन इतिहास-लेखन एवं विक्रमादित्य की कथा' : पौराणिकों तथा बौद्धों के अतिरिक्त जैन ग्रन्थों द्वारा तीसरी इतिहास-लेखन परम्परा का प्रका-शन होता है। बौद्धों की अपेक्षा जैन-ग्रन्थ बहुत बाद के हैं—यहांतक कि कुछ ग्रन्थ भगवान् महावीर से लगभग १००० वर्ष बाद के हैं। **आचारांग** (चौथी शताब्दी ई० पू० का अन्त) प्राचीनतम है जिसमें जिनके जीवन की कुछ घटनाओं की चर्चा है; बाद के ग्रन्थों में हम पूर्ववत् इतिहास से हटकर पुराणकथा-लेखन के प्रति उन्मुखता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाते हैं। इनमें भी चक्रात्मक विकास-प्रक्रिया की चर्चा है तथा कुछ ग्रन्थों में प्राचीन सार्वभौम सम्राटों के नाम भी गिनाए गए हैं। मनुओं के भी नाम गिनाए गए हैं। कालान्तर में इन ग्रन्थों से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर विभिन्न भाषाओं में काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें प्राचीनतम विमल-रचित **पद्मचरित** (२०० ई०) है जिसमें जैन सिद्धांतों के परिप्रक्ष्य में राम की कथा कही गई है; यह कथा बाल्मीकि की कथा से कुछ भिन्न है।

जैनों ने ब्राह्मण-इतिहास-परम्परा की अशुद्धियो को दिखाते हुए उनमें ज्ञात घटनाओं तथा चरितों को जैन-नीतियों के रंग में रखने का प्रयास किया। सभी अपने कर्म का फल भोगते हैं, अतः इनमें किसी अतिमानवीय सत्ता के हस्तक्षेप का निरास है। १२वीं शताब्दी के रामचन्द्र ने नल, राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र इत्यादि पर ऐतिहासिक नाटक लिखे। हरिभद्र (१२वीं शताब्दी) ने **पुराणों** के विरोध में **धूर्ताख्यान** (धूर्तों का इतिहास) की रचना की। **नंदी सूत्र** तथा **आवश्यकसूत्र** में जिनके पश्चात् आने वाले जैन आचार्यों के नाम दिए गए हैं; जैन-धर्म का इतिहास बाद में भी लिखा जाता रहा जिसका सर्वोत्तम दृष्टान्त १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्र द्वारा लिखित **परिशिष्टपर्वन** है जिसमें मौर्यकाल तक के मगध सम्राटों की भी चर्चा हुई है। नवीं शताब्दी तक तो जैन-ग्रन्थों में भारत के सामान्य इतिहास के प्रति रुचि दिखाई पड़ती है, अर्थात् वे मगध, सातवाहन, शक, गुप्त, कान्यकुब्ज शासनवंशों की बहुविधि चर्चा करते हैं, किन्तु इसके पश्चात् जैन मालवा, राजस्थान एवं गुजरात तक में ही सीमित हो गए एवं उन्होंने इन क्षेत्रों के इतिहास के लेखन में योगदान दिया।

विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य के तादात्म्य की समस्या भारतीय इतिहास की जटिलतम समस्याओं में रही है। विक्रम संवत् का प्रारम्भ ५७–५८ ई० पू० से होता है; दूसरी ओर, यह एक ज्ञात तथ्य है कि एकमात्र भारतीय राजा, जो इस नाम से सुविज्ञात था, गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय था, जिसने यह उपाधि धारण की थी। इस पुराणकथा के वृत्तान्तानुसार, इस गुप्त शासक ने भी शकों को हराया था, किन्तु इस घटना तथा संवत् का स्थापना के बीच ४०० वर्षों का अन्तराय है। जहांतक ५८–५७ ई० पू० में संवत् के प्रारम्भ का प्रश्न है, प्राचीनतम अभिलेख इसकी उत्पत्ति को मालव-गण से सबंधित करते हैं, तथा वे किसी विक्रम का उल्लेख नहीं करते। मालव गण के लोग पहले पंजाब में थे, फिर कुछ दिन राजस्थान में रह कर वे अन्ततः मालवा प्रदेश में बसे; फलतः यह इसकी राजधानी उज्जयनी से संबद्ध हो गया।

विक्रमादित्य से सम्बद्ध कथाओं का चक्र गौण इतिहास-लेखन की प्रक्रिया की अंतिम अवस्था का प्रदर्शन करता है। ये सभी कथाएं अपने जननायक की वास्तविक तिथि से पाँच सौ शताब्दियां बाद की हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् गुप्त शासक था जिसके व्यक्तित्व के विविध चित्ताकर्षक पक्ष विभिन्न स्रोतों से प्रमाणित होते हैं। उसके द्वारा शकों की पराजय राष्ट्रीय गौरव की घटना थी। कालान्तर में वास्तविक जननायक एक काल्पनिक नायक के रूप में परिवर्तित होकर रह गया;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे एक आदर्श राजा के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास ने उसके अस्तित्व की वास्तविकता के तथ्य को ढाँप दिया। जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त, **वेतालपञ्चविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, माधवानलकामकन्दला** इत्यादि ग्रन्थों में विक्रमादित्य के प्रेमी तथा शौर्यपूर्ण व्यक्तित्व का संप्रकाशन हुआ है।

अध्याय ७ : 'मध्यकालीन जीवन-चरित्र लेखन : बाण' : बाण रचित **हर्ष-चरित** (सातवीं शताब्दी) कान्यकुब्ज के शासक हर्ष पर लिखी एक आख्यायिका है। बाण भार्गव कुल का था तथा इतिहास में रुचि उसे अपनी पारिवारिक परम्परा से प्राप्त हुई रही होगी—ऐसा सोचा जा सकता है। **हर्षचरित** इतिहास-ग्रन्थ न होकर काव्य की श्रेणी में आता है। प्रथम शताब्दी ईसवी से काव्य उस क्षेत्र में अतिक्रमण करता दिखाई पड़ता है जो पहले इतिहास का क्षेत्र माना जाता था। इतिहास-लेखन पर इस प्रवृत्ति के गम्भीर प्रभाव पड़े; इन ऐतिहासिक काव्यों में प्रत्यक्ष तथ्य-संप्रेषण के स्थान पर अप्रत्यक्ष तथा लक्षणात्मक अभिकथन मिलते हैं जिनका मूल उद्देश्य सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव उत्पन्न करना है। इस प्रकार ऊपर चर्चित गौण इतिहास-लेखन के साथ ही प्राथमिक इतिहास-लेखन-विधा में भी तथ्यपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की सर्वोपरिता प्रतिष्ठापित होने लगी।

बाण का अभिप्राय घटनाओं का यथारूप लेखन नहीं है अपितु अपने नायक हर्ष द्वारा एक विशिष्ट लक्ष्य की उपलब्धि है, जिसमें विभिन्न घटनाएँ अनिवार्यतः परिणत होती है। हर्ष के पूर्वज पुष्यभूति को श्री (भाग्य की देवी) से यह वर प्राप्त हुआ था कि वह एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना करेगा जिसमें हर्ष नामक सम्राट होगा और वह स्वयं उसकी सेवा में रहेगी। काव्य में नायक द्वारा अन्त में किसी विशिष्ट स्त्री की प्राप्ति परम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रतीक होती है। **हर्षचरित** में नायक की बहन राज्यश्री द्वारा (जैसाकि नाम से भी स्पष्ट है) इस प्रतीकात्मकता का प्रतिबिम्बन होता है। (**हर्षचरित** की कथा के प्रसंग में लेखक का यह विचार उचित नहीं जान पड़ता। भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार इस प्रतीकात्मकता का प्रकाशन किसी ऐसी स्त्री की प्राप्ति से हो सकता है जिस पर व्यक्ति का स्वामित्व हो। बहन के माध्यम से इसके प्रकाशन का उदाहरण सर्वथा अप्राप्य है। लेखक का ध्यान इस पक्ष की ओर नहीं गया है।) राज्यश्री मौखरि सम्राट से विवाह करती है। गौड़ तथा मालव शासक मिलकर उस पर आक्रमण करते हैं जिसमें वह मारा जाता है। जयश्री जंगलों में भाग जाती है। हर्ष का बड़ा भाई राज्यवर्धन शत्रुओं को मार भगाने के उद्देश्य से प्रयाण करता है; सफल होने पर भी वह गौड़ शासक के षड़यंत्र का शिकार बनता है। हर्ष अनिच्छा से शासक बनता है और शत्रुओं से बदला लेने की शपथ लेता है। अपने सेनानायक के नेतृत्व में वह एक सेना भेजता है और स्वयं अपनी बहन की खोज में निकलता है। बाण ने युद्ध के विवरण में कोई रुचि नहीं दिखाई है तथा केवल हर्ष द्वारा राज्यश्री की प्राप्ति तथा तदनन्तर उसके द्वारा राज्य-प्राप्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। अपने विवरण में संभवतः सत्य से दूर हुए बिना ही बाण अपने-कथानक को काव्य शैली में प्रस्तुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर सका है।

अध्याय ८ : 'ऐतिहासिक काव्य : वाक्पतिराज तथा पद्मगुप्त' : हर्ष के एक शताब्दी पश्चात् कान्यकुब्ज पर यशोवर्मन् का शासन था। कुछ समय के लिए वह एक प्रभावशाली शासक के रूप में उभरता है जिसने एक ओर मगध (गौड) और दूसरी ओर सिन्धु पर आक्रमण करने वाले अरबों को पराजित किया। उसके दरबारी कवि वाक्पतिराज ने उसके ऊपर **गौडवध (गौडवहो)** नामक काव्य की रचना की। ग्रन्थ में उसकी विविध विजयों का उल्लेख है। अन्य कई स्रोतों (कल्हण कृत **राजतरंगिणी**) से भी यशोवर्मन् द्वारा उत्तरी भारत के एक विस्तृत भूप्रदेश पर अधिकार प्रमाणित होता है; किन्तु कालान्तर में उसे कश्मीर के ललितादित्य से युद्ध करना पड़ा जिसमें वह पराजित हुआ। यह काव्य विवरणात्मक है एवं राजा के युद्धों की अपेक्षा उसके भोगविलासपूर्ण जीवन के ऊपर अधिक बल दिया गया है। यशोवर्मन् को विष्णु का अवतार बताया गया है और इस कारण उसके द्वारा विश्व-विजय बतलाना अनिवार्य-सा था।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पद्मगुप्त ने मालवा के परमार शासक सिन्धुराज के ऊपर **नवसाहसांकचरित** नामक एक काव्य लिखा। जैसाकि डा० पाठक ने दिखाया है, सत्य घटनाओं पर आधारित होने पर भी इसे प्रेम-कथा में परिवर्तित कर दिया गया है जिसमें राजा को नाग-राजकन्या शशिप्रभा के साथ प्रणय करते दिखाया गया है। नायक की पूर्वज-परम्परा के विषय में ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। परमार राजपूत कहे गए हैं। काव्य के ग्यारहवें सर्ग में सिन्धुराज को उसके कुल की उत्पत्ति की कथा बतलाई गई है। यह घटना वैदिक काल में अर्बुद पर्वत पर घटी। विश्वामित्र, जो पहले क्षत्रिय थे और बाद में ऋषि बने, द्वारा वशिष्ठ की कामधेनु अपहृत कर ली गई थी। इस पर वशिष्ठ ने याज्ञिक अग्नि में आहुति डाली जिससे एक योद्धा उद्भूत हुआ। इसने गाय को पुनः प्राप्त कर लिया और वशिष्ठ ने उसे परमार (शत्रुओं का संहारक) संज्ञा प्रदान की। इसीसे इस कुल के अन्य राजा उत्पन्न हुए।

कालान्तर में याज्ञिक अग्नि से परमारों की उत्पत्ति की कथा बड़ी लोकप्रिय हुई और अन्य राजपूत कुलों द्वारा भी अपना ली गई। **पृथ्वीराज रासो** (बारहवीं शताब्दी) में वशिष्ठ द्वारा चार योद्धाओं, प्रतिहार, चालुक्य, परमार तथा चाहमान, की उत्पत्ति का वर्णन है जो सभी राक्षसों से यज्ञों की रक्षा के प्रयोजन से उत्पन्न किए गए थे। यह एक परवर्ती कथा-रचना है जिसमें मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू धर्म की रक्षा में प्रवृत्त तथा इस समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सचेष्ट राजस्थान के इन चार प्रसिद्ध राजपूत-कुलों को एक साथ रखा गया है।

अध्याय ९ : 'चालुक्य तथा राष्ट्रकूट इतिहास-लेखन' : छठीं शताब्दी में वाकाटकों के पतन के पश्चात् चालुक्य शासनवंश प्रभुत्व में आया; आठवीं शताब्दी में वे राष्ट्रकूटों द्वारा पराजित हुए; किन्तु दसवीं शताब्दी में चालुक्यों की एक शाखा पुनः प्रभुत्व में आयी जिसने बारहवीं शताब्दी के अन्त तक शासन किया। इन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शासनवंशों से संबद्ध विभिन्न शासकों के ऊपर विभिन्न ऐतिहासिक काव्यों की रचना हुई जिनमें (कृष्ण तृतीय के ऊपर) हलायुध रचित **कविरहस्य** (दसवीं शताब्दी), (अरिकेसरिन द्वितीय=अर्जुन के ऊपर) पम्प रचित (कन्नड़ भाषा में) **विक्रमार्जुनविजय** उल्लेखनीय है। ये काव्य ग्रन्थ दुहरे अर्थ वाले हैं अर्थात् मुख्य कथानक के साथ-साथ एक इतर कथानक भी चलता रहता है—उदाहरणार्थ, प्रथम में संस्कृत भाषाओं की क्रियायों से संबद्ध कुछ जटिल प्रश्नों की व्याख्या भी प्रस्तुत करने का प्रयास है और पम्प का काव्य महाभारत की कथा को पुनः देते हुए अपने नायक को अर्जुन से समीकृत करता है।

किन्तु इस क्षेत्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **विक्रमांकदेवचरित** है जिसे बिल्हण ने परवर्ती चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ के ऊपर (ग्यारहवीं शताब्दी) लिखा। यह उल्लेखनीय है कि बिल्हण भार्गव कुल की एक शाखा विशेष (सारस्वत) से संबद्ध था तथा कुछ चालुक्य शासक स्वयं को आंगिरस कुल की एक शाखा (हारीत) से संबद्ध करते थे। उत्तराधिकार-परम्परा का अतिक्रमण करते हुए विक्रमादित्य ने अपने ज्येष्ठ भ्राता का सिंहासन छीना था। बिल्हण का काव्य उसके इस कृत्य के औचित्य-स्थापन का प्रयास प्रदर्शित करता है। कवि अपने नायक को भगवान् शिव का प्रियपात्र बनाता है। उसका बड़ा भाई सोमेश्वर दुष्ट शासक था जिसका विक्रमादित्य ने आत्म-सुरक्षा के उद्देश्य से तथा ईश्वरीय आदेश के कारण वध किया। काव्य-शैली के अनुरूप, ग्रन्थ में नायक के दिग्विजय, उसके द्वारा भाग्य-श्री की प्रतीक एक स्त्रीविशेष की उपलब्धि का भी वर्णन है। बिल्हण के विवरण की बहुत-सी सूचनाओं का अन्य आभिलेखिक स्रोतों द्वारा प्रत्याख्यान होता है। ग्रन्थ में तीनों भाइयों के अच्छे अथवा बुरे चरित्र का निर्धारण पूर्वनियति के फलस्वरूप निश्चित होता हुआ दिखाया गया है तथा इसे सांख्य अध्यात्मशास्त्र के आधार पर व्याख्यायित किया गया है। यह वस्तुतः एक धार्मिक इतिहास-लेखन है जिसमें घटनाओं का निश्चयन मानवीय कर्मों द्वारा न होकर दैवी नियति द्वारा होता दिखाया गया है। स्वयं चालुक्यों की उत्पत्ति में भी दैवी इच्छा कार्य करती दिखाई गई है। उन्हें ब्रह्मा से उत्पन्न तथा मूलतः अयोध्या में शासन करते हुए बताया गया है। ब्रह्मा से उनकी उत्पत्ति संभवतः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि ये मूलतः ब्राह्मण थे जो बाद में क्षत्रियकर्म में प्रवृत्त हो गए। अयोध्या के साथ सम्बन्ध-स्थापन स्पष्टतः काल्पनिक है जो केवल उन्हें प्राचीन काल के साम्राज्य-केन्द्रों में से एक के साथ संबद्ध करने की इच्छा का परिणाम है।

अध्याय १० : 'पाल इतिहास-लेखन' : पाल शासक रामपाल विक्रमादित्य षष्ठ का समसामयिक था। सन्ध्याकरनन्दिन ने उसके जीवन पर **रामचरित** नामक काव्य की रचना की (जो उसके पुत्र के शासनकाल में लिखी गई)। यह काव्यग्रन्थ द्व्यर्थी है; इसमें मुख्य कथा के साथ रामायण की कथा भी कही गई है; इस प्रकार पुनः हम किसी समसामयिक शासक को किसी प्राचीन सूर्यवंशीय शासक के साथ संबद्ध करने का प्रयास देखते हैं। काव्य के प्रारम्भ में पालों की उत्पत्ति का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णन है। तारानाथ सदृश बौद्ध लेखकों तथा अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि इस वंश का संस्थापक जनता द्वारा शासन करने के लिए चुना गया था। यह संभवत: ग्रन्थकार को रुचिकर नहीं था और उसके दोहरे अर्थों से पालों की दुहरी पूर्वज-परम्परा स्थापित होती है। एक के अनुसार वे सूर्य वंश से संबद्ध थे (इस परम्परा का उल्लेख बाद के लेखक सोड्ढल द्वारा भी हुआ है जो उन्हें मान्धाता का वंशज बताता है)। दूसरी कथा के अनुसार गोपाल का पुत्र धर्मपाल उसका औरस पुत्र न होकर सागरपाल नामक एक नाग-राजा से उत्पन्न पुत्र था—यह परम्परा बु-स्तन तथा तारानाथ प्रभृति बौद्ध लेखकों को विस्तारपूर्ण रूप में ज्ञात है।

इसके बाद कवि सीधे रामपाल के पिता विग्रहपाल तृतीय पर आता है तथा कल्चुरि शासक कर्ण के साथ उसके युद्धों की चर्चा करता है। विग्रहपाल के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र महीपाल द्वितीय शासक बना। इसने गलत जनापवादों के आधार पर अपने भाइयों को बन्दी बना लिया। उसे शीघ्र अपने सामन्तों के विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसमें वह मारा गया। सन्ध्याकरनन्दिन् दूसरे भाई के विषय में मौन धारण करते हुए भीम के नेतृत्व में युद्ध कर रहे सामन्त विद्रोहिओं के विरुद्ध रामपाल के सफल अभियान का विवरण देता है। इस प्रकार साम्राज्य की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् काव्यात्मक शैली के अनुरूप रामपाल की कुछ विजयों की चर्चा है। लम्बे शासनकाल के पश्चात् उसने शासन भार अपने पुत्र राज्यपाल को सौंप कर पवित्र गंगा में जल समाधि द्वारा अपने जीवन का अन्त किया। रामपाल के बाद उसके कई पुत्रों के शासन कालों का संक्षिप्त विवरण देते हुए अन्ततः कुमारपाल के शासनकाल के विवरण के साथ काव्य की समाप्ति की गई है। सन्ध्याकारनन्दिन् का मुख्य अभिप्राय अच्छे तथा बुरे (जैसाकि उनकी नीतियों से प्रदर्शित होता है) शासकों की पारस्परिक तुलना उपस्थित करना तथा इसके साथ-साथ व्यंजना द्वारा शासकों को यह उपदेश देना है कि उन्हें मन्त्रियों, परामर्शदाताओं तथा स्वयं उसके समान विद्वानों तथा लेखकों के परामर्शों को मानना चाहिए।

अध्याय ११ : 'कश्मीर में इतिहास-लेखन : कल्हण' : सन्ध्याकरनन्दिन् के कुछ ही वर्षों पश्चात् कश्मीर में कल्हण ने **राजतरंगिणी** की रचना की। वह प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक का कश्मीर का वृहद् इतिहास लिखना चाहता था। उसने प्राचीन इतिहास-परम्परा में लिखा जिसमें, बिल्हण के समान लेखकों के विपरीत, सौन्दर्यशास्त्रीय आवश्यकताओं के प्रति बहुत कम छूट दी गई है। अपने इतिहास-लेखन में उसने अन्य स्रोतों–प्रलेखों, अभिलेखों, मुद्राओं, दानपत्रों तथा प्राचीन स्मारकों–का समीक्षात्मक बुद्धि का व्यवहार करते हुए उपयोग किया; उसने इस आदर्श का प्रतिपादन किया कि इतिहासकार को सर्वथा निष्पक्ष होना चाहिए तथा उसने स्वयं कश्मीर के इतिहास पर लिखित अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन किया।

परवर्ती काव्य में व्यवहृत परम्परा के विपरीत पूरे काव्य में एक ही छन्द का प्रयोग करने तथा लक्षणात्मक विवरणों का यथासंभव निरास करने पर भी कल्हण ने काव्य के मूल सिद्धान्त—एक निश्चित रसविशेष की उत्पत्ति के लक्ष्य-को सदैव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने सामने रखा है : , उन्होंने शान्त रस चुना है। कल्हण ब्राह्मण थे तथा संभवतः भार्गव कुल की सारस्वत शाखा से संबद्ध थे। वे एक मन्त्री के पुत्र थे और इस प्रकार राजनीतिक मामलों तथा राजनीतिज्ञों के चरित्र से भलीभाँति परिचित थे।

राजतरंगिणी किसी एक शासनवंश का इतिहास न हो कर कश्मीर का सामान्य इतिहास है। कल्हण इस तथ्य का स्वीकरण करते हैं कि उन्होंने पूर्ववर्ती शासनवंशीय इतिहासों को भी अपना स्रोत बनाया है। उनका विवरण कश्मीर की उत्पत्ति से प्रारम्भ होता है जिसे **पुराणों** में चर्चित मनु वैवस्वत की परम्पराओं से संबद्ध किया गया है। कल्हण का विवरण विक्रमादित्य (द्वितीय)—जिसने मातृगुप्त को सिंहासन पर बिठाया—के समय से बहुत कुछ विश्वसनीय होता दिखाई पड़ता है; इसके पहले प्रथमतः कुछ पौराणिक शासकों का उल्लेख है जिसके बाद अशोक तथा कुछ कुषाण शासकों की चर्चा है; इनके तथा मातृगुप्त के बीच कई शासकों के नाम आते हैं जो प्रायः हूण समझे गए प्रतीत होते हैं। वस्तुतः कश्मीर का स्वतन्त्र इतिहास मातृगुप्त के समय से ही प्रारम्भ होता है; इसके पूर्व वह कुषाण साम्राज्य तथा पहले मौर्य साम्राज्य का अंग था। कश्मीरी इतिहासकारों की क्षेत्रीय देशभक्ति ने इन ऐतिहासिक तथ्यों का गोपन करते हुए अपने शासकों की प्राचीनता को भारत युद्ध तक खोजने को प्रेरित किया। मातृगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियों के विवरण के पश्चात् कश्मीर पर हूण आधिपत्य का उल्लेख है। कारकोट शासन वंश के प्रथम शासक दुर्लभवर्धन (सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ) के साथ हम निश्चित ऐतिहासिक भूमि प्राप्त करते हैं।

बाद में कुछ कश्मीरी इतिहासकारों ने कल्हण की कृति के पूरक ग्रन्थ लिखे। इनमें पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न जोनराज तथा उनके शिष्य श्रीवर के नाम तथा सोलहवीं शताब्दी के प्राज्यभट तथा शुक के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

अध्याय १२ : 'सिन्धु तथा गुर्जर में इतिहास-लेखन' : सिन्धु के मध्यकालीन इतिहास का जो कुछ भी शेष है वह **चच नाम** में प्राप्य है। यह ग्रन्थ आठवीं शताब्दी में अरब आक्रमण के बाद लिया गया। छठी-सातवीं शताब्दी ई० के शासकों के विवरणों के साथ-साथ इसमें अरब आक्रमण का भी विवरण दिया गया है।

गुर्जर प्रदेश (गुजरात; प्राचीन आनर्त अथवा सुराष्ट्र) का मध्ययुगीन इतिहास जैन मठों से संबद्ध पुस्तकालयों–विशेषरूपेण पाटन में–भलिभाँति सुरक्षित है। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र—जिसका नाम ऊपर **परिशिष्ट पर्वन** के संदर्भ में उल्लिखित है—ने **द्व्याश्रय** नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की जो अंशतः संस्कृत एवं अंशतः प्राकृत में है। संस्कृत में लिखे गए प्रथम बीस सर्ग गूर्जर के चालुक्य राजवंश के संस्थापक मूलराज (९४२ ई०) से लेकर सिन्धुराज (बारहवीं शताब्दी का प्रथमार्ध)—जिसके समय में हेमचन्द्र ने अपना कवि जीवन प्रारम्भ किया—तथा उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के समय तक का वृत्त प्रस्तुत करते हैं। प्राकृत में लिखे गए अन्तिम आठ सर्ग कुमारपाल को अपना विषय बनाते हैं। दोनों ही भाग,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कल्हण द्वारा प्रस्तुत प्रकार के विपरीत, मुख्यतः काव्यशैली का अनुकरण करते हैं। अतिमानवीय घटनाओं का बाहुल्य है तथा जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुरूप घटनाओं की व्याख्या की गई है। व्याकरण के विभिन्न नियमों के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से घटनाओं में खींचतान तथा काल्पनिक घटनाओं का अविष्कार भी दिखाई पड़ता है। हेमचन्द्र के विचारानुसार, कुमारपाल के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना उसके द्वारा जैन धर्म का स्वीकरण था; उसने एक आदर्श जैन राज्य की स्थापना का प्रयास किया।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में सोमप्रभ ने चम्पू शैली में **जिनप्रतिबोध** अथवा **कुमारपालप्रतिबोध** लिखा जिसमें यही विषयवस्तु लिया गया है। भीम द्वितीय (११७८–१२४१) मूर्ख शासक था किन्तु उसका शासन वस्तुपाल नामक बुद्धिमान मन्त्री (जो वणिक् वर्ग में उत्पन्न एक जैन था) के हाथ में था। ब्राह्मण सोमेश्वर ने **कीर्तिकौमुदी** में उसके जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया; उसके एक अन्य काव्य **सुरथोत्सव** में पौराणिक कथावस्तु अपनाए जाने पर भी काव्य के नायक सुरथ तथा भीम द्वितीय में आश्चर्यजनक सदृशता के कारण यह ग्रन्थ समसामयिक घटनाओं के ऊपर एक रूपक जान पड़ता है। अरिसिंह नामक एक अन्य समसामयिक जैन गृहस्थ ने वस्तुपाल के ऊपर **सुकृत-संकीर्तन** नामक काव्य की रचना की। अरिसिंह में हेमचन्द्र की अपेक्षा सत्यनिरूपण कम है। बालचन्द्र रचित **वसन्तविलास** वस्तुपाल के ऊपर लिखित तीसरा ऐतिहासिक काव्य है।

इनके अतिरिक्त जैनों द्वारा कई अन्य ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थ प्रणीत हुए जिन्हें **प्रबन्ध** कहा जाता है। इसमें प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थ वस्तुपाल के एक समसामयिक जिनचन्द्र द्वारा लिखित **प्रबन्धावली** है। यह प्राचीन सातवाहनों के साथ-साथ हाल के राजस्थानीय चाहमानों तथा चालुक्यों एवं परमारों की भी चर्चा करता है। मेरुतुंग रचित **प्रबन्धचिन्तामणि** में विभिन्न पूर्ववर्ती शासकों के विषय में कथाएँ दी गई हैं और वह अरब आक्रमण की भी चर्चा करता है। कथाओं के रूप में होने के कारण उसकी सूचनाएँ अप्रत्यक्ष रूप में मिलती हैं। चौहदवीं शताब्दी के मध्य में जयसिंह (द्वितीय) ने कुमारपाल तथा उसके गुरु हेमचन्द्र के ऊपर **कुमारपालभूपालचरित** की रचना की।

अध्याय १३ : 'चाहमान इतिहास-लेखन तथा राजपूत परम्पराओं का विकास' : लगभग ११९२ में जयानक ने सपादलक्ष देश (उत्तरी राजस्थान) के शासक पृथ्वीराज तृतीय के ऊपर **पृथ्वीराजविजय** नामक काव्य की रचना की। जयानक कश्मीरी ब्राह्मण था और इस कारण संभवतः भार्गव कुलोत्पन्न था। वह पृथ्वीराज को राम का अवतार मानता है और इस प्रकार उसे सूर्यवंश से संबद्ध करता है। पृथ्वी पर उसके अवतरण का प्रमुख प्रयोजन तुर्कों का विनाश था। जयानक पृथ्वीराज के तुर्कों पर विजय (११९१ ई०) का विवरण देता हैं मानों वह निर्णयात्मक युद्ध हो। किन्तु, वस्तुतः वह निर्णयात्मक युद्ध नहीं था क्योंकि शीघ्र बाद तुर्कों ने पुनः पंजाब पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में पृथ्वीराज पराजित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ एवं मारा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जयानक अपने अपूर्ण काव्य को लेकर कश्मीर जला गया जहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी में जोनराज ने इस पर एक टीका लिखी।

जयानक काव्य के कई सर्गों में चाहमानों का पूर्ववर्ती इतिहास देता है। उसकी मुख्य कथावस्तु यह है कि तुर्कों ने आक्रमण करके मन्दिरों इत्यादि का विध्वंस किया जिससे ब्रह्मा ने विष्णु से अवतार लेने की प्रार्थना की। विष्णु ने पहले चाहमान को उत्पन्न किया जिससे चाहमान वंश उद्भूत हुआ। सातवीं शताब्दी से उसका इतिहास अधिक प्रामाणिक होने लगता है तथा अन्य स्रोतों एवं अभिलेखों से उसकी सूचनाओं का समर्थन होता है। संपूर्ण ग्रन्थ काव्यात्मक शैली में है जिसमें नायक संयोगिता के रूप में भाग्य-देवी को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और सफल होता है। काव्य में कई स्थानों पर कविसुलभ कल्पनाओं तथा अतिमानवीय घटनाओं की प्रभुतता दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश में लिखित **पृथ्वीराजरास** को पृथ्वीराज तृतीय के दरबारी कवि चन्द्र की रचना मानी जाती है। इसमें बहुत कुछ बाद में जोड़ा गया है और अब इस ग्रन्थ की कई पाण्डुलिपियाँ प्राप्य हैं। इसके अधिकांश भाग चौदहवीं शताब्दी के बाद के माने जाते हैं किन्तु किसी भी अंश के विषय की तिथि के बारे में निश्चयात्मक रूप से कह सकना कठिन है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में एक जैन लेखक जयचन्द्र ने संस्कृत में **हम्मीर महाकाव्य** लिखा। हमीर (१३०० ई०) की शौर्यपूर्ण तथा दुखद कथा कहने के पूर्व यह चाहमानों के इतिहास का पर्यवेक्षण करता है। लेखक के अनुसार, पृथ्वीराज के भाई हरिराज के समय तुर्कों द्वारा अजयमेरु के निर्णयात्मक पतन के पश्चात् चहमान सर्वथा विनष्ट नहीं हुए और पृथ्वीराज के प्रपौत्र गोविन्दराज ने रणथम्भौर में पुनः इस वंश की स्थापना की। हमीर इस प्रकार चाहमानों से सम्बद्ध था। इस प्रत्यक्ष संबंध पर शंका प्रकट की गई है तथा इसे परवर्ती परिवर्धन माना गया है। जो भी हो गोविन्दराज के वंशजों ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चहमानों के रूप में शासन किया। संक्षेप में इनका इतिहास देकर जयचन्द्र हम्मीर के जीवन पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। नवें सर्ग में हम्मीर की विविध विजयों की चर्चा है। एक तुर्की स्रोत से हम जानते हैं कि १२९० में तथा उसके बाद कई अवसरों पर उसने तुर्कों को पराजित किया। निसुरत्तखान के नेतृत्व में अलाउद्दीन की सेना उससे पराजित हुई और तुर्क सेनापति मारा गया। अन्ततः १३०१ में स्वयं अलाउद्दीन ने किले का घेरा डाला; हम्मीर के साथ राजपूत युद्ध करते मारे गए जब कि स्त्रियों ने जौहर किया। तेरहवें सर्ग में कवि हम्मीर के स्वार्गारोहण की चर्चा करता है।

चन्द्रशेखर का **सुरजन चरित** (सोलहवीं शताब्दी) चाहमान इतिहास पर लिखित एक अन्य काव्य है। संभवतः इससे भी बाद का **पृथ्वीराज रास** का वह अंश है जिसमें चाहमान कुल की याज्ञिक अग्नि से उत्पन्न बताई गई है। इसमें इन्द्र ब्रह्मा, रुद्र तथा विष्णु द्वारा क्रमशः परमार, चालुक्य, प्रतिहार तथा चाहमान कुलों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की उत्पत्ति बताई गई है तथा उन्हें विभिन्न भूप्रदेशों का संरक्षत्व सौंपा जाते हुए दिखाया गया है।

राजस्थान के विभिन्न राज्यों ने अपने इतिहास को **ख्यातों** में सुरक्षित रखा है; ये गद्य में लिखित इतिवृत्त हैं; इनका समय सोलहवीं शताब्दी के बाद का है। इनके अतिरिक्त विभिन्न राजाओं के ऊपर लिखे गए **रास** प्राप्य हैं जिनमें उनकी पूर्वज-परम्परा भी दी गई मिलती है जिनकी ऐतिहासिकता सदैव विश्वसनीय नहीं है। जैसलमेरु के **ख्यात** अपने राजाओं को यादव कुल से संबद्ध करते हैं। मरुस्थली के **ख्यात** राष्ट्रकूट कुल का इतिहास—पहले माण्डलपुर में तथा १४५९ के बाद से उनकी नई राजधानी जोधपुर में–प्रदान करते हैं। राजपूतों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कुल मेदपाट (मेवार) के गुहिलपुत्रों का कुल है; यह प्रदेश अवन्ति तथा मरुस्थली के बीच में पड़ता है। उन्होंने इस प्रदेश पर कम से कम छठी शताब्दी से आधुनिक काल तक शासन किया। इस प्रदेश से बहुसंख्यक **रास** तथा **ख्यात** प्राप्त होते हैं जिनमें संभवतः प्राचीनतम उपलब्ध काव्य **खुम्माणरास** का प्राचीनतर अंश है; यद्यपि इसके पूरक ग्रन्थ प्रतापसिंह (सोलहवीं शताब्दी) के समय तक लिखे जाते रहे। कुछ परवर्ती गुहिलपुत्रों पर कुछ पृथक् काव्य-ग्रन्थ भी लिखे गए, जैसे जगतसिंह के ऊपर **जगद्विलास**, राजसिंह के ऊपर **राजप्रकाश** तथा **राजविलास** एवं जयसिंह के ऊपर **जयविलास**; यह सभी शासक सत्रहवीं शताब्दी में हुए थे। यह उल्लेखनीव है कि चौदहवीं शताब्दी से गुहिलपुत्र शासनवंश शिशोदिया वश के नाम से जाना जाने लगा था।

अम्बावती (आमेर; जयपुर) राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा सांस्कृतिक इतिहास के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ की **ख्यातों** के प्राचीन नायकों में पृथ्वी-राज (१५००) तथा मानसिंह (**मानचरित** का नायक) उल्लेखनीय हैं। जयसिंह द्वितीय (१६९९–१७४३) एक विद्वान् शासक था जो अपने कार्यों तथा अनुसंधानों की महत्त्वपूर्ण दैनन्दिनी रखता था। इसका शीर्षक **कल्पद्रुम** है जो एक महत्त्वपूर्ण ऐति-हासिक ग्रन्थ है। ईश्वरीसिंह के ऊपर समसामयिक कवि कृष्णशर्मन् लिखित **ईश्वरविलास** एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। जयपुर के कछवाहा शासनवंश के ऊपर एक परवर्ती काव्य सीताराम का **जयवंश** है। यह १८३० में लिखा गया तथा संस्कृत भाषा में है। इस शासनवंश के ऊपर अन्य कई काव्य तथा इतिवृत्त लिखे गए। इस प्रसंग में हम तुर्कों द्वारा पारसी भाषा में लिखे इतिवृत्तों का उल्लेख कर सकते हैं। भारतीय सभ्यता के प्रति उनका दृष्टिकोण नकारात्मक प्रकार का है क्योंकि इनमें इसकी सुरक्षा के स्थान पर इसके विनाश का लेखन अभिप्रेत है।

अध्याय १४ : 'जैजाकभुक्ति का इतिहास–लेखन' : जेजाकभुक्ति बुन्देलखण्ड का नाम है; यहां चन्द्रात्रेय वंश अथवा चन्देलों का शासन था और इनके इतिवृत्त अब अप्राप्य से है। **महोबा खण्ड (महोत्सव खण्ड)** नामक काव्य-ग्रन्थ—जो प्रत्यक्षतः **पृथ्वीराजरास** का एक भाग जान पड़ता है –में ११८१ में चंद्रात्रेय शासक परमर्दि के विरुद्ध पृथ्वीराज के आक्रमणों का वर्णन है। इसे **परमर्दिरास** भी कहा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह संभव है कि मूलतः यह जेजाकभुक्ति में चंद्रात्रेय स्रोतों के आधार पर लिखा गया था और बाद में **पृथ्वीराजरास** के निरन्तर बढ़ते हुए संग्रह का भागमात्र बन कर रह गया। इसकी कई प्रतियाँ मिलती हैं जिससे इसके वास्तविक इतिहास का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है।

चन्द्रात्रेय वंश की उत्पत्ति के पौराणिक विवरण के पश्चात् काव्य का मुख्य खण्ड ११८२ में पृथ्वीराज चाहमान द्वारा महोत्सव-नगर पर अधिकार (यद्यपि वह इसे अधिक दिन नहीं रख सका) की चर्चा करता है। आल्हा एवं ऊदल परमर्दि के दो सेनापति थे जिनके शौर्य एवं रणचातुर्य का विवरण इस काव्य में किया गया है। मूल काव्य में संभवतः जेजाकभुक्ति को अन्ततः विजयी प्रदर्शित किया गया था (जैसा कि अभिलेखों से भी प्रमाणित होता है कि परमर्दि ने दो साल के भीतर ही महोत्सव को पुनः जीत लिया था) किन्तु चन्द्र के संस्करणों में महोत्सव पर पृथ्वीराज का ही आधिपत्य तथा तत्परिणामस्वरूप परमर्दि को शर्म से मृत्यु प्राप्त करते हुए दिखाया गया है।

बुन्देलखण्ड की मौलिक परम्परा ने हिन्दी की बुन्देली लोकभाषा में **आल्हा-रासो** नामक काव्य को सुरक्षित रख छोड़ा है जिसे जगनिक-जो परमर्दि का वह दूत था जो आल्हा एवं ऊदल को पुनः परमर्दि की सेवा में लाने में सफल हुआ था– की कृति मानी जाती है। इसमें वही कथा है किन्तु स्पष्टतः इसमें जेजाकभुक्ति के उपर्युक्त दो नायकों की प्रशस्ति-लेखन की इच्छा स्पष्ट है। इसमें परमर्दि की कायरता एवं दुर्बलता पर **महोत्सवखण्ड** से भी अधिक बल दिया गया है, तथा इसका प्रयोजन केवल इन दो नायकों की गरिमा का गान है जिन्होंने ऐसे व्यर्थ शासक के लिए भी अपने प्राण निछावर कर दिए।

सोलहवीं शताब्दी में चंद्रात्रेय शासनवंश के बाद बुन्देलों का शासन आया। ये कई राज्यों में विभक्त थे तथा सामान्यतया मुगलों के अधीनस्थ प्रतीत होते हैं। बुन्देल इतिहास से संबद्ध कई काव्य तथा जीवन-चरित मिलते हैं जिनमें छत्रसाल (१६४६–१७३१) पर लिखा गया **छत्रप्रकाश** विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। जेजाक की दक्षिणी-पूर्वी सीमा पर सोलहवीं शताब्दी से एक बघेल राजवंश आया; पद्मनाभ लिखित **वीरभद्रचम्पू**–जो १५७८ ई० में पूर्ण हुआ—इस राजवंश के एक शासक का चरित्र-चित्रण है।

अध्याय १५ : 'तीरभुक्ति में इतिहास-लेखन' : तीरभुक्ति वही भूप्रदेश था जहाँ प्राचीन काल में वृजि गणतंत्र का अस्तित्व था। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में हम इसे एक कर्णाटिक राजवंश द्वारा शासित पाते हैं। १३२६ में मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध युद्ध में इस वंश का शासक हरसिंह अपने राज्य के नेपाल वाले खण्ड में चला गया। किन्तु कुछ ही वर्षों बाद कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने अपने गाँव के नाम पर यहां सुगौन नामक राजवंश की स्थापना की।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिवसिंह सुगौन के शासनकाल में विद्यापति ने **पुरुषपरीक्षा** लिखी जिसमें विविध इतिहासकथाएं इस विषय के विवाद के अन्त-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गंत दी गई हैं कि किसी राजकन्या द्वारा उपयुक्त वर का वरण कैसे किया जाय। अन्य युगों के नायकों को कलियुग के लिए अनुपयुक्त बताकर वर्तमानयुगीन शासकों के विवरण दिए गए हैं और इस प्रसंग में नन्दों, चंद्रगुप्त मौर्य, शूद्रक, विक्रमादित्य, भोज, बंगाल का लक्ष्मणसेन, हम्मीर आदि शासकों की चर्चा की गई है। कर्णाटक के शासक हरसिंह से संबद्ध कई कथाएं दी गई हैं।

विद्यापति का दूसरा ग्रंथ **कीर्तिलता** है जिसमें कीर्तिसिंह सुगौन (चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) का प्रशस्ति-गायन हैं। **पुरुषपरीक्षा** संस्कृत में और **कीर्तिलता** अपभ्रंश में है। ताराचन्द्र नामक एक परवर्ती तीरभुक्ति-शासक के ऊपर वैद्यनाथ द्वारा लिखा गया **ताराचन्द्रोदय** एक अन्य संस्कृत काव्य है।

अध्याय १६ : 'नेपाल में इतिहास-लेखन' : नेपाल के मुख्य प्रलेख **वंशावली** नाम से ज्ञात हैं। इनके अन्तिम रूप दो मुख्य संस्करणों में उपलब्ध हैं जिनमें एक बौद्ध लेखकों द्वारा एवं दूसरा ब्राह्मण लेखकों द्वारा सुरक्षित रहा; इनकी तिथि क्रमशः १८०० तथा १८३४ ई० है। इनके अतिरिक्त अन्य कई **वंशावलियां** मिलती हैं; इनमें देश की उत्पत्ति तथा विविध शासनवंशों के इतिहास सुरक्षित रखे गए हैं। इनके अतिरिक्त **स्वयंभूपुराण** नामक एक बौद्ध ग्रन्थ क्षेत्रीय पुराण के रूप में लिखा गया जिसमें देश की उत्पत्ति का विवरण तथा विभिन्न कथाएं दी गई हैं। यद्यपि इतिहास-लेखन के प्रति इसका कोई विशिष्ट योगदान नहीं दिखाई पड़ता।

इन वंशावलियों में लेखकों द्वारा अपने राजवंशों को त्रुटिपूर्ण पौराणिक तिथिक्रम से जोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। पौराणिक शासकों के पश्चात् कलियुग में यहां पहले किरात वंश का शासन बताया गया है किन्तु इसका कोई अन्य ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। ईसवी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों में यहां लिच्छवियों का शासन था जिन्हें प्राचीन भारतीय क्षत्रियों के सूर्यवंश से संबद्ध किया गया है। वंशावली-परम्परा नेपाल पर गुप्त-प्रभुसत्ता स्वीकार करती है किन्तु इस संपूर्ण काल में लिच्छवी-शासकों की अविरत शृंखला भी प्रदर्शित करती है। **वंशावलियों** में एक समय में तिब्बती आधिपत्य का उल्लेख हुआ है जिसका अन्त रुद्रदेव द्वारा तिब्बतियों के निष्कासन (संभवतः ७०४ ई० में) द्वारा संपन्न हुआ। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् लिच्छवि राजवंश की दीर्घकालीन परम्परा का अन्त हुआ जब अरिमल्ल (१२००-१६) ने मल्ल नाम से विख्यात शासनवंश की स्थापना की। **वंशावली**-परम्परा में इन्हें भी सूर्यवंशी कहा गया है। अरिमल्ल के प्रपौत्र के पश्चात् १७६८ में गोरखों (चित्रकूट से गए हुए राजपूत, जो अपने लिए गुहिलपुत्र-पूर्वज परम्परा का दावा करते हैं) की विजय तक क्रम से मल्लों की तीन अन्य शाखाओं ने राज्य किया। अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् यह इतिहास-परम्परा गोरखा-**वंशावली** तथा अन्य ग्रन्थों में आगे बढ़ती है।

अध्याय १७ : 'कामरूप (आसाम) में इतिहास-लेखन' : **हर्षचरित** के सातवें अध्याय में बाण ने कामरूप के शासक भास्करवर्मन् का हर्ष के पक्षधर के रूप में उल्लेख किया है। इस प्रदेश का परिवर्ती इतिहास आहोम शासकों (जिन्होंने तेरहवीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी से आगे शासन किया) के अन्तर्गत लिखित **बुरन्जियों** (वंशावलियों) में प्राप्त होता है; ये गद्यात्मक इतिवृत्त हैं जो अधिकांशत: सत्रहवीं शताब्दी और बाद में लिखे गए। ये भारतीय इतिहास–लेखन परम्परा से संबद्ध हैं एवं कामरूप के इतिहास को पौराणिक प्राचीनता से सबंधित करते हैं। विभिन्न पौराणिक शासन-वंशों एवं शासकों की चर्चा के पश्चात् आहोम विजय की चर्चा होती है। आहोम थाई उत्पत्ति के थे जिनका धीरे-धीरे ब्राह्मणीकरण होता गया। सुहुन्गमुन्ग (१४९७-१५३९) ने संस्कृत नाम स्वर्गनारायण ग्रहण किया। इसने अपने साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार किया तथा बंगाल से होने वाले तुर्की आक्रमणों का सफल प्रतिरोध प्रस्तुत किया। **बुरन्जियों** में इन युद्धों का रोचक तथा विस्तृत विवरण मिलता है। **बुरन्जियों** की संख्या बहुत बड़ी है तथा इनमें उन्नीसवीं शताब्दी तक का कामरूप का विस्तृत इतिहास प्राप्त होता है। कुछ में कामरूप से इतर प्रदेशों का इतिहास भी सम्मिलित है। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी की एक **बुरन्जि** में पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली में तुर्की शासकों का इतिहास लिखा गया। यह उल्लेखनीय है कि श्रीनाथ (जिसका समय उन्नीसवीं शताब्दी है।) जैसे कुछ **बुरन्जि**–लेखक अपनी कृतियों के लिए संस्कृत शब्द **'वंशावली'** का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार उन्हें परम्परागत भारतीय इतिहास-लेखन से संबद्ध करते हैं। श्रीनाथ ने अपनी कृति को काव्य (साहित्यिक कृति) न कह कर शास्त्र (एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ) कहा है।

अध्याय १८ : 'लंका में मध्ययुगीन इतिहास-लेखन' : ऊपर लंका के समृद्ध इतिहास लेखन की चर्चा की जा चुकी है और इस प्रसंग में, ब्राह्मण इतिहास–लेखन में दृश्यमान प्रवृत्ति के समान, इतिहास से पौराणिकता की ओर उन्मुखता पर भी विचार किया गया है। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में महानाम रचित **महावंश** (बौद्ध इतिहास) इस प्रकार के काव्य-इतिहास को प्रस्तुत करता है; यह **दीपवंश** पर आधारित है। महानाम मुख्य रूप से दो नायकों देवानामपियतिस्स (तीसरी शताब्दी ई० पू०) तथा दुट्ठगामणी (प्रथम श० ई० पू०) के कार्यों का प्रशस्तिपूर्ण विवरण प्रदान करना चाहता है। इनमें दूसरा शासक राष्ट्रीय नायक के रूप में भी ज्ञात है जिसने देश को तमिल प्रभुत्व से मुक्त किया। प्रारम्भ में ही वह अपने लेखन का उद्देश्य (बौद्ध) धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करना तथा (जगत की नश्वरता के प्रति) अपने पाठकों में दृष्टि उत्पन्न करना बताता है।

बाद में महानाम के काव्य के पूरक ग्रन्थों की रचना की गई। तेरहवीं शताब्दी में धम्मकित्ति की रचना इनमें प्रथम तथा विशालतम है। पराक्कमबाहु (बारहवीं शताब्दी) इसका विषय है जिसे राष्ट्रीय नायक के रूप में चित्रित किया गया है। ये पूरक ग्रन्थ प्रायः **चूलवंश** नाम से जाने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गौण वंश भी प्राप्य हैं जो बौद्ध धर्म के इतिहास में किसी महत्त्वपूर्ण घटना अथवा कथानक पर लिखे गए हैं। **महावंश** पर लिखित **वंसत्थपकासिनी** (दशवीं शताब्दी) इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें भारत तथा लंका दोनों के विषय में बहुतेरी ऐतिहासिक सूचनाएं दी गई हैं। बहुसंख्यक गद्यात्मक कथाओं के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संग्रह भी मिलते हैं जिनकी वस्तुसामग्री अंशतः ऐतिहासिक है : , धम्मनन्दिन कृत **सीहलवत्थुप्पकरण** तथा रट्ठपालकृत **सहस्सवत्थुप्पकरण** ऐसी ही कथाओं के संग्रह है; महामंगलकृत **बुद्धघोसुप्पत्ति** (१४वीं शताब्दी) प्रसिद्ध विद्वान बुद्धघोष का जीवन-चरित है। ये सभी रचनाएं पालि भाषा में है।

इसके बाद सिंहली भाषा में लिखे कई ऐतिहासिक ग्रन्थ आते हैं। प्रारम्भिक काल के इतिहास के लिए ये पालि स्रोतों पर आधारित हैं किन्तु तेरहवीं शताब्दी के बाद के इतिहास के लिए ये प्राथमिक स्रोत हैं। इनमें बुद्धपुत्त रचित **पूजावलिय** (तेरहवीं शताब्दी), लेखक के नाम से रहित **राजावलिय** तथा देवरक्षित कृत **निकायसंग्रह** (चौदहवीं शताब्दी) सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। १८७२ में संपूर्ण हुए पोलवत्ते वदाने लिखित **महाराजावलिय** में डच तथा अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन का विवरण है।

अध्याय १९ : 'तमिल देश में इतिहास-लेखन' : तमिल भाषा में उपलब्ध प्राचीनतम साहित्य, जिसमें ऐतिहासिक वस्तुसामग्री प्राप्य है, **एट्टुतोगइ** नाम से ज्ञात कविताओं के 'आठ संग्रहों' के कुछ खण्ड हैं। इनमें **पुरणाणरु** (संभवतः दूसरी शताब्दी) तथा **पदिर्रुप्पत्त** में पाण्ड्य तथा चोल शासकों का विवरण है; **पदिळ्ळुप्पत्तु** में चेर शासकों की दो प्रमुख शाखाओं के अविच्छिन्न इतिहास के विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण मिलते हैं। अन्य संग्रहों में यत्र-तत्र बिखरी ऐतिहासिक सूचनाएं मिलती हैं। जिन शासकों का प्रायः अभिशंसनात्मक विवरण इन कविताओं में मिलता है उनमें पाण्ड्य शासक नेडुंजेळियन (२०० ई०), चोल शासक करि-कालन (द्वितीय शताब्दी) प्रमुख है।

संभवतः द्वितीय शताब्दी में ही संकलित **पत्तुपाट्टु** नामक एक अन्य तमिल संग्रह में भी इन्हीं शासकों को कथानक का विषय बनाया गया है। **पतिनेणकीळ-कणक्कु** (१८ अप्रधान कृतियां) बाद का संग्रह है जिनमें इन शासकों के समय से नवीं शताब्दी तक का इतिहास संगृहीत है।

परवर्ती काल में तमिल देश का इतिहास-लेखन कथाओं में परिवर्तित हो गया। नक्कीरर (८वीं शताब्दी या बाद में) द्वारा इरयनार की **अहप्पोरुल** पर की गई टीका वह प्राचीनतम कृति है जिसमें प्राचीन इतिहास को व्यवस्थित रूप में देने की चेष्टा की गई है। इसमें राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा साहित्य का इति-हास अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है और परिणामस्वरूप संपूर्ण प्राचीन काल को तीन संगमों अथवा युगों में बाँटा गया है; विभाजन का आधार तीन भिन्न नगरों में क्रम से विद्वानों के तीन संस्थानों का अस्तित्व है। तीसरा संगम द्वितीय शताब्दी ई० की घटनाओं का प्रतिचित्रण करता है। विद्वानों के संरक्षक पाण्ड्य शासकों का भी उल्लेख हुआ है। इनमें पौराणिक उद्धरण भी मिलते हैं। यहां यह जोड़ना आवश्यक है कि **शिलप्पदिकारम** के अनुसार पाण्ड्य चन्द्रवंशी थे; यही परम्परा **पद्मपुराण** में भी स्वीकृत है जो इन्हें तुर्वसु लोगों से संबद्ध करता है।

प्राचीन तामिल साहित्य के 'पांच महा काव्यों' (पेरुंकाप्पियम् महाकाव्य)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में एक **शिलप्पदिकारम्** है। यह तीसरे संगम की रचना है जो संभवतः किसी जैन लेखक द्वारा लिखी गई थी। इसका दृष्टिकोण विशाल तथा सहिष्णुतापूर्ण है। एक अन्य महाकाव्य, **मणिमेकलाई**, एक बौद्ध लेखक की रचना है; इसमें भी वही सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण है यद्यपि बौद्ध दर्शन को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। इनके अतिरिक्त पांच गौण काव्य भी लिखे गए थे। **शिलप्पदिकारम्** को द्वितीय शताब्दी में केरल के शासक शेंगुट्टुवन के भाई इळांगो की रचना माना जाता है। इसमें पृष्ठभूमि के रूप में इस शासक को महान जननायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है किन्तु इसमें समानरूपेण करिकालन चोल का भी प्रशस्ति-गायन है। **मणिमेकलाइ** मदुराइ के वणिक् शात्तन की रचना है जिसे इळांगो का समसामयिक एवं मित्र बताया जाता है; यह स्पष्टतः गलत है क्योंकि उसकी नायिका दिङ्नांग के तर्क-शास्त्र का अध्ययन करती दिखाई गई है जिसका समय चौथी शताब्दी ईसवी के पूर्व नहीं है।

दसवीं शताब्दी में पल्लवों—जो मूलतः कांची प्रदेश में थे जिसे तमिल साहित्य में तोण्डइमण्डलम कहा गया है—की पाण्डयों के ऊपर निर्णयात्मक विजय हुई। इस समय से—विशेषरूपेण बारहवीं शताब्दी से—बहुतेरे ऐतिहासिक लेखन हुए हैं। इनमें से कुछ अब अप्राप्य हैं किन्तु अभिलेखों में उनके उल्लेख प्राप्त होते हैं।

जयन्गोण्डार रचित **कलिंगत्तुप्परणि** तमिल युद्ध-काव्य है जिसमें कुलोत्तुंग प्रथम (१०७०–१११८) के कलिंग अभियान का विवरण है; यह अपनी काव्यात्मक उत्कृष्टता के कारण प्रसिद्ध है। यह कुलोत्तुंग के शासनकाल के अन्तिम दिनों में लिखा गया तथा उसके बाल्यकाल से ले कर उसकी विवध विजयों तक की चर्चा करता है। ओट्टक्कूत्तन एक अन्य उल्लेखनीय लेखक है जो कुलोत्तुंग प्रथम के बाद आने वाले तीन शासकों के दरबारों में रहा।

चोल इतिहास-लेखन के प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि तमिल तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में ऐसी प्रभूत ऐतिहासिक रचनाएं हैं जो मंदिरों, पवित्र स्थानों से संबद्ध कथाओं तथा इतिवृत्तों के रूप में हैं—उदाहरणार्थ दक्षिण भारतीय मन्दिरों के ऊपर रचित **स्थलपुराणों** की संख्या ५०० बताई जाती है। ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में इनका अध्ययन होना अभी शेष है तथा ये कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

अध्याय २० : 'केरल में इतिहास-लेखन' : इस प्रदेश की उत्पत्ति के विषय में केरल-परंपरा **केरलोत्पत्ति** नामक ग्रन्थ में मिलती है जिसे भार्गव परशुराम से संबद्ध किया है। इस कथा के विविध रूप केरल में लिखे अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। यह ग्रन्थ केरल के प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास को पुराणों के सार्वभौमिक इतिहास से संबद्ध करता है। प्रारम्भिक तथा संगमकालीन राज्यों के विवरण अस्पष्ट तथा अनिश्चित हैं; इनके शासक कथाओं में लुप्तप्राय हो गए हैं। परम्परा के अनुसार इन 'प्राथमिक चेरों' के पश्चात् एक जनक्रांन्ति सी हुई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसमें शासकों के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना हुई जिसमें रक्षकों के रूप में पांच शासकों का चयन होता था; ये 'रक्षापुरुष' कहलाते थे। इन पांच रक्षापुरुषों में एक सभापति नियुक्त किया जाता था। जिसकी कालावधि बारह वर्ष होती थी, जबकि अन्य तीन चार वर्षों के लिए नियुक्त होते थे और गणतन्त्र के चार प्रदेशों का शासन कार्य इन्हें सौंपा जाता था। सभापति को पेरुमाल कहते थे। परम्परा में पच्चीस पेरुमालों का उल्लेख है जो इस पद्धति की निरन्तरता की दीर्घकालीनता प्रमाणित करता है।

केरल के इन चार प्रदेशों के विषय में **केरलोत्पत्ति** का कथन है कि तुलु प्रदेश आधुनिक कर्णाटक है जबकि मूसक ('राट' प्रदेश) का प्रतिनिधित्व आधुनिक के उत्तरी भाग से होता है। ग्यारहवीं शताब्दी में अतुल ने **मूषकवंश** की रचना की जिसमें परशुराम से लेकर लेखक के समसामयिक श्रीकण्ठ तक इस प्रदेश के शासकों का विवरण अभिप्रेत है। यह ग्रंथ कई सर्गों में विभक्त है; कुछ अंश पर्याप्त प्रमाणिक हैं। संभवतः अतुल ने मंदिरों के लेखों तथा कथाओं से पर्याप्त सहायता प्राप्त की होगी।

परवर्ती ऐतिहासिक कृतियों में दामोदर (चौदहवीं शताब्दी) रचित **शिवविलास** तथा किसी अज्ञात लेखक रचित **रामवरमविजय** उल्लेखनीय है। दोनों ग्रन्थ संस्कृत में हैं तथा ऐतिहासिक कृतियों की अपेक्षा साहित्यिक कृतियां अधिक हैं। प्रथम में यद्यपि चौदहवीं शताब्दी के केरल के राजनीतिक इतिहास का चित्र सुरक्षित है तथापि यह मुख्यरूपेण सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व का ग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ प्रसिद्ध संस्कृत लेखक स्वाति तिरुनाल रामवर्मन (१८१२–१८४७) के जीवन पर लिखा गया है।

इनके अतिरिक्त मलयालम में विविध लोक परम्पराएं सुरक्षित मिलती हैं।

अध्याय २१ : 'कोंगु तथा कादम्बों की परम्पराएं' : कोंगु मूषक के पूर्व में स्थित पहाड़ी क्षेत्र में पड़ता है। इसकी ऐतिहासिक परम्पराएं **कोंगुदेशराजक्कल** नामक एक तमिल इतिवृत्त में सुरक्षित हैं जिसका संकलन संभवतः सत्रहवीं शताब्दी में प्राचीन किन्तु अब अप्राप्य स्रोतों के आधार पर हुआ था। यह इतिवृत्त एक राष्ट्रकूट राजवंश से प्रारम्भ होता है जिसकी स्थापना इसके अनुसार शक संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में हुई थी। इसे स्वीकार करने पर यह मानना होगा कि यद्यपि दूसरी शताब्दी में यह प्रदेश (**पदिरुप्पत्तु** तथा **शिलप्पदिकारम्** के अनुसार) चेरों द्वारा शासित था, तीसरी शताब्दी में राष्ट्रकूटों ने चेरों को पराजित कर यहां अपना प्रभुत्व जमा लिया। अन्तिम शासक विक्रम को चोल, पाण्ड्य, केरल तथा मलय-प्रदेशों पर विजय प्राप्त करते दिखाया गया है। पुनः यह गंग राजवंश की चर्चा करता है जो संभवतः चौथी शताब्दी में प्रभुत्व में आए। गंग शासक जैन थे। इतिवृत्त गंगों के उत्तराधिकार क्रम का अपेक्षाकृत विस्तृत तथा ठीक विवरण प्रदान करता है। नवीं शताब्दी के अन्त में कोंगु पर चोल शासक आदित्य प्रथम का आक्रमण हुआ और तब से यह चोल साम्राज्य का अंग बन गया। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह होय-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सल शासक विनयादित्य द्वारा विजित हुआ और इसके बाद से इतिवृत्त होयसलों के कोंगु प्रदेश तथा कभी-कभी तमिल प्रदेशों में शासन की चर्चा करता है। चौदहवीं शताब्दीसे यह विजयनगर साम्राज्य का अंग बन गया और इस समय से इतिवृत्त इस नए शासनवंश के विविध विवरणों की चर्चा करने लगता है। इतिवृत्त सत्रहवीं शताब्दी में केन्द्रीय शक्ति के ह्रास के पश्चात् विजयनगर के प्रान्तीय शासकों के पारस्परिक युद्धों के विवरण से समाप्त होता है।

कादम्ब वंश गंगों का समसामयिक था और उनके समान ही पल्लवों का अधीनस्थ था। इसका अधिकार क्षेत्र कर्णाटक का तटीय प्रदेश तथा महाराष्ट्र था। इसका संस्थापक मयूरशर्मन् था जिसने पल्लवों से अपनी स्वतंत्रता घोषित की तथा जयन्तीपुर (वैजयन्ती) में नई राजधानी बनाई। अज्ञात तिथि की तथा एक अज्ञात लेखक की कृति **मयूरवर्मचरित** नामक चम्पू काव्य में उसके जीवन-चरित्र का विवरण प्राप्त होता है।

अध्याय २२ : 'होयसल इतिहास-लेखन' बारहवीं शताब्दी में होयसल चालुक्य प्रभुत्व से मुक्त कर कर्णाटक प्रदेश की प्रमुख शक्ति बनकर उभरे। बल्लाल तृतीय (चौदहवीं शताब्दी) के दरबारी कवि विद्याचक्रवर्तिन तृतीय–जिसने काव्य-शास्त्रों पर अपनी टीकाओं के दृष्टान्तों के रूप में अपने संरक्षक के ऊपर कई अभि-शंसनात्मक श्लोक लिखे–के अनुसार ये यादव थे। इसी लेखक के पितामह विद्याचक्र-वर्तिन् द्वितीय का **गद्यकर्णामृत** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होयसल-इतिहास-ग्रन्थ है। यह होयसल सोमेश्वर (शासन १२३६–१२५४) का उसके जन्म से लेकर विवाह तक का जीवन चरित है जो उसके लिए संभवत: १२५२ में लिखा गया। यह ग्रन्थ भी परम्परागत काव्य-संरचना के अनुरूप है जिसमें विभिन्न पुराणकथाओं को नायक के जीवन से सन्निविष्ट करके दिखाया गया है। तथापि, अभिलेखों इत्यादि अन्य स्रोतों से यह प्रदर्शित होता है कि **गद्यकर्णामृत** का इतिहास-लेखन पर्याप्त शुद्ध है। होयसल इतिहास-लेखन का बहुत बड़ा भाग कन्नड़ भाषा में है। होयसल राजवंश के पतन के बाद भी इस पर कई ऐतिहासिक कृतियों की रचना हुई। इस राजवंश पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में **होयसलराजविजय**, **होयसलराजकुलवंश** एवं विभिन्न **स्थलपुराण** उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मणशास्त्री रचित **गुरुवंशमहाकाव्य** (अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) कर्णाटक के धार्मिक (वेदान्त अद्वैत) आचार्यों का इतिहास है जिसमें विजयनगर राज्य की स्थापना तथा इसके नए शासकों (हरिहर, बुक्का) एवं अन्तिम होयसलों के पारस्परिक संबंध तथा अन्ततः होयसल राज्य का नए साम्राज्य में विलीन हो जाने का विवरण प्राप्त होता है।

अध्याय २३– "आंध्र में इतिहास-लेखन" : पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विजयनगर साम्राज्य में इसके विलय के पूर्व आंध्र प्रदेश में अत्यन्त प्राचीनकाल से विविध राजवंशों ने शासन किया। सातवाहनों के पतन के पश्चात् तीसरी शताब्दी में यहां इक्ष्वाकु राजवंश आया, किन्तु चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में ही इन्हें पल्लवों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में आंध्र में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विष्णुकुण्डिन राजवंश स्वतंत्र शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। सातवीं शताब्दी में चालुक्यों ने इस प्रदेश पर विजय की तथा पुलकेशिन् द्वितीय के छोटे भाई विष्णु-वर्धन ने यहां पृथक राजवंश की स्थापना की जो पूर्वी चालुक्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। ६६६ में यह राजवंश चोलों का अधीनस्थ हो गया। बाहरवीं शताब्दी में चालुक्य शक्ति के ह्रास के परिणामस्वरूप आन्ध्र के पश्चिमी भाग में उनके सामन्त शासक काकतीयों ने ११३० में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी तथा लगभग १२०० में चोलों के पतन के पश्चात् आंध्र के पूर्वी प्रदेश को भी जीत लिया। काकतीय शासक प्रतापरुद्र द्वितीय ने १३१० में अलाउद्दीन के आक्रमण को विफल कर दिया किन्तु १३२६ में वह मुहम्मद तुगलक द्वारा पराजित हुआ एवं बंदी बना लिया गया। किन्तु प्रतापरुद्र के नायकों ने प्रोलय तथा कापय के नेतृत्व में अपना प्रतिरोध बनाए रखा तथा वे व्यवहारतः संपूर्ण आंध्र प्रदेश को स्वतंत्र कर सकने में सफल रहे। लगभग १३६८ में कापय की अन्नवोट नामक व्यक्ति द्वारा हत्या कर दी गई और उसने राजाचाल नाम से एक स्वतंत्र वंश की स्थापना की। अन्ततः पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में यह प्रदेश विजयनगर तथा कलिंग के बीच में विभक्त हो गया। आंध्र प्रदेश का दक्षिणी भाग विजयनगर का अंग बन गया जहां महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रगति हुई।

यह संपूर्ण आन्ध्र इतिहास-विशेष रूप से काकतीयों तथा उनके उत्तराधिकारियों का-क्षेत्रीय वंशावलियों, शासकीय प्रलेखों एवं मौलिक परम्पराओं में सुरक्षित मिलता है। उन्नसवीं शताब्दी में इन स्रोतों तथा अभिलेखों के आधार पर तेलगू भाषा में व्यवस्थित इतिहास-लेखन प्रस्तुत करने वाले कई ग्रन्थों की रचना हुई। बुक्कपतनम् रघवचर्युलु कृत **तेलगूदेशचरित** एक ऐसा दृष्टान्त है। संस्कृत भाषा में साहित्यक समीक्षा से संबद्ध ग्रन्थों में विभिन्न आन्ध्र शासकों के ऊपर लिखे गए तमाम श्लोक मिलते हैं जो मूलतः इन शासकों के दरबारी कवियों द्वारा लिखे गए थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में वामन ने वेम नामक शासक के ऊपर **वेमभूपालचरित** अथवा **वीरनारायण चरित** नामक आख्यायिका लिखी। वह स्वयं को 'नवीन बाण' कहता है तथा **हर्षचरित** की शैली का अनुकरण करता है। बाण के समान वह भी वत्सगोत्रीय भार्गव था और इस प्रकार पैत्रिक परम्परा के अनुसार इतिहास-लेखन का विशेष रूप से अधिकारी था।

अध्याय २४ : 'विजयनगर साम्राज्य का इतिहास-लेखन' : विजयनगर की स्थापना, अपने आध्यात्मिक गुरु विद्यारण्य के निर्देशन में, हरिहर बुक्का द्वारा हुई। स्वयं विद्यारण्य द्वारा लिखित काव्य ग्रन्थ **राजकालनिर्णय** तथा आत्मकथा **विद्यारण्यकालज्ञान** में संस्थापकों की जीवनी तथा राज्य-संस्थापन की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। इनके पिता का नाम संगम था। बुक्का के पुत्र कम्पन ने दुरा को तुर्कों से मुक्त किया। उसके इस विजय का विवरण स्वयं उसकी नमत्पी गंगा द्वारा लिखे **मधुराविजय** (अथवा **वीरकम्परायचरित**) नामक काव्य में हुआ है। इसमें पृष्ठभूमि के रूप में नायक के पिता बुक्का की जीवनी, विजयनगर की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापना, तथा कम्पन के विवाह का विवरण दिया गया है। बुक्का द्वारा अपने पुत्र को दिए गए उपदेश में तुर्क शासक को रावण के समान बताया गया है और राजकुमार से राम की भूमिका निभाने का आग्रह किया गया है। प्रसंगवश तुर्कों द्वारा किए गए विनाश-कृत्यों का हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

१४८५ में अन्तिम संगम शासक विरुपाक्ष—जो राजनैतिक तथा सैनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त दुर्बल शासक था—की हत्या हो गई जिस पर नरसिंह ने संगम वंश को हटा कर साम्राज्य का पुनर्व्यवस्थापन किया एवं सालुव वंश की नींव डाली। इसने १४८६ से १४६१ तक शासन किया। डिण्डिम कुल के राजनाथ द्वितीय के **सालुवाभ्युदय** में नरसिंह का प्रारंभिक इतिहास मिलता है। यह ग्रन्थ नरसिंह के पूर्वजों का विवरण प्रदान करने के पश्चात् उसके द्वारा कलिंग तथा तुर्कों के विरुद्ध किए गए युद्धों की चर्चा करता है। शालुव वंश अधिक दिनों तक नहीं रह सका और शीघ्र ही तुलुव वंश की स्थापना हुई। कृष्णदेवराय इस वंश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शासक था और इसकी विजयनगर साम्राज्य के सबसे प्रतापी राजा के रूप से प्रतिष्ठा है। कुमार धूर्जटि की तेलगू रचना **कृष्णदेवरायविजयमु** में इसके विभिन्न विजयों की चर्चा है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त यहां धार्मिक आचार्यों तथा गुरुओं के ऊपर कई जीवन-चरित लिखे गए; राजनीति से प्रत्यक्षरूपेण संबद्ध न होने पर भी तत्कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर इन आचार्यों का वहुत अधिक प्रभाव था। कुछ दृष्टान्तों में, जहां इनकी राजनीतिक घटनाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई पड़ती है, इस प्रकार की रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की रचनाएँ वन जाती हैं। विद्यारण्य का दृष्टान्त इस प्रकार का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इसी प्रकार सोमनाथ द्वारा व्यासतीर्थ नामक दार्शनिक तथा तर्कशास्त्री से संवद्ध जीवन चरित **व्यासयोगचरित** से तत्कालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। व्यासतीर्थ सालुव नरसिंह से लेकर अच्युतराय तक के शासकों के समसामयिक थे।

अच्युतराय (१५२६–४२) के शासनकाल के ऊपर दो संस्कृत ग्रन्थ मिलते हैं। तिरुमलाम्बा नामक राजकन्या ने **वरदाम्बिकापरिणय** नामक चम्पूकाव्य लिखा। इसकी मुख्य कथावस्तु अच्युत का सलग-राजकुमारी वरदाम्बिका के साथ विवाह है किन्तु साथ ही इसमें इस वंश की वंशावली, अच्युत के पिता के युद्धों का विवरण भी मिलता है। यह अच्युत के पुत्र वेंकटाद्रि के राजकुमार रूप में अभिषेक से समाप्त होता है। राजनाथ तृतीय डिण्डिम ने अच्युत के ऊपर **अच्युतरायाभ्युदय** नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा। इसमें वंशावली, अच्युत के पिता नरस के विभिन्न कार्यों, तथा स्वयं अच्युत के सिंहासनारोहण एवं युद्धों का विस्तृत विवरण मिलता है।

विजयनगर पर लिखी गई अन्य ऐतिहासिक रचनाओं में वासवरचित **शिवतत्वरत्नाकर** (अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) तथा इसी काल की किसी अज्ञात लेखक की रचना **विभागरत्नमाला** उल्लेखनीय है। अच्युतराय के पश्चात् विजयनगर का ह्रास हो गया एवं विभिन्न प्रान्तीय शासकों (नायकों) ने अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वतन्त्रता घोषित कर दी। सोलहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक के इस काल से संबद्ध विविध ऐतिहासिक रचनाएँ, संस्कृत, तेलगु तथा तमिल भाषा में लिखी गई।

अध्याय २५—'कलिंग में इतिहास लेखन' : कलिंग गुप्त साम्राज्य का भाग था। गुप्तों के पतन के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों पर क्षेत्रीय राजवंशों का उदय हुआ। पाँचवीं शताब्दी में कलिंग के दक्षिणी भाग में माठरों का प्रभुत्व हुआ। इनके पश्चात् (४९६ में) गंग शासकों की एक लम्बी शृंखला प्रारम्भ हुई जो अविच्छिन्न रूप में लगभग १००० वर्षों तक (१४३५ तक) चलती रही, जो किसी एक प्रदेश पर एक ही शासनवंश की प्रभुसत्ता की निरन्तरता का प्रतिमान है।

कलिंग से प्रभूत मात्रा में इतिहास-लेखन मिलता है। इनमें **वंशावलियाँ** प्रमुख हैं जिनमें कुछ संस्कृत में एवं कुछ ओरिया में हैं। मंदिरों के अपने लेखागार इन वंशावलियों के प्रमुख स्रोत होते थे। पुरी लेखागार से ओरिया **मादलापाञ्जी** का संकलन हुआ जिसका एक भाग, 'राजचरित', राजाओं से संबद्ध है। ऐसा विश्वास है कि यह इतिवृत्त गंग शासक अनन्तवर्मन् पंचम चोडगंग के आदेश से बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा गया और तब से सदैव इसे आधुनिकतम बनाएरखा गया है। वासुदेवरथकृत **गंगवंशानुचरित**, जो एक चम्पू काव्य है, इस इतिवृत्त की सामग्री को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त पवित्र स्थानों के ऊपर कई माहात्म्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

ये परम्पराएँ कलिंग के इतिहास को एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखती हैं। गंग शासनवंश ने दक्षिण से अपना प्रभुत्वविस्तार प्रारम्भ किया था और शनैः-शनैः संपूर्ण कलिंग को जीत लिया। ये परम्पराएँ कलिंग-इतिहास को पुरी के दृष्टिकोण से देखती हैं जो कि उत्तर में स्थित है। इनके अनुसार गंग राजवंश बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है जबकि अनन्तवर्मन् पंचम ने उत्तर पर विजय प्राप्त की। साथ ही इनमें कलिंग के इतिहास को पौराणिक शासकों से संबद्ध करने की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सातवाहनों, यवनों तथा गुप्तों का भी इतिहास इनमें दिया गया है।

इनमें केशरिन् तथा गंग शासनवशों के निर्माणात्मक कार्यों की चर्चा पर विशेष बल दिया गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में गणपति शासन वंश का प्रारम्भ हुआ। इसके संस्थापक कपिलेन्द्र के पुत्र पुरुषोत्तम की सामरिक उपलब्धियों का विस्तारपूर्ण विवरण मिलता है। मुकुन्द कलिंग का अन्तिम स्वतन्त्र शासक था तथा एक शासक के रूप में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। किन्तु १५६८ में वह तुर्कों से पराजित हुआ एवं समस्त प्रदेश उनकी विनाशलीला का क्षेत्र बना। तुर्कों ने खुर्दा के शासक रामचन्द्र को यहां अपना अधीनस्थ शासक नियुक्त किया जिसके वंशज तुर्कों के अधीन रहते हुए अठारहवीं शताब्दी तक यहां शासनकार्य करते रहे, जबकि यह प्रदेश मराठों द्वारा जीत लिया गया।

अध्याय २६—'महाराष्ट्र का इतिहास-लेखन' : बारहवीं शताब्दी के अंत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में यादव (सेवुण) राजवंश ने चालुक्यों का उन्मूलन किया, किन्तु इस वंश के विषय में कोई ऐतिहासिक रचना सुरक्षित रखी नहीं जान पड़ती। किन्तु **चतुर्वर्गचिन्तामणि** में तेरहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में महादेव के अन्तर्गत मंत्री के रूप में सेवा कर रहे हेमाद्रि के कुछ ऐतिहासिक टिप्पण प्राप्त होते हैं। इसमें इस वंश की वशावली के अतिरिक्त महादेव के मालव तथा आन्ध्र के विरुद्ध युद्धों का भी विवरण प्रदान किया गया है।

चौदहवीं शताब्दी में सेवुणों द्वारा तुर्कों की अधीनता स्वीकार कर लिए जाने पर महाराष्ट्र कें विभिन्न क्षेत्रीय शासक भी समानरूपेण तुर्कों के अधीनस्थ हो गए किन्तु कुछ ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने की चेष्टाएँ कीं। उदाहरणार्थ, मयूरगिरि के राज्य में राजपूतों की एक शाखा ने, जो स्वयं को कान्यकुब्ज के राष्ट्रकूटों से उद्भूत मानती थी, अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में कवि रुद्र ने संस्कृत में इन राजपूतों के ऊपर **राष्ट्रौढवंश** नामक काव्य की रचना की। अपने काव्य के बीसवें सर्ग में रुद्र ने क्षेत्रीय तुर्क शासकों के विरुद्ध अकबर द्वारा प्रेषित एक सैनिक अभियान में अपने समसामयिक शासक नारायण के पुत्र प्रताप को अकबर के पुत्र की अपेक्षा अधिक शौर्य प्रदर्शित करते हुए दिखाया है। अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा करते हुए वह नारायण को तो सार्वभौम कहता है जबकि अकबर को केवल दिल्ली-पति कहता है।

धीरे धीरे इस प्रदेश में स्थापित तुर्क राज्यों के भीतर मराठे अपनी शक्ति में वृद्धि करते दिखाई पड़ते हैं। विजयनगर साम्राज्य के पतन पर भारतीय नेतृत्व मराठी भोंसला कुल को प्राप्त हुई। भोंसलों के अन्तर्गत हुआ इतिहास-लेखन एक जटिल विषय है; इसकी वस्तु-सामग्री विपुल है और कई प्रकारों में है। तुर्कों के अन्तर्गत दक्षिण में युद्ध करने वालों में शाह भोंसला (जन्म १५९४, मृत्यु १६६४) प्रमुख मराठा सेनापति था जिसने कर्णाटक में एक प्रकार से स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। जयराम कृत समसामयिक चम्पू काव्य **राधा माधव विलास** में इसे मेदपाट के गुहिल पुत्रों की शिशोदिया शाखा से संबद्ध किया गया है। शाह का गोलकुण्डा विजय तथा अन्य युद्धों का भी उल्लेख है। इसके कार्यों का और विस्तृत विवरण परमानन्द कृत **सूर्यवंश** नामक काव्य में मिलता है। शाह की विभिन्न विजयों के अतिरिक्त इसमें उसके पुत्र शिव (शिवाजी) तथा उनके जीवन की घटनाओं और उसके बाद की भी (शम्भू तथा राजाराम से संबद्ध) ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा हुई है। स्वयं लेखक की मृत्यु १६८७ में, शिवाजी की मृत्यु के सात वर्षों बाद, हुई। **सूर्यवंश** स्वयं को १०० सर्गों का काव्य बताता है किन्तु संप्रति इसके केवल ६० सर्ग उपलब्ध हैं।

जयरामकृत **पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान** शिव द्वारा पर्णाल के किले पर विजय का उल्लेख है जिसे १६७३ में उसने बीजापुर से छीना। शिवाजी के सिंहासनारोहण पर अनिरुद्ध ने **शिवराजराज्याभिषेककल्पतरु** की रचना की तथा इसी विषय पर विश्वेश्वर (गागाभट) द्वारा लिखे **कायस्थधर्मप्रदीप** की भूमिका में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिव को म्लेच्छों के दमन के लिए विष्णु का अवतार बताया गया है। अपने **राजरामचरित** में केशव ने राजाराम के जिन्जी अभियान का विवरण दिया है।

१६७५ में दक्षिण में एक ने 'नायकों' से तंजनगर को छीन कर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी। इनके अन्तर्गत कई ऐतिहासिक कृतियों की रचना हुई। वेंकटेश्वर कृत **भोसलवंशावली** में तंजनगर के मराठा शासकों का विवरण है। एक के पुत्र शाह के ऊपर नला कृत **चम्पूधर्मविजय** प्रमुख ग्रंथ है। उसने ढुण्ढिराज को अपना राजकीय इतिहासकार नियुक्त किया था जिसने राजा के जीवन पर एक लम्बी ऐतिहासिक भूमिका के साथ **रामायण** पर एक टीका लिखी। १७१२ में उसका भाई शरभ शासक बना जो जगन्नाथ के **शरभराजविलास** का नायक है।

महाराष्ट्र का परवर्ती इतिहास-लेखन मराठी में है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विपुल संख्या में प्राप्त **बखर** (इतिवृत्त) हैं; इनके अतिरिक्त विभिन्न महत्त्वपूर्ण घटनाओं के ऊपर प्रचुर मात्रा में लोकगीत उपलब्ध हैं। जबकि उपरोक्त संस्कृत ग्रन्थ समसामयिक स्रोत हैं, मराठी **बखरों** में अधिकांश गौण इतिहास-लेखन का प्रतिनिधित्व करते हैं, यद्यपि कुछ समसामयिक और प्राथमिक इतिहास-लेखन भी हैं; सभासद का **बखर**, जो राजाराम के आदेश पर लिखा गया, इसी प्रकार का दृष्टान्त है। बाद के **बखर** लेखकों ने सभासद को ही आधार बनाया है। यह **बखर** तिथिक्रमिक रूप में नहीं है अपितु घटनाओं का लेखन अव्यवस्थित प्रकार से—जिस रूप में लेखक को इनका जब स्मरण हुआ—किया गया है। यह शिवाजी की जीवनी पर है। परवर्ती बहुसंख्यक **बखरों** में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चिटनिस कृत (१८१० में संपूर्ण) **बखर** है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औरंगजेब की पराज्य से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मराठा शक्ति भारतवर्ष की सर्वोच्च शक्ति थी। इन इतिवृत्तों में तत्कालीन मराठा शासकों के इतिहास-लेखन के प्रति दृष्टिकोण का परिलक्षित होना स्वाभाविक है। ये इतिवृत्त पौराणिक इतिहास-लेखन की परम्परा की निरन्तरता बनाने की चेष्टा करते हैं। इस दृष्टिकोण से इन **बखरों** पर अभी तक नहीं के बराबर काम हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी औपनिवेशिक राज्य की प्रतिक्रिया में महाराष्ट्र में कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक लेखन हुआ। १९०० में प्रकाशित रानाडे के **राइज़ ऑफ़ द मराठा पावर** में सत्रहवीं शताब्दी की महाराष्ट्र की घटनाओं को भारतीय राष्ट्रीय चेतना तथा धर्म के उदय के रूप में देखा गया है जिसने भावी राष्ट्रीय एकता के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। राजवाडे ने मराठा इतिहास के प्रलेखों का संग्रह किया तथा उन्हें **मराठ्यंच्या इतिहासांची साधने (मराठों के इतिहास के स्रोत)** में प्रकाशित किया। इसके बाद बहुतेरे लेखकों द्वारा मराठा इतिहास पर शोध कार्य प्रस्तुत होते रहे हैं।

अध्याय २७—'निष्कर्षात्मक उपलेख': इस अन्तिम अध्याय में लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य तथा स्वरूप को स्पष्ट किया है। पुस्तक का उद्देश्य इतिहास के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रति भारतीय दृष्टिकोण को विभिन्न युगों के दृष्टान्तों के साथ प्रस्तुत करना है। आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणा में उपरोक्त ग्रन्थों को साहित्यिक मात्र मान कर छोड़ देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जो उपयुक्त नहीं है। अभिलेखों को पुस्तक की विषय-सामग्री से बाहर रखा गया है। साहित्यिक ग्रन्थों के कई वर्ग हैं जो स्वरूप में कम से कम अंशतः ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त, सामाजिक इतिहास के अध्ययन में काव्य साहित्य से पर्याप्त ज्ञान की अपेक्षा की जानी चाहिए। विभिन्न **धर्मशास्त्र** ग्रन्थ तथा **अर्थशास्त्र** अन्य प्रमुख स्रोत हैं। वात्सायन का **कामसूत्र** सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विषय में ज्ञानवर्धन करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है।

तुर्कों तथा अंग्रेजों ने अपने शासनकालों पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिन्हें इस पुस्तक के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए छोड़ दिया गया है।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन में, पुस्तक में उल्लिखित मराठा तथा अन्य लेखकों से अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों (जिन्होंने अंग्रेजी में लिखा है)के नाम हैं : रमेशचन्द्र दत्त जिन्होंने अंग्रेजी शासन काल में भारत के आर्थिक इतिहास पर (प्रकाशित १९०१, तथा १९०३) लिखा; के० पी० जायसवाल, जिन्होंने अपनी कृतियों में इतिहास-लेखन में आधुनिक भारतीय दृष्टिकोण के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया; के० एम० पणिक्कर लिखित **ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री** तथा **एशिया एण्ड वेस्टर्न डामिनेन्स** में भारतीय तथा एशियाई परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रयास द्रष्टव्य हैं; एस० ए० डांगे ने **फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी में** भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति को वेद तथा इतिहास से खोजा है।

बीसवीं शताब्दी में लिखी गई हिन्दी की इतिहास-पुस्तकों में, जयचन्द्र की **भारतीय इतिहास की रूपरेखा**, जी० एच० ओझा की पाँच जिल्दों में **राजपूताने का इतिहास**, भगवद्दत्त का **भारतवर्ष का वृहद् इतिहास** उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों का दृष्टिकोण परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण का अनुसरण करता है।

निष्कर्षतः, लेखक के अनुसार, संक्षेप में पुस्तक की गवेषणा के परिणामों को इस प्रकार दिया जा सकता है। **पुराण** प्राचीन भारतीय इतिहास (जिसे वे सार्वभौमिक इतिहास के रूप में प्रस्तुत करते हैं) का व्यापक रूप रखते हैं। विभिन्न बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ इनके वक्तव्यों तथा निष्कर्षों की परीक्षा के लिए सामग्री उपस्थित करते हैं और इस प्रकार **पुराणों** के पूरक ग्रंथ हैं। कुछ बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में सार्वभौमिक इतिहास-लेखन की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है; **मंजुश्रीमूलकल्प** इस दृष्टिकोण से एक उल्लेखनीय बौद्ध ग्रंथ है। विभिन्न जीवन-कथाएं (उदाहरणार्थ, बाण तथा वाक्पतिराज) तत्कालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोतों का निर्माण करती हैं।

तुर्कों के आक्रमण के पश्चात् सार्वभौमिक इतिहास-लेखन की परम्परा समाप्त होती दिखाई पड़ती है। इसके स्थान पर विभिन्न प्रदेशों के पृथक्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास ग्रंथ लिखे जाने लगते हैं, यद्यपि क्षेत्रीय इतिहास को पौराणिक इतिहास-लेखन से संबद्ध करने की प्रवृत्ति स्पष्ट है।

राजस्थान की ऐतिहासिक परम्परा अन्य प्रदेशों से मूलतः भिन्न है; इसम क्षेत्रीय इतिहास के स्थान पर विभिन्न शासनवंशों का इतिहास-लेखन हुआ है। ये शासनवंश सामयिक विपत्तियों के कारण अपना मूल स्थान छोड़ भी सकते हैं तथा यह भी आवश्यक नहीं है कि वे राजस्थान तक ही सीमित हों; अपितु ये अत्यन्त प्राचीनकाल के प्रसिद्ध राजवंशों से अपना संबंध स्थापित करते हैं।

ऊपर के पृष्ठों में डा० वार्डर की पुस्तक के प्रत्येक अध्याय का सारांश प्रस्तुत किया गया है। अध्यायों के समस्त शीर्षकों को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने अत्यन्त विस्तृत-क्षेत्र चुना है। प्रारम्भ में उसने तिथि-क्रम का निर्वाह करते हुए वैदिक, पौराणिक, बौद्ध तथा जैन इतिहास-लेखन पर विचार किया है और उसके पश्चात् बाण की चर्चा के उपरान्त उसने भारतवर्ष के विभिन्न भूक्षेत्रों में हुई इतिहास-रचना पर चर्चा की है। इतने विशद क्षेत्र को लेने पर विवरण का रूपरेखात्मक मात्र होना स्वाभाविक है। कुछ अध्यायों में यह कमी अत्यन्त स्पष्ट रूप में झलकती है। उदाहरणार्थ, वैदिक, बौद्ध तथा जैन इतिहास-लेखन से संबद्ध विवेचन विषय के साथ न्याय करता नहीं प्रतीत होता। यह संतोषजनक है कि इस समीक्षा के प्रारंभिक पृष्ठों पर उल्लिखित कतिपय पूर्व प्रकाशित पुस्तकों (विशेषरूपेण यू० एन० घोषाल तथा डा० पाठक की पुस्तकें) में इस पुस्तक में संक्षिप्तरूपेण चर्चित कुछ विषयों पर पर्याप्त विस्तार से विचार हो चुका है। वैदिक तथा बौद्ध इतिहास लेखन पर विस्तारपूर्ण विवेचन के लिए घोषाल की पुस्तक विशेषरूपेण पठनीय है। इसी प्रकार घोषाल तथा डा० पाठक की पुस्तकों में कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कृतियों पर पर्याप्त विस्तृत चर्चा की गई है। वर्तमान लेखक ने अलग-अलग कृतियों को न ले कर विभिन्न क्षेत्रों की रचनाओं को सामूहिक रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत पुस्तक की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इसमें भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालने वाले विभिन्न प्राचीन लिखित इतिहास-स्रोतों का संकलन एक स्थान पर प्राप्त है। भारत के विभिन्न भू-प्रदेशों में लिखी गई पुस्तकों के अतिरिक्त लेखक ने लंका तथा नेपाल में लिखी गई उन इतिहास-पुस्तकों पर भी विचार किया है जो भारतीय इतिहास के किसी न किसी पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। किन्तु जहां लेखक द्वारा इन देशों के भारत-संबद्ध इतिहास-लेखन को पुस्तक में स्थान दिया जाना प्रशंसनीय है, वहीं यह आश्चर्यजनक है कि लेखक ने चीन, तिब्बत तथा मध्य एशिया में लिखी गई प्रासंगिक कृतियों का कोई उल्लेख नहीं किया है। एक-दो पृष्ठों में इनकी भी चर्चा उपयुक्त होती।

यहां यह उल्लेखनीय है कि 'इतिहास का भारतीय दृष्टिकोण' प्रस्तुत करने के अपने उत्साह में लेखक ने अंग्रेजी में लिखित सभी इतिहास-पुस्तकों को 'साम्राज्यवादी' इतिहास-लेखन की संज्ञा प्रदान कर दी है (पृ० रोमन ६) जिसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। कुछ क्षेत्रों के इतिहास-लेखन में कतिपय पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों द्वारा भारतीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है—उदाहरणार्थ, डा० दशरथ शर्मा द्वारा प्रस्तुत चाहमानों का इतिहास, के० ए० एन० शास्त्री द्वारा दक्षिण भारत का इतिहास एवं सरदेसाई द्वारा मराठों का इतिहास।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत पुस्तक शुद्धतः इतिहास-लेखन पर केन्द्रित है। यदि एक पृथक अध्याय में भारतीय इतिहास-दर्शन की भी चर्चा की गई होती तो पुस्तक की उपादेयता बढ़ जाती। आधुनिक इतिहास-लेखन में इतिहासकार के सामने जो समस्याएँ उपस्थित होती हैं और जिन पर उसे विचार करना होता है, उनके प्रति प्राचीन भारतीयों का क्या दृष्टिकोण था,—यह प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के स्वरूप को बोधगम्य बनाने में काफी सहायक होता। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन प्रश्नों पर विचार होना अभी शेष है और इस दिशा में निश्चितरूपेण कुछ कार्य प्रारम्भ होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि इतिहास-लेखन की विविध विधाओं का संबद्ध दार्शनिक तथा धार्मिक मान्यताओं के प्रकाश में अध्ययन किया जाय तथा साथ ही उनके औचित्य अथवा अनौचित्य पर इतिहास-लेखन के आधुनिक विचारों तथा विधाओं के संदर्भ में विचार किया जाय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

८

चीनी इतिहास–लेखन

इतिहास अतीतकालिक मानवीय कार्य-व्यापारों का अध्ययन करता है। मानवीय कार्य-व्यापारों से संबद्ध होने के कारण इतिहास मूल्यों के प्रति तटस्थ भाव नहीं रख सकता क्योंकि मनुष्य के समस्त कार्य उसके मूल्यों द्वारा प्रेरित तथा उन पर आधारित होते हैं। किसी भी मानव-समाज की इतिहास-संरचना तथा इसके सदस्यों द्वारा स्वयं के इतिहास का लेखन तथा इसकी सुरक्षा इन मूल्यों को ध्यान में रख कर होती है। भारतीय इतिहास-लेखन से संबद्ध अध्याय में इस विषय पर कुछ विस्तार में चर्चा की जा चुकी है। किन्तु, इस प्रसङ्ग में भारतीय दृष्टि तथा चीनी दृष्टि को साथ साथ रख कर समीक्षात्मक दृष्टि डालने पर यह तथ्य और स्पष्ट रूप में उभरता है। भारतीय दृष्टि परमार्थ की ओर उद्दृष्टि है तथा सम्यक् ज्ञान वही है जो इस श्रेयस् की प्राप्ति में सहायक हो (सा विद्या या विमुक्तये)। चीनी चिन्तना में प्रत्येक अध्ययन तथा ज्ञान की समीचीनता उसकी व्यावहारिक उपादेयता पर आश्रित मानी जाती थी। किसी भी अभिकथन अथवा विश्वास का सामाजिक संदर्भ में क्रियान्वयन चीनी दृष्टिकोण के अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। कन्फ्यूशियस के मत में 'जानने' की सार्थकता तभी है जब यह कर्म को किसी प्रकार से प्रभावित करने में समर्थ हो।

चीनी चिन्तना की प्रमुख प्रवृत्ति अत्यन्त प्रारंभ से ही समाज को मनुष्य से अधिक महत्त्वपूर्ण मानती रही है। सामाजिक नियमों का पालन तथा सामाजिक परम्पराओं के प्रति आदर की भावना मनुष्य के लिए परमावश्यक है। मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रमुख प्रतिमान उसके द्वारा अपने विभिन्न सामाजिक संबन्धों का सम्यक् निर्वहण है। समाज में रहते हुए मनुष्य के अस्तित्व के विभिन्न आयाम होते हैं जिनमें उसकी स्थिति-विशेष विशेष प्रकार के व्यवहारों की अपेक्षा रखती है। पूर्व-प्रतिष्ठापित नियमों तथा परम्पराओं के अनुसार इन विविध अपेक्षाओं की पूर्ति से ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था संभव है। इसी कारण चीनी अमूर्त सिद्धान्तों की अपेक्षा पूर्व-दृष्टान्तों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं; ऐतिहासिक दृष्टान्तों तथा सुनिश्चित साहित्यिक अभिव्यक्तियों की प्रभूतता का स्रोत तथा उद्गम इस प्रवृत्ति में ही ढूंढना चाहिए (नाकामुरा, पृ० २०४–२०५)। सामाजिक नियम का आधार प्राचीन परम्पराएँ तथा पूर्व-दृष्टान्त होने चाहिए; चीनी विचार में, किसी व्यक्ति विशेष की चिन्तना-शक्ति की अपेक्षा समाज तथा संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

फल का सारांश अधिक प्रमाणिक तथा औचित्यपूर्ण है। जीवन के नियन्त्रण तथा नियमन में किसी अमूर्त्त तथा भावमय विचार से उतनी सहायता नहीं मिल सकती जितनी कि उन व्यक्तियों के जीवन संबंधी अनुभवों से जिन्होंने अतीत में जीवन के विभिन्न पक्षों का साक्षात्कार किया, तत्संबन्धी समस्याओं के समाधान की चेष्टा की तथा इसमें सफल अथवा असफल रहे। इस प्रकार चीनवासियों के लिए ज्ञान का अर्थ होता है अतीतकालिक दृष्टान्तों का ज्ञान; चीनी भाषा में, इसी कारण, ज्ञान को 'चि-कु' अर्थात् 'प्राचीन मार्गों का अन्वेषण' कहते हैं। (नाकामुरा, ऊपर)। चीनी साहित्य में ऐसी अभिव्यक्तियों की भरमार दिखाई पड़ती है जोकि विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश करती हैं किन्तु परम्परागत प्रयोग ने जिन्हें सार्वभौमिक तथा अमूर्त भावों की अभिव्यक्तियों का स्वरूप प्रदान कर दिया है।

इस प्रकार की चिन्तन-पद्धति में अतीत का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है। चीनवासियों ने सुदूर अतीत में संकलित 'पांच उत्कृष्ट-ग्रन्थों' को अपने जीवन के प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया। इन ग्रन्थों में मानव-अनुभवों के विभिन्न प्राचीन दृष्टान्तों का संकलन है और यह माना गया कि मानव-जीवन में चाहे जितना परिवर्तन आ जाय, इन ग्रन्थों में इससे संबद्ध सभी प्रमुख सत्य उपलब्ध रहेंगे। 'चिंग' (='उत्कृष्ट–ग्रन्थ') के लिए चीनी भाषा में अन्य शब्द 'तिएन' (='नियम') अथवा 'चङ्ग' (='चिरन्तनता') है जिससे इन 'पांच उत्कृष्ट-ग्रन्थों' में निहित सत्य के शाश्वत होने में विश्वास का निर्देश होता है। कन्फ्यूशियन के मत में तो इन पांच ग्रन्थों को अपरिहार्य माना जाता था; किन्तु अन्य विचार-सम्प्रदायों में भी इन्हें आदर का स्थान प्राप्त था। चीनवासियों ने सदैव अपने दैनन्दिक जीवन को इन ग्रन्थों में संस्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया और इसी कारण प्राचीन चीनी समाज तथा संस्कृति में एक प्रकार के स्थायित्व तथा अपरिवर्तनशीलता का मान होता है।

इस प्रसङ्ग में चीनी चिन्तना में 'ली' की अवधारणा का अवबोध अत्यन्त आवश्यक है। प्रारंभ में 'ली' का प्रयोग केवल धार्मिक स्वरूप के अनुष्ठानात्मक कृत्यों के लिए होता था, किन्तु कालान्तर में इस शब्द से विविध सामाजिक महत्त्व के कार्य-व्यापारों—यथा, विभिन्न प्रकार के पारिवारिक संबंध, राजदूतों का पारस्परिक मिलन, राज-दरबार में अपेक्षित व्यवहार, युद्ध-भूमि में मनुष्य का कर्त्तव्य इत्यादि—का निर्देश होने लगा। कन्फ्यूशियस तथा उसके अनुयायियों ने 'ली' को एक नैतिक अर्थ प्रदान किया तथा इसे समाज तथा व्यक्ति के जीवन का नियामक तत्त्व माना जिसके अभाव में ये दोनों अशान्ति, अव्यवस्था तथा उच्छृंखलता से ग्रस्त हो जाते हैं। 'ली' विभिन्न स्वाभाविक वृत्तियों को समाज द्वारा स्वीकरणीय आकार प्रदान करता है तथा जीवन के सभी कर्मों में आत्म-नियन्त्रण का अनुप्रवेश करता है। उदाहरणार्थ, यदि साहस के ऊपर 'ली' का नियन्त्रण न हो तो वह अविचारी दुःसाहस का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। परस्पर विलग सामाजिक स्थितियों में रहने वाले लोगों के बीच जो सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वह इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'ली' के नियन्त्रण के ही कारण है। सुव्यवस्थित तथा सुखी जीवन के लिए 'ली' का ज्ञान तथा पालन परम आवश्यक है। (मुनरो, पृ० २७)।

उपरोक्त विवेचन से हमें संक्षेप में चीन की उस वैचारिक पृष्ठभूमि का अभिज्ञान होता है जिसके संदर्भ में वहाँ इतिहास-लेखन का कार्य अग्रसर हुआ। समाज तथा संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के महत्त्व के अवबोध ने चीनी जनता में इनकी सुरक्षा के प्रति विशेष रुचि जागरित किया और इस प्रकार, इसकी व्यावहारिक उपादेयता को देखते हुए, इतिहास-रचना को एक विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया। तथापि, परवर्त्ती सिद्धान्तों तथा औचित्य-स्थापनों की अधिकता के कारण एवं इस संबंध में कुछ प्रमुख स्रोत-ग्रन्थों (उदाहरण के लिए, 'चोउ में अनुष्ठान' या 'चोउ-ली') की तिथि की अनिश्चितता के कारण चीनी इतिहास-लेखन के प्रारंभ का प्रश्न पर्याप्त उलझा हुआ है। यहां तक कि इतिहासकार के लिए प्रयुक्त शब्द 'शिह' का मौलिक अर्थ दीर्घकाल तक अशुद्ध रूप में व्याख्यायित रहा है; इसका मुख्य कारण परवर्त्ती कालीन कोशकार सू-शेन (१०० ईसवी) की अशुद्ध व्याख्या थी जिसने 'शिह' को 'घटनाओं का लेखन करने वाला व्यक्ति' के रूप में परिभाषित किया तथा लिखावट की व्याख्या करते हुए कहा कि यहां एक हाथ को 'मध्य' (चीनी शब्द 'चुंङ्ग') को पकड़े हुए दिखाया गया है, उसने 'मध्य' (=चुंङ्ग) को 'यथार्थ' (चीनी 'चेङ्ग') के रूप में परिभाषित किया। शङ्गकालीन भविष्यवाणी से संबंधित अस्थियों पर उत्कीर्ण शब्दों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर चीन में वङ्ग कुओ-वेइ तथा जापान में नाइतो तोराजिरो अलग-अलग इस समान निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस शब्द से एक पात्र—जिसमें कि धनुर्विद्या की प्रतियोगिताओं के समय लक्ष्य-संधानों का हिसाब रखा जाता था—को धारण किए हुए हाथ का निर्देश होता है; तथा यह कि शङ्ग काल में इस उपाधि को धारण करने वाले राजकीय अधिकारी का कार्य इस प्रकार की प्रतियोगिताओं में लक्ष्य-संधानों का लेखन था। यद्यपि इस प्रसङ्ग में निश्चित साक्ष्य नहीं है, इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कालान्तर में 'शिह' उपाधिधारी राजकर्मचारियों का कार्यक्षेत्र बढ़कर सामान्य-रूपेण सभी प्रकार की घटनाओं का लेखन हो गया।

चोउ शासन वंश के काल में इस राजकीय पद के स्वरूप तथा कर्त्तव्य अधिक निश्चित रूप में दिखाई पड़ते हैं। संभवतः इस समय शिह महत्वपूर्ण कार्यों के लिए भाग्यशाली तथा दुर्भाग्यपूर्ण दिनों का निर्धारण करता था, युद्ध-भूमि में राजा के साथ जाता था तथा, पूर्ववत, लक्ष्य-संधान की प्रतियोगिताओं का भी निरीक्षण करता था। यह पद अब पैत्रिक उत्तराधिकार से निश्चित होने लगा था एवं समाज में इसे अत्यन्त सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

शिह के उपरोक्त कार्यों से स्पष्ट है कि उससे लिखने पढ़ने का ज्ञान अपेक्षित था एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों में वह राजा का मुख्य परामर्शदाता होता रहा होगा। ऐतिहासिक विवरणों की सुरक्षा का कार्यभार संभवतः परवर्ती विकास है जो इस परिस्थिति विशेष से उद्भूत हुआ होगा कि राजा की विविध प्रशासकीय सभाओं में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसकी उपस्थिति होती रही होगी तथा भविष्य में इनके निष्कर्षों के अभिज्ञान के उद्देश्य से उनका लेखन आवश्यक समझा गया। चोउ राज्य के स्वरूप में विस्तरण के परिणाम-स्वरूप प्रशासकीय ढांचा जटिल होने लगा; विभिन्न राजनयिक समस्याओं के समाधान के लिए विदेशी राज्यों से राजदूतों का आगमन सामान्य हो गया तथा साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा से युद्धों की संख्या में अभिवृद्धि हुई। इन सभी का विवरणात्मक लेखन शिह के कार्यक्षेत्र का अङ्ग बना और तत्परिणामस्वरूप उसके पद की गरिमा भी बढ़ी।

उपरोक्त विकास-प्रक्रिया—अर्थात् यह तथ्य विशेष कि प्रारंभिक इतिहासकार राजदरबारों के कार्य कलापों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा महत्त्वपूर्ण राजकीय कार्यों से संबद्ध एक प्रकार का अर्ध-धार्मिक राजकर्मचारी था जो कालान्तर में प्रलेखों का संरक्षक अथवा दैनन्दिक ऐतिहासिक वृत्तों का विवरणकार बना—का समर्थन चीन की दो प्रमुख ऐतिहासिक कृतियों—**प्रलेखों का ग्रन्थ** अथवा **इतिहास का ग्रन्थ** (शु चिङ्ग) तथा **वसन्त एवम् शरद इतिवृत्त** (छुन छिउ)—के उनके इसी अनुक्रम में आने से भी होता है। प्रथम ग्रन्थ में प्राचीन शासकों तथा उनके परामर्शदाताओं से संबद्ध भाषणों, आज्ञाओं एवं उपदेशों का संकलन है। जैसा कि स्वयं चीनियों की धारणा रही है, यह मुख्यतः कार्यों का नहीं शब्दों का संग्रह है। इस संग्रह का प्रमुख प्रयोजन नैतिक-शिक्षाओं का उपदेश तथा राजनीतिक प्रश्नों पर उपयुक्त निर्देशन प्रदान करना है और इस प्रकार उनकी प्रमुख प्रवृत्ति ऐतिहासिक नहीं अपितु नैतिक एवं साहित्यिक है। इसके विपरीत, दूसरा ग्रन्थ तथ्यों का संग्रह है एवं उपदेशात्मक प्रवृत्ति का इसमें सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्यों का लेखन ही इसका प्रमुख प्रयोजन जान पड़ता है। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक संस्कृति का प्राचीनतम साहित्य पौराणिक होता है जिसमें कल्पनात्मक विवरणों की प्रचुरता होती है। धीरे-धीरे ही तथ्यों के यथारूप लेखन की चेष्टा प्रारंभ होती है। वर्तमान संदर्भ में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

ली-चि में यह अभिकथन मिलता है कि "जब सम्राट् किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसका लेखन दक्षिणी पार्श्व के इतिहासकार द्वारा किया जाता है, जब वह कुछ कहता है तो उसके लेखन का कार्यभार दक्षिणी पार्श्व के इतिहासकार का होता है"। इस कथन की पुनरावृत्ति हान-शू द्वारा भी होती है, यद्यपि वह इन दोनों के कार्यों का उलट कर बताता है; आगे वह यह भी जोड़ता है कि इस रूप में राजा के अभिकथनों का संग्रह एक ग्रन्थ बन गया तथा उनके कार्यों के विवरणों का संग्रह दूसरा। अब यह सर्वमान्य धारणा है कि सम्राट् के कार्यों तथा अभिकथनों के लेखन के लिए दो पृथक् इतिहासकारों की नियुक्ति वस्तुतः इस तथ्यविशेष के परवर्ती औचित्यस्थापन की चेष्टा के कारण है कि ये दोनों ग्रन्थ इस प्रकार की भिन्न वस्तुसामग्रियों से युक्त हैं। सु-मा-चिएत इस सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं करता; या तो वह इससे परिचित नहीं था अथवा वह इसे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझता था। किन्तु, अपनों से पहले हो चुके इतिहासकारों का वह प्रायः उल्लेख करता है। इतिहास-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार के पद की उसकी अवधारणा केवल इसके धार्मिक एवं अनुष्ठानात्मक महत्त्व से संबंध नहीं रखती थी अपितु वह इतिहासकार को प्राचीन शासकों के नैतिक गुरु एवं निदेशक के रूप में देखता है। चोउ शासनवंश की कृतियों में आरंभित इस परम्परा का निरन्तर विकास होता गया तथा हान काल की कृतियों में भी इस विश्वास की निरन्तरता बनी दिखाई पड़ती है। अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही प्रसिद्ध इतिहासकार सु-मा-चिएन द्वारा प्राचीन इतिहासकार का चित्र प्रस्तुत किया गया है। चिन राजकुल के इतिहास के संदर्भ में वह इस कथा को देता है जो अल्पायु सम्राट चेङ्ग और उसके छोटे भाई के बीच घटी। खेल खेल में बड़े भाई ने तुङ्ग वृक्ष का एक पत्ता उठा कर छोटे भाई को दिया और कहा कि इससे मैं तुम्हें जागीर प्रदान करूंगा। दरबारी इतिहासकार ने तुरन्त उपयुक्त दिन का चयन करने की अनुमति मांगी। इस पर बड़े राजकुमार ने कहा कि वह तो हंसी कर रहा था। इतिहासकार ने उपदेशात्मक स्वर में कहा "ईश्वर पुत्र कुछ भी हंसी में नहीं कहते" और बड़े भाई को अपने वचन की पूर्ति करनी पड़ी।

सामन्तीय राज्यों के इन प्रारम्भिक इतिवृत्तों के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें से बहुत कम ही शेष बचे हैं। किन्तु, इनमें से अकेले **वसन्त एवं शरद् इतिवृत्त** ने चीनी ऐतिहासिक चिन्तन पर प्रभूत प्रभाव डाला है; यह स्वरूप तथा अवधारणा दोनों में ही परवर्त्ती ऐतिहासिक कृतियों द्वारा प्रतिमान के रूप में ग्रहण किया गया।

वसन्त तथा शरद् इतिवृत्त लु राज्य के बारह सामन्तों का इतिवृत्त है जो ७२२ ई० पू० से लेकर ४८१ ई० पू० के समय-विस्तार से सम्बन्धित है। इसमें लु राज्य के आन्तरिक मामलों, कूटनीतिक सभाओं, सामन्तीय युद्धों के साथ-साथ लु का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध, ग्रहण, बाढ़, भूकम्प तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों का भी लेखन हुआ है। विवरण सर्वथा निर्वैयक्तिक है तथा कहीं भी लेखक के व्यक्तित्व अथवा विचार का चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। चीनी परम्परा इसे कन्फ्यूशियस की रचना मानती है; यह असंभव नहीं कि कन्फ्यूशियस तथा उसके शिष्यों ने इस इतिवृत्त में अंकित घटनाओं तथा अस्पष्ट अवतरणों की व्याख्याओं का सम्यक् प्रयास किया हो और इनके प्रयासों के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई हो; कालान्तर में इन्हीं व्याख्याओं तथा विस्तरणों के संकलन से इस ग्रन्थ की विभिन्न टीकाएँ अस्तित्व में आई होंगी। इस इतिवृत्त की तीन प्रमुख टीकाएँ हैं; कुङ्ग-यङ्ग, कु-लिअङ्ग, तथा त्सो-शिह। इनमें से प्रथम टीका प्राचीनतम जान पड़ती है।

इन टीकाओं में बलात् आरोपित एवं असंगत व्याख्याओं का प्राचुर्य होने पर भी हम इन निम्नांकित तीन अवधारणाओं को देख सकते हैं जिन्हें सभी टीकाएँ इस ग्रन्थ के साथ संबद्ध करती प्रतीत होती हैं; इनमें से प्रथम दो पूर्णतः परस्पर विरोधी हैं : १. इतिहासकार को तथ्यों का यथार्थ तथा निर्वैयक्तिक विवरण प्रदान करना चाहिए, तथा २. उसे तथ्यों का लेखन मात्र नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें इस रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में प्रस्तुत करना चाहिए कि वे पूर्वकल्पित विचारों के साथ संगत हों। इसकी तीसरी प्रमुख अवधारणा यह है कि अकाल, जल-प्लावन, ग्रहण, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक जगत् की असामान्य घटनाओं का मानव-कार्यकलापों के साथ प्रत्यक्ष संबंध है तथा ये इतिहास को प्रभावित करती हैं।

यह इतिवृत्त सामान्यतया तथ्यों के वास्तविक तथा यथार्थ लेखन का प्रयास प्रदर्शित करता है; साथ ही यहइतिहासकार के लिए इस अपेक्षा का निर्देश करता है कि उसे निश्चितरूपेण ज्ञात वस्तु से अधिक का लेखन नहीं करना चाहिए : सामन्त हुआन के पांचवें वर्ष में छेन के सामन्त पाओं की दो मृत्यु-तिथियां दी गई हैं। कुङ्ग-यङ्ग टीका में यह जिज्ञासा की गई कि दो तिथियां क्यों दी गई हैं और उत्तर में यह टीका कहती है कि कन्फ्यूशियस इस विषय में निश्चित-मत नहीं था और इसी कारण उसने दोनों तिथियां दे दीं। कुङ्ग-यङ्ग शाखा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्याता तुङ्ग-चुङ्ग-शु ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'उसने वही लिखा है जो उसने स्वयं देखा तथा जो स्पष्ट नहीं था उसके विषय में उसने कुछ नहीं कहा है।' इस प्रकार, जैसा कि हमें इसकी टीकाओं की व्याख्याओं से परिलक्षित प्रतीत होता है, **वसन्त तथा शरद् इतिवृत्त** द्वारा तथ्यों का सावधानीपूर्वक लेखन तथा उनकी निर्भीक एवं पूर्वाग्रहविहीन समीक्षा इतिहास-लेखन का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड स्वीकृत होता है।

किन्तु, इसके साथ ही कुछ प्रतिपक्षी मानदण्ड अथवा आदर्श भी दिखाई पड़ते हैं जिनसे इस इतिवृत्त का पूर्वोक्त उच्चस्तरीय स्वरूप नष्ट होता है। उदाहरणार्थ, इन टीकाओं में 'हुइ' (='परिवर्जन', 'निषेध') नामक अवधारणा की चर्चा हुई है। सामन्त चिन के दसवें वर्ष के प्रसङ्ग में कुङ्ग-यङ्ग में यह विवरण मिलता है : **वसन्त तथा शरद्** आन्तरिक मामलों का विस्तृत किन्तु बाहरी मामलों का संक्षिप्त लेखन करता है। अन्य राज्यों के प्रसङ्ग में यह छोटे दोषों पर ध्यान न देकर उनके गम्भीर दोषों का लेखन करता है, किन्तु आन्तरिक मामलों के प्रसङ्ग में (अर्थात् लु राज्य के भीतर) यह बड़े दोषों का 'परिवर्जन' करते हुए केवल छोटे दोषों की चर्चा करता है।' पुनः सामन्त मिन के प्रथम वर्ष के प्रसङ्ग में कुङ्ग-यङ्ग में यह स्पष्ट कथन मिलता है कि इतिवृत्त में 'पूजार्ह व्यक्तियों, घनिष्ट संबंधियों एवं पुण्यशील व्यक्तियों' के दृष्टान्तों में इस प्रकार के 'परिवर्जन' के सिद्धान्त का पालन किया गया।

इसके साथ ही **इतिवृत्त** में नैतिक तथा उपदेशात्मक कथाओं की अधिकता है। प्रायः ये कथाएँ तथ्यों के सरल तथा यथार्थ विवरण का स्थान लेती दिखाई पड़ती हैं। अत्यन्त प्राचीन विषयों एवं घटनाओं का लेखन होने पर भी तथा कन्फ्यूशियस की रचना के रूप में स्वीकृत होने पर भी वास्तविक इतिहास-लेखन के लिए यह इतिवृत्त एक दुर्बल आदर्श था और इसी कारण परवर्ती चीनी इतिहासकारों में से बहुत ही कम ने अपनी कृतियों को इसके सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्थित किया गया स्वीकार किया है। तथापि, इस ग्रन्थ का परवर्ती इतिहास-लेखन पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विपुल प्रभाव पड़ा है, विशेषरूपेण सु-मा-चिएन के दृष्टान्त में।

सु-मा-चिएन (१४५ ई० पू०–६० ई० पू०) प्रथम चीनी इतिहासकार है जिसके विषय में हमें अपेक्षाकृत प्रचुर सूचना प्राप्य है; साथ ही वह चीन के प्रमुखतम इतिहासकारों में एक है। उसने **शिह-ची (इतिहासकार के लेख)** नामक ग्रन्थ की रचना की जो १३० अध्यायों में विभक्त है तथा जो सुदूर अतीत से लेकर सु-मा-चिएन के अपने काल तक के चीनी तथा अन्य विदेशी जातियों के इतिहास का विवरण प्रदान करता है। लगभग २००० वर्षों से—जब से यह लिखा गया—चीनी ऐतिहासिक कृतियों में यह सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है, एवं परवर्त्ती काल की बहुसंख्यक ऐतिहासिक रचनाओं द्वारा इसके स्वरूप को एक प्रतिमान के रूप में स्वीकृत किया गया; इसकी वस्तुसामग्री तथा वर्णनशैली ने न केवल चीनी साहित्य को अपितु चीनी संस्कृति के प्रभाव में स्थित अन्य देशों के साहित्य को भी प्रभूत मात्रा में प्रभावित किया है। चीन, कोरिया तथा जापान में सु-मा-चिएन का प्रभाव स्पष्ट रूप में द्रष्टव्य है।

सु-मा-चिएन का इतिहास पांच मुख्य शासनवशों एवं बहुसंख्यक अपेक्षाकृत गौण सामन्तकुलों के इतिहास का निरूपण करता है। यह ग्रन्थ वस्तुतः परिवर्तन का इतिहास है जिसमें २००० वर्षों के काल-विस्तार में विभिन्न शासनवंशों के गौरव के उत्थान तथा पतन की कथा एक विशिष्ट लयात्मकता के साथ प्रस्तुत की गई है। इतिहास-लेखन के अपने लक्ष्य का उद्घाटन करते हुए सु-मा-चिएन ने कहा है कि वह "अतीत के कार्य-व्यापारों एवं घटनाओं का परीक्षण एवं उनकी सफलताओं एवं असफलताओं, उनके उत्थान तथा पतन के पीछे स्थित सिद्धान्तों का अनुसंधान" करना चाहता है। प्राचीनकाल के अन्य प्रमुख इतिहासकारों के समान उसकी कृति भी उपदेशात्मक है जो—जैसाकि इसे एक प्राचीन अभिकथन में अभिव्यक्त किया गया है—"पाप के निराकरण एवं पुण्य के प्रोत्साहन" में प्रवृत्त है।

इस उपदेशात्मक लक्ष्य के कारण चीनी ऐतिहासिक कृतियों में कथाओं की विपुलता दिखाई पड़ती है; ये कथाएं कभी-कभी पर्याप्त दुर्बोध एवं साहित्यिक सूक्ष्मताओं से युक्त होती है। प्रायः घटनाओं अथवा वृत्तों के प्रत्यक्ष विवरण को छोड़कर नाटकीय घटनाओं अथवा दृश्यों के माध्यम से इतिहासकार द्वारा बिना किसी टिप्पणी के ऐतिहासिक पात्रों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। **शिह-ची** में ऐसे दृष्टान्तों का विपुल भण्डार प्राप्य है। बहुसंख्यक परवर्त्ती इतिहासकारों ने ऐसी कृतियों का प्रणयन किया है जो अधिक विस्तारपूर्ण तथा व्यवस्थित हैं अथवा इतिहास के रूप में अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक हैं, किन्तु इनमें उस नाटकीय शक्ति तथा कल्पनाशील अभ्यर्थना का अभाव है जो **शिह-ची** में दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि चीन के साहित्य पर इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा है और आज भी इसकी लोकप्रियता पूर्ववत् बनी हुई है।

सु-मा-चिएन का विचार था कि ऐतिहासिक तथ्य जिस रूप में उसे प्राप्त हुए हैं उस रूप में ही वह कही जाने वाली कथा को पर्याप्त रोचक एवं शिक्षाप्रद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढंग से प्रस्तुत कर सकेंगे; उनको यथारूप प्रस्तुत करना ही वाञ्छनीय है। यह सिद्धान्त **वसन्त एवं शरद् इतिवृत्त** में भी मिलता है। किन्तु इसके साथ ही दूसरा सिद्धान्त– अर्थात् इतिहास घटनाओं का केवल यथारूप लेखन ही नहीं है प्रत्युत् नैतिक एवं उपदेशात्मक प्रयास भी है समान रूप में सु-मा-चिएन के ग्रन्थ में स्थान पाता है; यह उल्लेखनीय है कि ऐसे बौद्धिक परिवेश में जहाँ **इतिवृत्त** तथा इसकी टीकाएं प्रधानतम ऐतिहासिक कृतियों के रूप में स्वीकृत थीं, उनके प्रभाव से बच सकना अत्यन्त दुष्कर था।

शिह्-ची के एक आधुनिक समीक्षक, ची-चेन-हुआई ने दो सिद्धान्तों की ओर निर्देश किया है जो, उसके अनुसार, किसी घटना विशेष अथवा व्यक्ति के विषय में उसके लेखन को नियंत्रित करते हैं। प्रथम सिद्धान्त पर्याप्त स्पष्ट है : अर्थात् यह कि इतिहासकार इस बात से बचना चाहता था कि एक ही घटना का दो अथवा तीन स्थानों पर विस्तार से विवरण दिया जाय। किसी कथा का सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होने पर भी, समय बचाने के उद्देश्य से, पूरी घटना का विस्तृत विवरण केवल एक बार दिया गया है और कभी-कभी किसी अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र की चर्चा आने पर पूर्वोक्त विशद् विवरण का उद्धरण मात्र देकर काम चलाया गया है। दूसरा सिद्धान्त पहले का स्वतः अनुगमन करता है : घटना विशेष का विवरण उस व्यक्ति की जीवनी के सन्दर्भ में किया जाय जिसके साथ यह घनिष्टरूपेण सम्बन्धित है और जो इससे वस्तुतः प्रभावित रहा है। तथापि "इन दो सिद्धान्तों से सु-मा-चिएन की अधिकांश कार्यविधाएं व्याख्यायित हो सकती हैं, किन्तु ये सभी की व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सकती।" (बर्टन वाटसन, **सु-मा-चिएन, द ग्रैन्ड हिस्टोरियन ऑफ चाइना,** न्यूयार्क, द्वितीय छाप, १९६३)।

सु-मा-चिएन के लगभग डेढ़ सौ वर्षों बाद पान कु नामक इतिहासकार ने पूर्ववर्त्ती हान युग का इतिहास लिखा। यह तृतीय शताब्दी ई० पू० में हान वंश की स्थापना से लेकर अनाधिकार रूप से राज्य सत्ता हस्तगत कर लेने वाले वाङ्ग मङ्ग के पतन के पश्चात् २३ई०में इस शासनवंश से सम्बद्ध लिउ कुल के एक व्यक्ति द्वारा इसके पुनःस्थापन तक का दो शताब्दियों का इतिहास था। **पूर्ववर्ती हान वंश का इतिहास** (हान-शु) विविध रूपों में **शिह्-ची** के स्वरूप के आधार पर लिखा गया था; इन दोनों में केवल यह स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है कि विषय-वस्तु सीमित होने के कारण पान कु में प्राचीन इतिहास के प्रति उपेक्षा भाव दिखाई पड़ता है। केवल एक अपवाद "प्राचीन तथा आधुनिक व्यक्तित्वों की सारणी" में मिलता है (इसमें भी 'आधुनिक' का सर्वथा अभाव है और प्रारम्भिक चीनी विद्वानों ने इस भाग के उद्देश्य-निर्वाह की पर्याप्त आलोचना की है)। तथापि, इन दोनों ग्रन्थों में भिन्नताएं बहुत ही कम हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि सु–मा–चिएन द्वारा **शिह्-ची** का प्रणयन सर्वथा व्यक्तिगत प्रयास था, और यही बात पान कु के पिता पान–पिआओ द्वारा रचित **परवर्त्ती परम्पराएँ (होउ चुआन)** के विषय में भी कही जा सकती हैं। जब पान कु ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने पिता के कार्य को विस्तारित करने का विचार किया तो उसने भी व्यक्तिगत रूप से ही इस कार्य को प्रारम्भ किया, किन्तु बाद में इस क्षेत्र में उसके कार्य सम्राट मिङ्ग की इच्छा पर किए गए थे।

किन्तु हान–शु में पूर्ववर्ती हान वंश को गौरवान्वित रूप में प्रदर्शित करने का कोई ऐच्छिक प्रयास नहीं दिखाई पड़ता। विभिन्न शासकों तथा उनके शासन कालों का विवरण प्रदान करते समय इनके दोषों और कमियों को उद्‌घाटित करने के प्रति कोई उदासीनता नहीं दिखाई गई है–यहाँ तक कि जहां अध्यायों के सारांश दिये गये हैं और जिसमें इतिहासकार का अपना निर्णय सन्निविष्ट है, उन स्थानों पर भी। यहां पान कु के हान शासकों के प्रति समीक्षात्मक बुद्धि का एक दृष्टान्त लें: परवर्त्ती हान के शासक अन्तिम शासन कर रहे सम्राट के वंशधर नहीं थे, वे अपना वंश-सम्बन्ध केवल सम्राट चिङ्ग से स्थापित कर सकते थे जिसकी १४० ई० पू० में मृत्यु हुई थी। इनके इस पूर्वज के जीवन के दो अत्यन्त कुत्सित कार्यों को बिना किसी हिचकिचाहट के उल्लिखित किया गया है। १५४ ई० पू० में अपने प्रमुख समर्थक चाओ-त्सो की हत्या को न रोक सकने की दुर्बलता, तथा अपने परामर्शदाता चोउ–य–फु के प्रति उसकी घृणा और कालान्तर में उसकी हत्या। यदि केवल यह माना जाय कि यहां पान कु ने केवल शिह–ची के विवरण का अनुकरण किया है, तो भी अपने ग्रन्थ में उसके द्वारा स्वतन्त्र निर्णय लिए जाने का तथ्य स्थापित होता है। सार्जेन्ट ने (**फार ईस्टर्न क्वार्टरली, १९४४, III १४३**) पान कु के ग्रन्थ को 'subsidized history' कहा है तथा, यह केवल शासन कर रहे राजवंश का राज्य-प्रेरित राजनीतिक इतिहास है, यह कह कर आलोचना की है। किन्तु, यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता तथा डब्स एवं हुल्सेवे नामक विद्वानों ने इसका गंभीर प्रत्याख्यान किया है।

परवर्त्ती हान युग में इतिहास–लेखन के क्षेत्र में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास हुआ वह था विद्वानों का इतिहासकार के पद पर नियुक्ति। अब तक राजदरबार के ज्योतिषी ही इतिवृत्तकार के कार्य का भी सम्पादन करते थे और दोनों पद अभिन्न थे। इस काल में यह परम्परा समाप्त हुई एवं उनकी वस्तु-सामग्री का बाहर के लोगों में हस्तान्तरण हुआ। यह कार्य १७७ ई० तक चलता रहा। जिस मकान में रहते हुए विद्वान यह कार्य करते थे, उसके आधार पर इसे **पूर्वी मण्डप से उपलब्ध हान-इतिवृत्त (तुंग-कुआन हान ची)** की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रथम शताब्दी ईसवी में पान कु तथा अन्य विद्वानों को राजकीय पदाधिकारी के रूप में नियुक्ति की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सातवीं शताब्दी में तङ्ग काल में इतिहास–लेखन के विभाग की स्थापना हुई।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास दूसरे क्षेत्र में हुआ: विशुद्धतः विश्लेषणात्मक इतिहास का उद्‌भव। इस समय तक **वसन्त एवं शरद इतिवृत्त** ही प्रथम यथार्थतः ऐतिहासिक लेखन की अभिव्यक्ति करते थे, तथा सु-मा-चिएन ने भी अपने **शिह-ची** में **इतिवृत्त** को एक अभिन्न अङ्ग के रूप में ग्रहण किया था। संभवतः संक्षिप्त एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुव्यवस्थित कृतियों के प्रणयन की इच्छा के फलस्वरूप सुन-युएह द्वारा (१४८–२०६ ई०) विशदाकार हान-शु का संक्षेपन किया गया । इस संक्षेपन में एक निरन्तरतायुक्त विश्लेणात्मक संरचना के अनुसार वस्तु-सामग्री को पुन: व्यवस्थित किया गया तथा जीवनियों एवं अन्य ग्रन्थों से उपलब्ध सूचनाओं को भी इसमें जोड़ा गया परवर्त्ती कालों में भी इन **हान शासन वंश के इतिवृत्तों (हान-ची)** के उदाहरण को सदैव एक अनुकरणीय मानदण्ड के रूप में लिया गया; इस प्रकार के ग्रन्थों का सर्वोत्तम दृष्टान्त प्रसिद्ध इतिहासकार सु-मा-कुअङ्ग (१०१९–८६ ई०) लिखित **प्रशासन में सहायता का दर्पण** (त्सु-चिह तुङ्ग चिएन) है। हान-इतिवृत्त हमें सर्वथा सुरक्षित रूप में प्राप्त होते हैं। **शिह चि** तथा **हान शु** की सूचनाओं की शुद्धता के परीक्षण के लिए इसका एक प्रामाणिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

उन चौबीस 'मानक इतिहासों' (**चेङ्ग-शिह**) में जिन्हें चिङ्ग शासनवंश के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त हुई नौ इतिहास-ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय का समय-विस्तार तङ्ग शासनवंश से मिङ्ग शासनवंश तक का है। एक विशिष्ट वर्ग के रूप में लेने पर ये ६१८ ई० से लेकर १६४४ ई० के बीच विभिन्न अवसरों पर संपूर्ण चीन अथवा इसमें किसी भू-खण्ड पर शासन कर रहे विभिन्न शासनवंशों के राजकीय प्रलेखों का प्रतिनिधत्व करते हैं। अतएव इन ग्रन्थों में निहित सिद्धान्तों तथा शैलियों के अध्ययन से चीन के राज्य-प्रेरित इतिहास-लेखन की स्वरूप-संरचना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इन सभी इतिहास-ग्रन्थों की कुछ महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएं हैं। ये सभी विनष्ट शासन-वंश के अनुवर्त्ती शासनवंश के अन्तर्गत अथवा और बाद की तिथि में लिखे गए। इस बात का महत्त्व इसमें निहित है कि इस प्रथा का निरंतर निर्वाह किया गया एवं बाद में आने वाले शासन-वंश ने विनष्ट शासन-वंश के समय की घटनाओं तथा शासकों के विषय में लेखन आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण समझा। इनकी दूसरी विशिष्टता यह है कि इनमें से प्रत्येक किसी एक व्यक्ति की रचना न हो कर एक विभाग के सम्मिलित कार्य का फल है : अर्थात् राज्य की ओर से इतिहासकारों के एक वर्ग को यह कार्य-भार दिया गया; इसका केवल एक अपवाद **पांच शासन-वंशों का नवीन इतिहास** (सिन वु-ताइ-शिह) है, जोकि एक ही व्यक्ति—ओउ-चङ्ग सिउ—द्वारा लिखित स्वतंत्र कृति है। इस प्रकार ये तङ्ग युग के पहले लिखे गए 'मानक इतिहासों'—जो सामान्यरूपेण किसी एक व्यक्ति द्वारा स्वतंत्ररूपेण प्रारंभ किए गए कार्य के परिणाम हैं—के विपरीत राज्य-प्रेरित इतिहास-ग्रंथ हैं। तङ्ग शासन-वंश से राज्य-प्रेरित इतिहास ग्रंथों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है और सभी विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को चीनी इतिहास-लेखन में एक विशिष्ट विकास के रूप में लिया है। इन ग्रंथों की एक तीसरी विशिष्टता यह है कि ये एक संघटनात्मक कथानक-जीवनी शैली में लिखे गए हैं : अर्थात् संपूर्ण ग्रन्थ को तीन या चार विभागों में विभक्त किया गया है और ये सभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक दूसरे के पूरक हैं। इस शैली-विशेष को सदैव इतिवृत्तों की शैली से पृथक् रख कर देखा जाता है। जिसमें बहुतेरी महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी इतिहास-ग्रंथों की रचना हुई किन्तु 'मानक इतिहासों' में जिसका कभी भी प्रयोग नहीं हुआ है। इस संघटनात्मक शैली का 'मानक इतिहासों' के साथ इतना घनिष्ट संबंध है कि अत्यन्त प्राचीन काल से, तङ्ग शासन काल में ही, 'मानक इतिहासों' को इस शैली के आधार पर परिभाषित किया गया।

इन इतिहास-ग्रंथों के स्रोत क्रमानुगत शासन-वंशों में एक लघु काल-विस्तार से संबद्ध ऐतिहासिक लेखन थे। इनमें प्रमुख राजकीय लेखन प्रत्येक शासक से संबद्ध **कार्य तथा विश्राम की दैनन्दिनी (ची-चू-चु)** थी जो विशिष्ट रूप से इस कार्य के लिए नियुक्त राजकीय इतिहासकार द्वारा तैयार की जाती थी। पुनः 'सत्तावान प्रशासन के लेख' (**शिह्-चेङ्ग ची**) होते थे जो प्रधान मंत्रियों एवं उनके सहायकों द्वारा तैयार किए जाते थे। प्रमुख रूप से इन दोनों के आधार पर 'दैनिक लेखों' (**जिह् ली**) का लेखन अथवा संकलन किया जाता था; और ये सभी मिलकर शासक के 'विश्वसनीय लेखों' (**शिह् लु**) का स्रोत बनते थे। इन कृतियों तथा अन्य राजकीय संकलनों के आधार पर कुछ शासन-वंशों ने अपने राजकीय इतिहासकारों द्वारा तथाकथित राष्ट्रीय इतिहास (**कुओ शिह्**) का प्रणयन करवाया, जो संघटनात्मक शैली में लिखे गए थे।

इन 'मानक इतिहासों' के लेखन में अन्तर्निहित सिद्धान्तों में दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत 'क्यों'? और 'कैसे'? प्रश्नों से संबद्ध हैं। प्रथम प्रश्न के उत्तर में दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त लेख की निरन्तरता तथा लाभप्रद उद्धरण के संप्रेषण के संदर्भ में आते हैं।

जहां तक लेखन की निरन्तरता का प्रश्न है, प्रत्येक शासनवंश पूर्ववर्त्ती शासनवंश अथवा शासन-वंशों के विषय में अभिज्ञान आवश्यक समझता था। पूर्ववर्ती लिआओ तथा चिन शासन-वंशों के विषय में लेखन कार्य के महत्त्व पर बल देते हुए युवान-कालीन विद्वान् वङ्ग ओ ने लिखा : 'प्राचीनकाल से यह नियम द्रष्टव्य है कि राज्य नष्ट हो सकता है किन्तु इसका इतिहास कभी नष्ट नहीं होता। सामान्य रूप में पूर्ववर्ती शासन-वंशों का इतिहास अनुवर्ती शासनवंश द्वारा इसलिए लिखाया गया है क्योंकि परवर्ती पीढ़ियों द्वारा ही निर्णय तथा मूल्याङ्कन में निष्पक्षता लाई जा सकती है।' इस विद्वान् का समय लगभग १२६१ ईसवी है। १३६९ ईसवीं में मिङ्ग शासन-वंश के संस्थापक सम्राट् ताइ-त्सु ने अपने दरबार को संबोधित करते हुए कहा : 'अभी युवान राजधानी (पीकिङ्ग) के पतन के पश्चात् हमें तेरह शासकों के 'विश्वसनीय लेख' प्राप्त हुए हैं। यद्यपि, उनका राज्य नष्ट हो गया है तथापि इसकी घटनाओं का लेखन किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, इतिहास सफलता एवं असफलता का वृत्तान्त प्रदान करता है जिससे एक ओर प्रोत्साहन और दूसरी ओर चेतावनी मिलती है; इस कारण इनका परित्याग उचित नहीं है।'

जहां तक दूसरे सिद्धान्त—अर्थात् लाभप्रद उद्धरण—का प्रश्न है इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को एक दर्पण तथा शिक्षा-स्रोत के रूप में ग्रहण करने की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन काल तक ढूंढी जा सकती है और सभी इतिहास-ग्रंथों में इसे समानरूपेण सम्माननीय मान्यता प्राप्त रही है।

'कैसे' ? के प्रश्न पर हमें परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं; सत्य-लेखन और इसके विरोध में नैतिक पक्षपात अथवा उचित संगोपन (हुइ)।

सत्य-लेखन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। **त्सो-परम्परा (त्सो चुआन)**, जोकि एक प्राचीन इतिवृत्त है, में **वसन्त तथा शरद् युगीन** ऐसे विविध इतिहास-कारों की चर्चा मिलती है जिन्होंने अपने जीवन की चिन्ता न करते हुए सत्य-लेखन के कर्त्तव्य का निर्वाह किया। इस सिद्धान्त के पीछे यह अवधारणा थी कि इतिहास-लेखन करते समय इतिहासकार आकाश के नीचे स्थित सभी लोगों तथा भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायी होता है। इतिहासकार का स्वातंत्र्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। राजकीय इतिहासकार के मन में किसी प्रकार की दुश्चिन्ता न रहे, इस उद्देश्य से शासक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने शासन-काल की **कार्य तथा विश्राम की दैनन्दिनी** को न पढ़े; इस परम्परा का प्राय: उल्लेख मिलता है।

किन्तु, इतिहासकार के स्वतंत्र्य का व्यतिक्रमण सर्वथा असामान्य नहीं था। यद्यपि शासक अपने शासन काल की दैनन्दिनी को पढ़ने से विरत हो सकता था, तथापि उसके अपने शासन-काल के तथा विनष्ट शासन वंश के संबंध में सभी ऐतिहासिक-लेखन उसके अन्तिम अनुमोदन के लिए लाए जाते थे। इस अनुमोदन की अपेक्षा तथा इसके साथ इस परम्परा के कारण कि प्रधान मंत्री ही इस प्रकार की सभी ऐतिहासिक परियोजनाओं का अधीक्षक होता था, ऐतिहासिक-लेखन के ऊपर राजनीतिक प्रभावों का पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक था। मिङ्ग तथा चिङ्ग शासन-काल में राज्य की निरंकुशता में वृद्धि के साथ-साथ इस प्रकार के प्रभाव में भी वृद्धि होती गई। समय-समय पर प्रधान मंत्री की प्रार्थना पर शासक द्वारा इन ऐतिहासिक परियोजनाओं से संबद्ध इतिहासकारों के लिए राजकीय निर्देश दिए जाते रहे। स्वाभाविक था कि आज्ञापालक संकलनकर्त्ताओं द्वारा इन निर्देशों का पालन किया जाता क्योंकि इससे उनका स्वयं का उत्तरदायित्व हलका हो जाता था।

सत्य-लेखन के सिद्धान्त के समान सत्य-संगोपन का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है। **वसन्त तथा शरद् इतिवृत** की टीका **कुगं-यगं** में यह सूचना ही गई है कि अपने इतिहास-लेखन में कन्फ्यूशियस ने तीन श्रेणियों के लोगों की गंभीर गलतियों का संगोपन किया था : आदरणीय (त्सुन-चे), घनिष्ट संबंधी (चिन-चे) तथा योग्य (सिएन–चे)।

सत्य-लेखन तथा सत्य-संगोपन के सिद्धान्तों के परस्पर-विरोध को समझते हुए राजकीय इतिहासकारों ने सदैव प्रथम सिद्धान्त की दूसरे की अपेक्षा अधिक चर्चा की है। सत्य-संगोपन के दृष्टान्त इतिहास-लेखन के सभी अवस्थाओं में तथा सभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकारों में अत्यन्त प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। सिद्धान्त में यह माना जाता था कि यदि किसी एक अवस्था में सत्य-संगोपन किया गया है, बाद में कभी उसका सुधार किया जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कोई भी व्यक्ति विभिन्न पीढ़ियों की दृष्टि में समानरूपेण आदरणीय हो। किन्तु, व्यवहार में ऐसा होना सम्भव नहीं था और प्रायः पुराने संगोपन बने रहते थे और नए जुटते रहते थे। चाओ प्रथम ने सत्य-संगोपन की एक रोचक विधि बताई है, स्पष्टतः जिसका प्रयोग तङ्ग तथा मिङ्ग काल के इतिहास में किया जाता था: उदाहरणार्थ उस व्यक्ति के प्रसंग में जो अत्यन्त नैतिकतासंपन्न था, उसकी छोटी-मोटी गलतियों को उसकी जीवनी में नहीं देकर अन्य स्थानों पर दिया गया। चाओ प्रथम ने इस विधि की सामान्यतः इतिहास-लेखन में उचित बताया और इसका औचित्यस्थापन इस सिद्धान्त के आधार पर किया कि इतिहासकार का यह प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सत्य-लेखन के सिद्धान्त के प्रति आदरभाव रखते हुए भी नैतिकता में वृद्धि लाने का प्रयास करें।

सहायक पुस्तकें

१. फिट्ज़रैल्ड, **चाइना, ए शार्ट कल्चरल हिस्टरी**, न्यूयार्क, १९६१।

२. हाजिमे नाकामुरा, **वेज आफ थिंकिंग ऑफ दी ईस्टर्न पीपुल्स**........, हवाई, १९६४।

३. डोनैल्ड जे० मुनरो, **द कान्सेप्ट आफ़ मैन इन अर्ली चाइना**, केलीफोर्निया, १९६९।

४. बर्टन वाट्सन, **सु-मा-चिएन—द ग्रैन्ड हिस्टोरियन ऑफ चाइना**, न्ययार्क १९६३।

५. डेनिस त्वित्शेत, 'चाइनीज सोसल हिस्टरी फ्राम द सेवेन्थ टु द टेन्थ सेन्चुरीज' **पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट**, सं० ३५, १९६६।

६. डावसन (सं) **द लीगेसी ऑफ चाइना**, १९६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९

इस्लामी इतिहास-दर्शन तथा अरब इतिहास-लेखन

इस्लाम का तेरह शताब्दियों पुराना इतिहास है। इस्लाम चार अथवा पांच विश्व-धर्मों में एक है तथा विश्व के विभिन्न देशों में इसका विस्तार है। इस्लाम एक धर्ममात्र नहीं है, यह एक विशिष्ट धर्म है जिसकी यद्यपि परिभाषा संभव नहीं है तथापि जिसके लक्षण बताए जा सकते हैं। एक मुसलमान के लिए इस्लाम अल्ला अथवा ईश्वर का धर्म है; अर्थात् इसका प्रारम्भ ७वीं शताब्दी में नहीं हुआ अपितु—यदि इसके पूर्व नहीं तो—सृष्टि-रचना के दिन ही हुआ। ईश्वर ने सृष्टि की रचना की और साथ ही इसका भी विधान किया कि प्रकृति की शक्तियां उसके द्वारा पूर्व-निर्धारित परियोजना का अपरिहार्यरूपेण पालन करें। प्राकृतिक जगत् को अनिवार्यतः उसके द्वारा निर्मित शाश्वत नियमों का पालन करना है और साथ ही साथ ऐसा करते हुए विवेकी एवं बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए उसकी परियोजना को, उसकी शक्ति तथा गरिमा को दर्शनीय तथा प्रत्यक्ष बनाना है। प्रकृतिक जगत् के समान ही ईश्वर ने मनुष्य के लिए भी एक परियोजना का निर्धारण किया है। अनादिकाल से ही ईश्वर ने इसका निर्धारण कर रखा है कि मनुष्य को सर्वथा व्यक्ति-परक रूप में अथवा एक समूह में किस रूप में व्यवहार करना है। मानवीय आचार का एक उपयुक्त तथा विशिष्ट प्रकार है: चाहे यह ईश्वर के प्रति उद्दिष्ट मानवीय व्यवहार हो अथवा अन्य मनुष्यों के प्रति। जीवन-यात्रा का एक सही मार्ग है। मनुष्य भी ईश्वर की सृष्टि के विविध तथा विभिन्न विषयों में एक है किन्तु वह शेष सृष्टि से इस अर्थ में भिन्न एवं विशिष्ट है कि वह चैतन्य तथा स्वतन्त्र प्राणी है। केवल उसे यह स्वतंत्रता प्राप्त थी कि वह ईश्वर द्वारा निर्धारित नियमों का पालन अथवा उल्लंघन करे। अच्छाई शाश्वत काल से विद्यमान है किन्तु वह इसका आचरण करने को बाध्य नहीं है।

मनुष्य की यह स्वतन्त्रता उसके ऊपर गंभीर उत्तरदायित्व आरोपित करती है। यह उत्तरदायित्व मनुष्य ने स्वयं ही अपने ऊपर लिया है। कुरान में एक स्थान पर (३३.७२) इसे प्रतीकात्मक ढंग से समझाया गया है। जब ईश्वर ने स्वर्ग को (आध्यात्मिक शक्तियां) तथा पृथ्वी एवं पर्वतों को (प्राकृतिक जगत्) स्वतंत्रता का विकल्प दिया तो उन्होंने मना कर दिया; मनुष्य ने इसे स्वीकार किया और इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार उसने अपनी जीवन-यात्रा को स्वयं ही व्यवस्थित करने की चुनौती स्वीकार की। आकाश के तारागण जिस प्रकार एक पूर्वनियोजित व्यवस्था में परिभ्रमण करते रहते हैं उस प्रकार की न्याय-संयुक्त व्यवस्था उसे पूर्व प्राप्त नहीं है; किन्तु वह इसके लिए प्रयास करेगा। अपने समाज को विघटन तथा दुरवस्था से बचाने के लिए मनुष्य को ठीक प्रकार से रहना आवश्यक है किन्तु वह अशुभ मार्ग को अपनाने के लिए समानरूपेण स्वतन्त्र है। मनुष्य सृष्टि का विशिष्टतम निर्माण है, सृष्टि की उत्कृष्टतम रचना है। ईश्वर ने उसके लिए एक मार्ग निर्धारित कर रखा है; जो इसके अनुरूप आचरण करते हैं वे अनन्त कल्याण की प्राप्ति करेंगे, जब कि इसके विपरीत आचरण करने वालों को दारुण दण्ड का भागी होना होगा।

मनुष्य को कैसे रहना चाहिए, इसके लिए ईश्वर ने उसे मार्ग-दर्शन भी प्रदान किया है। सृष्टि-रचना करते ही ईश्वर ने उसे नैतिक नियम की शिक्षा भी प्रदान की। इस्लाम की शब्दावली में आदम प्रथम पैगम्बर (दूत) था जिसने ईश्वर द्वारा निर्धारित नैतिक नियम का संप्रेषण मानव-जाति के प्रति किया, कि मनुष्य को क्या करना चाहिए तथा किससे बचना चाहिए। किन्तु, धीरे-धीरे मानव जाति उन शिक्षाओं को भूल गई और आदम का प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ। ईश्वर ने पुनः दूसरा दूत भेजा किन्तु भूल की वही कथा पुनरावर्तित हुई। इस रूप में कई दूत समय-समय पर आते रहे—इस प्रकार के कितने दूत आए, यह निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं है; वस्तुतः प्रत्येक समाज के अपने ईश्वर-दूत होते रहे हैं किन्तु संदेश सदैव ही समान रहा है। आदम के अतिरिक्त जिन अन्य पैगम्बरों के नाम सुरक्षित रहे हैं वे हैं अब्राहम, मोजेज तथा जीसस। यद्यपि ये पूर्णतया सफल नहीं हुए किन्तु अन्यों की अपेक्षा ये अधिक प्रभावी सिद्ध हुए एवं उनकी शिक्षाओं का अपेक्षाकृत दूरगामी प्रभाव पड़ा। अब्राहम की उपलब्धि एकदेववाद की स्थापना थी जो फिर कभी भी विलुप्त नहीं हुई। अब्राहम के प्रयासों से मिथ्या देवताओं तथा मानव-निर्मित प्रतिमाओं का निरास मानव-इतिहास में प्रथम चरण था। किन्तु अभी अन्य कई कार्य शेष थे। मोजेज ने इसे व्यवहार में लाने का उपक्रम किया। उसने ईश्वर की एकता तथा उसके नियमों की एकात्मकता पर भी बल दिया। उसके अनुयायियों में इस बात का अभिज्ञान हुआ कि ईश्वर की एक नियम-संहिता है जिससे सभी मनुष्य बँधे हुए हैं। किन्तु उन्होंने उसके लिखित नियम को दोषपूर्ण हो जाने दिया। किन्तु उनका सर्वाधिक गंभीर दोष इस विश्वास में निहित था कि दैवी आदेश सार्वभौमिक स्वरूपी न होकर केवल उनके लिए ही था। इस भूल के शोधन के लिए एक दूसरा दूत आया। यह दूत जीसस था। किन्तु उसके अनुयायियों ने एक मूलभूत तथा अक्षम्य गलती की—उन्होंने संदेश के अनुरूप आचरण करने के स्थान पर संदेशवाहक की ही पूजा प्रारंभ कर दी। मुस्लिम विचार के अनुसार, जीसस भी अपने पूर्ववर्ती पैगम्बरों के समान ईश्वर द्वारा चुने हुए व्यक्ति थे। अपने विभिन्न चमत्कार प्रदर्शनों तथा असाधारण नैतिक चरित्र के बावजूद वह भी एक मनुष्य मात्र थे। जीसस के अपने विरोध के बावजूद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके अनुयायियों ने उन्हें पूजना प्रारंभ कर दिया और यहां तक कि उनकी माता का ईश्वर के साथ अश्लील एवं कुविचारी संबंध-स्थापन प्रदर्शित करने का प्रयास किया। इस प्रकार एक बार फिर धर्म में दुर्व्यवस्था एवं दोष का अनुप्रवेश हुआ। इस बिन्दु तक मानव-इतिहास निराशा का इतिहास था जिसमें मानव जाति द्वारा बार-बार ईश्वरीय संदेश की उपेक्षा होती रही। लेकिन दयालु ईश्वर ने एक बार फिर और अंतिम बार मानव जाति के उद्धार के लिए मुहम्मद को पैगम्बर रूप में चुना, जो न केवल संदेशवाहक होगा अपितु वह इसकी व्याख्या भी करेगा, इसके अनुरूप आचरण करेगा और—जो सर्वाधिक महत्त्व है—मनुष्यों के एक ऐसे समाज की स्थापना करेगा जो निष्ठापूर्वक इस संदेश को सुरक्षित रखते हुए विश्व के कोने-कोने में फैलाने का उपक्रम करेगा।

इस बार किसी भूल, किसी दुरवस्था अथवा उपेक्षा के लिए स्थान नहीं था इसके पहले भी पैगम्बरों ने ईश्वर के सन्देश का संप्रेषण किया था, किन्तु अब इस घटना के साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन हुआ–यह कार्य था एक श्रद्धालु समाज की स्थापना जो उसके आदेश के अनुरूप जीवनयापन करेगा। इस समाज के द्वार सभी के लिए समान रूप से खुले हैं। ईश्वर अपने अनुयायियों के प्रति प्रतिश्रुत है कि वह सदा उनके साथ है एवं समय समय पर उनका मार्ग-दर्शन करता रहेगा। इस प्रकार इस्लाम, जो शाश्वत काल से विद्यमान रहा है, ७वीं शताब्दी ई० इतिहास में प्रविष्ट हुआ और मानव समाज में अपने वास्तविक एव अन्तिम कार्य-सम्पादन में प्रवृत्त हुआ। इसका सन्देश केवल कुरान में ही सुरक्षित है। इस्लामी संवत् का प्रथम वर्ष (हिजरी १=६२२ ईसवी) मुहम्मद के जन्म का अथवा उनके द्वारा ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति का वर्ष नहीं है, अपितु वह वर्ष है जब मुस्लिम समाज को राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त हुआ। मुहम्मद तथा उनके थोड़े से अनुयायियों ने मक्का से मदीना जाकर एक स्वायत्त समाज की स्थापना की, और यहीं से इस्लाम के इतिहास का प्रारम्भ होता है।

मुसलमान के लिए समाज तथा इतिहास का एक 'विशेष' स्थान है। यह पहले से ही अस्तित्व में है और इस कारण मुस्लिम का अर्थ है, इस समाज का सदस्य होना तथा पृथ्वी पर ईश्वर के प्रयोजन की पूर्ति का प्रयास करना। यह उपक्रम ईश्वरीय ज्ञान के अवबोध से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस रूप में मनुष्य ईश्वर के निकट आता है और मानव-नियति के पूर्णत्व के लिए शुभ कर्म में प्रवृत्त होना अपेक्षित है। शुभ कर्म कुरान में बतायी गयी जीवन-यापन की विधा है और जिसकी अभिव्यक्ति मुस्लिम समाज है। पृथ्वी पर मुस्लिम समुदाय द्वारा ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना के ऐतिहासिक प्रयास में सहभागिता द्वारा मनुष्य ईश्वर के निकट पहुँचता है।

इस्लाम के अनुसार, ईश्वर तथा मनुष्य को जोड़ने वाली कड़ी मनुष्य का शुभ कर्म है; नैतिक व्यवहार में ही ईश्वरीय तथा मानवीय सत्ताओं का मिलन होता है। ईश्वर के शाश्वत शब्द का स्वरूप आदेशात्मक है। मुहम्मद के पूर्व इस्लाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अगोचर प्रतिमान के रूप में स्थित था; ईश्वर ने अपने शब्द को स्वयं तक ही रखा था। किन्तु अब यह शब्द इतिहास का एक अंग हो गया है तथा सदैव मनुष्यों के साथ विद्यमान है। इस्लाम में समाज की सर्वोपरिता मानी गई है। मुस्लिम समुदाय केवल एक सामाजिक वर्ग नहीं है, यह एक धार्मिक संस्था है। 'धार्मिक संघ' तथा 'राज्य' अभिन्न हैं।

इस्लाम के अनुसार परम लक्ष्य 'साद' अथवा परलोक में परमसुख की प्राप्ति है। यह सुख ईश्वर की एकान्तिक सेवा ('इबाद') से प्राप्य है जिसका अर्थ है ईश्वर की आज्ञा के पूर्ण पालन का भाव। यह आज्ञा-पालन ईश्वर के प्रयोजन तथा कार्य के ज्ञान ('इल्म') द्वारा ही संभव है। कुरान में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि 'उसके सेवकों में केवल ज्ञानवान ही अल्ला से डरते हैं'। साथ ही विशुद्ध सेवा (इबाद) की क्रियान्विति श्रद्धालुओं के संगठित समाज के बिना नहीं हो सकती और इस प्रकार के समाज का अस्तित्व सुचारु राज्य-प्रशासन पर निर्भर है। इस प्रकार प्रशासन का प्रमुख प्रयोजन विशुद्ध तथा पूर्ण सेवा को संभव बनाना है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो इस्लाम में राज्य को एक नैतिक संस्था के रूप में उपकल्पित किया गया है। राज्य का कर्त्तव्य मुस्लिम जगत् की मुस्लिमेतर जगत से, पारस्परिक कलह तथा मिथ्या ज्ञान से सुरक्षा एवं 'शरीयत' के आधार पर सुचारु जीवन-विधा का प्रतिष्ठापन है। यह जीवन-विधा कुरान में दी गयी है और राज्य इसमें लेशमात्र भी परिवर्तन अथवा परिवर्धन नहीं कर सकता। ईश्वरीय नियम का संप्रेषण धर्मशास्त्रियों के हाथ में है जो समय-समय पर इसको व्याख्यायित तथा व्यवस्थित करते हुए इसे विकसित करते हैं। इस प्रकार ईश्वर के संरक्षत्व में एक संगठित समाज के रूप में इस्लाम का अस्तित्व एक धर्मनिष्ठ एवं विद्वान् उलमा-वर्ग पर निर्भर है।

समाज का आधार वैयक्तिक श्रद्धा है। मुस्लिम की वैयक्तिक श्रद्धा की एक व्यावहारिक स्वरूप में अभिव्यक्ति सामाजिक व्यवस्था तथा इसके कार्यों में होती है। मुस्लिम की धार्मिक निष्ठा अनिवार्यरूपेण मुस्लिम समुदाय में सहभागिता उपलक्षित करती है। इस्लाम की श्रद्धा का स्वरूप सामाजिक, व्यावहारिक तथा जीवन्ततापूर्ण है; दूसरे शब्दों में, यह इतिहास–प्रक्रिया में श्रद्धा का होना है। यह सत्य है कि मुक्ति कार्यों से नहीं अपितु श्रद्धा से ही सम्भव है, किन्तु यह कार्यों की उपयुक्तता में श्रद्धा है। इसी कारण इस्लाम में सत्य के प्रश्न पर कभी विवाद नहीं रहा है, विवाद केवल इस पर रहा है कि शुभ कर्म क्या है? इस्लाम के अन्तर्गत विविध सम्प्रदायों का उद्भव धार्मिक प्रश्नों के परिणामस्वरूप न होकर इसके व्यवहार पक्ष के प्रश्न को लेकर हुआ है।

इस्लाम में इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा यहां जो कुछ भी घटित होता है, उसका दूरगामी महत्त्व होता है एवं उसके प्रभाव से बचा नहीं जा सकता। किन्तु, मनुष्य की सारी उपलब्धियाँ किसी एक व्यक्ति की नहीं अपितु समस्त समाज की उपलब्धि हैं, किन्तु इसके साथ ही ये उपलब्धियां विशिष्ट घटनाएँ भी हैं जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए प्रत्येक व्यक्ति को कयामत के दिन ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होना है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य का जहाँ एक ओर स्वतन्त्र मूल्यांकन होना चाहिए, वहीं दूसरी ओर इसका सम्पूर्ण इतिहास-विकास-प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी मूल्यांकन होता है। इस्लाम का स्वर्ग एवं नरक में विश्वास है; इस प्रकार इतिहास की समाप्ति के पश्चात् एक अन्य विश्व है, अपने कार्यों को करते समय जिसका ध्यान सभी मनुष्यों को रखना चाहिए। अन्तिम दृष्टि से विचार करने पर यह पारलौकिक जगत् वर्तमान जगत् से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इस्लाम में इन दोनों जगतों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान इतिहास–प्रक्रिया में सहभागिता रखते हुए ही मनुष्य पारलौकिक जगत् में कल्याण की आशा कर सकता है। इतिहास–प्रक्रिया तथा तज्जनित सामाजिक संरचना मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के स्वरूप के लिए परम महत्त्वपूर्ण हैं और इस प्रकार कोई भी व्यक्ति केवल अपने वैयक्तिक जीवन पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करके समाज की ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपना सकता। शुद्ध तथा वाञ्छनीय सामाजिक संरचना इतिहास-प्रक्रिया में ही अन्तर्भूत है और इसका मूर्त्तीकरण प्रत्येक व्यक्ति का प्रयास होना चाहिए; जो ईश्वर का सन्देश समझते हैं उनका कर्त्तव्य है कि वे इतिहास–जगत् में उन्हें प्रकाशित करें।

कुरान तथा हदीथ (पैगम्बर मुहम्मद के जीवन की परम्परा) दोनों में इतिहास के प्रसंग में प्राय: 'इब्र' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है "शिक्षाप्रद दृष्टान्त"। अतीतकालिक घटनाओं के स्वरूप के सम्यक् अवबोध से मानव-जाति वस्तुओं के ऊपरी आवरण के नीचे छिपी अदृष्ट ईश्वरीय परियोजना को समझ सकता है; प्रत्यक्षत: निरर्थक प्रतीत होने वाली घटनाओं की शृंखला में ईश्वरीय परियोजना का संचालन हो रहा है और इसके सम्यक् अवबोध से हम अपने व्यावहारिक कार्यव्यापारों को सुचारु ढंग से सम्पादित कर सकते हैं। इतिहास का इस प्रकार एक व्यावहारिक लाभ भी है। इस्लाम में इतिहास का स्वरूप सार्वभौमिक है जो सृष्टि–रचना के दिन से प्रारम्भ होता है, इस्लाम का पार्थिव प्रकाशन इसकी एक अवस्था है जिसकी चरम परिणति भविष्य में निर्णय के दिन सम्पन्न होने वाली है; इस प्रकार किसी मुसलमान के लिए इतिहास का बोध तथा इसके वास्तविक 'इब्र' को जानना एक आध्यात्मिक प्रशिक्षण है, जिसमें व्यक्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण आज्ञापालन का भाव रखते हुए स्वयं को निर्णय के दिन के लिए तैयार करता है। कुरान तथा हदीथ में इतिहास के प्रति इस सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही इस्लाम की प्रारम्भिक पीढ़ियों में अतीतकालिक अध्ययन के प्रति इतनी अधिक रुचि एवं अनुराग दिखाई पड़ता है; वैसे सामान्य रूप से इन इतिहासकारों का प्रमुख उद्देश्य कुरान तथा हदीथ के आधार पर इतिहास के औचित्य को प्रतिष्ठापित करना है।

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, इस्लामी चिन्तन में इतिहास के स्वरूप, उद्देश्य तथा कार्यविधि पर विचार को स्वयं इस्लाम के प्रारम्भ तक ले जाया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकता है। वे स्वयं कुरान में प्राप्य हैं तथा इन्हें स्वयं पैगम्बर मुहम्मद के वास्तविक अभिकथनों के रूप में प्रस्तुत किया गया है (द्र० डी० एस० मार्गोलियोअथ, **लेक्चर्स आन अरेबिक हिस्टोरियन्स**, कलकत्ता, १९३०, पृ० ७४ इ०; एच० ए० आर० गिब, 'तारीख' **इनसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम**, २३४ बी०–३५ ए; फ्रैंज रोजेन्थाल, **ए हिस्टरी आफ मुस्लिम हिस्टोरियोग्रैफी**, लीडेन,१९५२,पृ० २२–२८)। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है कि ये विचार सामान्य स्वरूप के हैं तथा इनका प्रमुख विचार्य विषय ईश्वर का मानव–इतिहास के साथ सम्बन्ध है; अतीतकालिक घटनाओं तथा दृष्टान्तों की स्मृति के माध्यम से वे इतिहास के धार्मिक, नैतिक एवं व्यावहारिक उपयोगों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं। इस दृष्टिकोण से मुस्लिम समाज से यह आग्रह किया गया है कि वे पार्थिव जगत् की संकटास्पद स्थितियों पर, राज्यों के उद्भव, विकास तथा पतन पर विचार करें एवं प्राचीन समाजों के भाग्य एवं अभाग्य में ईश्वर के निर्णय के प्रकाशन को समझने की चेष्टा करें। जहां तक ऐतिहासिक कार्यविधि का प्रश्न है, यथातथ्य निरूपण एवं सत्यता की आपेक्षिकता पर बल दिया गया है एवं ऐतिहासिक संरचना के संप्रसारण में यथासंभव प्रारम्भिक साक्ष्यों एवं प्रत्यक्षदर्शियों को आधार बनाने का आग्रह किया गया है। इस्लाम की स्थापना होने के पश्चात् इसका प्रसार भी बड़ी शीघ्रता के साथ हुआ एवं ऐतिहासिक साहित्य का उत्पादन भी एक बड़े पैमाने पर प्रारम्भ हुआ; कुरान तथा हदीथ में जो ऐतिहासिक बीज पहले से ही विद्यमान था, उसके विकास के लिए अब एक उपयुक्त वातावरण भी प्राप्त हुआ।

एक पेशे के रूप में इतिहास का इस्लाम में प्रारम्भ विशिष्ट घटनाओं के विषय में प्रामाणिक विवरणों ('अखबार') की खोज, उनके संग्रह तथा संप्रेषण की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप होता दिखाई पड़ता है। प्रारम्भ में ये विवरण मौखिक रूप में संप्रेषित होते रहते थे, एवं जब बाद में धीरे-धीरे इनका लेखन प्रारम्भ हुआ तब प्रारंभ में इन्हें केवल स्मृति के सहायक उपादान के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई। इन विवरणों को देते समय इतिहासकार प्रमाणस्वरूप प्रयुक्त साक्ष्यों तथा व्यक्तियों की प्रामाणिकता एवं विश्वनीयता पर भी विचार करने का कष्ट उठाता था। वह प्रत्येक विवरण के पूर्व उन प्रमाण-पुरुषों की शृंखला प्रदान करता था जिसके द्वारा उसे वह विवरण-विशेष प्राप्त हुआ था और यदि उसे यह विवरण विविध स्रोतों से प्राप्त हुआ रहता था तो उन वह सबका उल्लेख करता था। इस कार्य के संपादन में वह एक ओर जीवन-कथाओं का और दूसरी ओर साक्ष्य-समीक्षा के उपकरण का उपयोग करता था। अपने विवरण को सर्वाधिक विश्वसनीय स्रोत से संगृहीत कर तथा साक्ष्य-समीक्षा के आधार पर उसकी यथातथ्यता को प्रतिष्ठित कर वह इतिहासकार के रूप में अपने दायित्व को संपन्न समझता था; वह सामान्यतया विवरण के विषय में अपने विचार अथवा उसके द्वारा प्रदत्त विवरण के विषय में अन्य लोगों के विचार नहीं देता था और यह उसके व्यवसाय के लिए आवश्यक नहीं समझा जाता था। विवरण की वस्तुसामग्री के प्रति किसी प्रकार की समीक्षात्मक दृष्टि अथवा बुद्धि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रयोग इतिहासकार के अध्ययन-क्षेत्र के बाहर समझा जाता था।

अरबी भाषा में लिखी गई प्राचीनतम ऐतिहासिक कृतियों में अधिकांश अब्बासी शासनकाल से संबद्ध हैं। किंवदन्तियों तथा पुराण कथाओं से उपलब्ध पूर्व-इस्लाम युगों के विषय में प्राप्त विवरणों तथा पैगम्बर मुहम्मद के नाम तथा जीवन से संबद्ध धार्मिक परम्पराओं ने इतिहास-लेखन को प्रारंभिक वस्तु-सामग्री प्रदान किया। पूर्व-इस्लाम युग के विवेचन के प्रसङ्ग में अल-कूफा के हिशाम अल-कलबी (८१९ ईसवी) का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **अल-फिहरिश्त** में उसके द्वारा लिखी गई उन्तीस पुस्तकों की सूची प्राप्त होती है लेकिन अब उनमें से केवल तीन कृतियां ही उपलब्ध हैं, लेकिन अल-तावरी, याकूत एवं अन्य इतिहास-लेखकों की रचनाओं में भारी मात्रा में उसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। धार्मिक परम्पराओं पर आधारित प्रथम कृति **सीरत रसूल अल्ला** है जिसका लेखक अल-मदीना का मुहम्मद इब्न-इशहाक था। (इसकी मृत्यु बगदाद में लगभग ७६७ ईसवी में हुई)। यह कृति पैगम्बर मुहम्मद की जीवन-कथा है। इसके पश्चात् वे कृतियां आती हैं जिनमें इस्लाम के प्रारंभिक युद्धों तथा विजयों की चर्चा हुई है; इस प्रसङ्ग में मूसा इब्न उकवा (७५८ ईसवी) तथा अल-वाकिदी (८२२ ईसवी) के नाम उल्लेखनीय हैं। इब्न-साद—जिसकी मृत्यु बगदाद में ८४५ ईसवी में हुई—नामक लेखक ने सर्वप्रथम वर्गीकृत जीवनकथाओं की एक महान् कृति की रचना की जिसमें मुहम्मद, उनके सहयोगियों तथा उसके अपने समय तक के उत्तराधिकारियों के जीवन के विषय में विवरण संकलित है। इस्लाम की विजयों के विषय में इतिहास लेखन करने वालों में दो सर्वाधिक विशिष्ट नाम मिस्र निवासी अब्दल हकम (८७०–७१ ईसवी) तथा अरबी भाषा में लिखने वाले पर्सिया निवासी अहमद इब्न यहया (८९२ ईसवी) के हैं; प्रथम लेखक की कृति का नाम **फुतूह मिस्र व-अखबारुह** है जो मिस्र, उत्तरी अफ्रीका एवं स्पेन में इस्लाम की विजयों की चर्चा करने वाला प्राचीनतम प्राप्य प्रलेख है; अहमद इब्न-यहया की दो पुस्तकों के शीर्षक **फुतूह अल-बुल्दन** एवं **अन्साब अल-अशराफ** हैं। **अन्साब अल-अशराफ** में पहली बार विभिन्न नगरों की विजयों तथा विविध विधिसंग्रहों को एक सुग्रथित तथा एक समष्टि के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके पूर्व की ऐतिहासिक रचनाओं में इस प्रकार की समष्टिगत विशेषता का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार धीरे-धीरे अब पुराणकथाओं, परंपराओं, जीवनकथाओं, वंशावलियों इत्यादि पर आधारित विशुद्ध इतिहास-लेखन का समय आ गया था। इस प्रकार के इतिहास-लेखन में प्रेरणा फारसी भाषा में लिखी **खुदाय-नामा** (राजाओं का वृतान्त) जैसी पुस्तकों से ली गई; इसे इब्न-अल-मुकफ्फा (७५७ ईसवी) ने **सियर मुलूक अल-अजम** शीर्षक के अन्तर्गत अरबी भाषा में अनूदित कर दिया था। इस्लाम के बहुत पहले ही यहूदी ईसाई चिन्तना में एक विश्व-इतिहास अवधारणा का उद्भव एवं विकास हो चुका था जिसमें कि सभी पूर्ववर्ती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घटनाओं को इस्लाम के इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता था। स्वरूप में ये इतिहास-लेखन भी इस्लामी परंपरा की उसी पुरानी लकीर पर ही थे; प्रत्येक घटना को प्रत्यक्षदर्शियों एवं समसामयिकों के अभिकथनों एवं विवरणों से संवद्ध किया जाता था और उससे प्रारंभ करके मध्यवर्ती विवरणकारों के एक अनुक्रम में अन्ततः इसे लेखक तक लाया जाता था। इस कार्यविधि से जहां एक ओर घटनाओं के यथातथ्य निरूपण को वल प्राप्त हुआ वहीं दूसरी ओर घटनाओं को मास तथा दिन के साथ ठीक-ठीक तिथ्यंकित करने की भी प्रवृत्ति वढ़ी। लेकिन इस प्रकार के इतिहास-लेखन में प्रदत्त तथ्य की यथार्थता एवं प्रामाणिकता इतिहासकार द्वारा स्वयं तथ्य के समीक्षात्मक परीक्षण पर न आधारित होकर विवरणकारों की इस शृंखला की अव्यवहृत निरन्तरता पर एवं प्रत्येक विवरणकार की निष्पक्षता में विश्वास पर निर्भर करती थी। इतिहासकार अपने साक्ष्यों के चयन में तथा अपनी वस्तुसामग्री को व्यवस्थित करने में स्वतंत्र होता था और इन कार्यों में अपने समीक्षापूर्ण विवेक का उपयोग करता था किन्तु सामान्यरूपेण उसमें विश्लेषण-शक्ति, आलोचना, तुलनात्मक अध्ययन अथवा अनुमान का सर्वथा अभाव था।

प्रारंभिक औपचारिक इतिहास-लेखकों में प्रथम नाम इब्न-कुतयब (मृत्यु-८८९) का आता है जिसने **किताब अल-मारिफ (ज्ञान की पुस्तक)** नामक इतिहास-पुस्तक लिखी। इसी का समसामयिक अबू हनीफ अहमद इब्न-दाऊद अल-दीनावरी था (८९५ ईसवी) जिसकी प्रमुख रचना का शीर्षक **अल-अखबार अल-तिवाल** (**लम्बे वृत्तान्त**) है—यह फारसी दृष्टिकोण से लिखा गया एक सार्वभौमिक इतिहास प्रस्तुत करता है। लगभग इसी समय इब्न-वादी अल-यकूवी द्वारा एक अन्य सार्वभौमिक इतिहास-ग्रन्थ की रचना हुई जिसमें हिजरी सन् २५८ (८७२ ईसवी) तक का इतिहास दिया गया है एवं जिसमें प्राचीन एवं अविकृत शिया परंपरा सुरक्षित है। हमज़ा अल-इसफानी (मृत्यु ९६१ ईसवी) तथा मिसकवाय (१०३० ईसवी) इस वर्ग के दो अन्य उल्लेखनीय इतिहासकार हैं; मिसकवाय **तजारीब अल-उमम** शीर्षक के अन्तर्गत हिजरी ३६९ (ईसवी सन् ९७९–८०) तक का सार्वभौमिक इतिहास लिखा है और इसके नाम की गणना प्रमुख अरबी इतिहासकारों में की जाती है।

किन्तु अरब इतिहासकारों में दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम अबू जाफर मुहम्मद इब्न-जरीर अल-तवरी तथा अबू-अल-हसन अली अल-मसूदी के हैं। तबरी का जन्म फारस के पहाड़ी जिले तबरिस्तान में हुआ था (८३८–९२२ ईसवी)। उसकी प्रमुख कृति **तारीख़ अल-रुसूल व-अल मुलूक** (**पैगम्बरों तथा राजाओं का इतिहास**) है जिसमें यथातथ्य तथा विस्तार पूर्ण इतिहास-लेखन का प्रयास किया गया है। उसने कुरान की टीका भी लिखी जिसे बाद के टीकाकारों एवं व्याख्याकारों द्वारा एक प्रतिमान तथा आधार के रूप में स्वीकार किया गया; इसी प्रकार सार्वभौमिक इतिहास से संबद्ध उसकी तारीख़ भी मिसकवाय, इब्न-अल-अतहीर तथा अबू-अल-फिदा जैसे प्रमुख इतिहासकारों द्वारा आधार ग्रंथ के रूप में मान्य हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकांश अरब इतिहासकारों के समान तबरी ने भी अपनी घटनाओं को तिथिक्रम के आधार पर व्यवस्थित किया है एवं उन्हें हिजरी संवत् के अनुवर्ती वर्षों में रखता गया है । वस्तुतः उसका इतिहास सृष्टि-रचना के दिन से प्रारंभ होता है तथा हिजरी ३०२ (६०५ ईसवी) तक चलता है। उसकी मूल पुस्तक का विस्तार प्राप्य संस्करण से दस गुना अधिक बड़ा माना जाता है । वृत्तान्त को प्रस्तुत करने की उसकी विधा धार्मिक परंपराओं (इस्नाद) के समान है। अपने समय की साहित्यिक कृतियों के उपयोग के साथ ही साथ तबरी ने अपनी यात्राओं के प्रसंग में उपलब्ध उन मौखिक परंपराओं का भी अपने इतिहास-लेखन में भरपूर प्रयोग किया है जो उसे बगदाद तथा अन्य विद्या-केन्द्रों में शेखों से प्राप्त हुई थीं। उसने फारस, इराक, सीरिया, मिस्र आदि देशों की यात्रा की थी एवं उसके उत्साह तथा अध्यवसाय की उपकल्पना उसके विषय में प्राप्त इस लोकप्रिय परंपरा से की जा सकती है कि वह प्रतिदिन चालीस पृष्ठ लिखा करता था ।

मसूदी को 'अरबों का हेरोडोटस' कहा जाता है । यह प्रथम व्यक्ति था जिसने अरब इतिहास-लेखन में एक नई विधा का अनुप्रवेश किया। अपनी घटनाओं का विवरण वर्षों को केन्द्र बना कर देने के स्थान पर उसने शासन-वंशों, राजाओं तथा लोगों को घटना-विवरणों का केन्द्र-बिन्दु बनाया। यह एक नवीन विधा थी जिसका परवर्ती काल में इब्न-खाल्दून तथा अन्य इतिहासकारों द्वारा अनुकरण किया गया। इतिहास-लेखन में ऐतिहासिक दृष्टान्तों का सम्यक् उपयोग भी उसी से प्रारंभ हुआ। वह भी ज्ञान-वृद्धि के उद्देश्य से यात्रा पर निकला और अपने मूल स्थान बगदाद से जंजीबार तक गया। उसके जीवन के अंतिम दशक सीरिया एवं मिस्र में व्यतीत हुए जहाँ उसने तीस जिल्दों में विस्तृत अपनी प्रमुख रचना (जो अब **मुरूज अल-धहाब व-मदीन अल-जवाहर—सोने के चरागाह तथा जवाहरों की खान** शीर्षक के अन्तर्गत साररूप में मिलती है) की वस्तु-सामग्री का संकलन-कार्य किया। उसकी उदारता तथा वैज्ञानिक जिज्ञासा ने उसे मुस्लिमेतर विषयों के अतिरिक्त भारतीय-पारसीक, रोम तथा यहूदी इतिहास की ओर भी आकृष्ट किया है। अपनी पुस्तक के प्रारंभ में ही वह कहता है कि जहां आजकल सूखा है, वहां पहले समुद्र था और जहां आजकल समुद्र है वह सूखा स्थल था—और इसके लिए भौतिक शक्तियां उत्तरदायी थीं। उसकी मृत्यु ६५६ ईसवी में हुई। अपनी मृत्यु के पूर्व उसने **अल-तनबीह व-अल-इशराफ** नामक ग्रंथ में अपने इतिहास-दर्शन तथा प्राकृतिक जगत् के विषय में अपने विचारों को एक लिखित रूप प्रदान किया।

तबरी तथा मसूदी की रचनाओं में अरबी इतिहास-लेखन अपनी उत्कृष्टता के चरमबिन्दु को प्राप्त किया तथा मिस्कवाय (१०३०ई०) के पश्चात् इसका शीघ्रता के साथ पतन प्रारंभ हुआ। अल-अतहीर (११६०–१२३४ ई०) ने अपनी पुस्तक **अल-कामिल फि अल-तारीख (इतिवृत्तों की पूर्ण पुस्तक)** में अल-तबरी की कृति का संक्षेपन किया तथा वृत्तान्त को १२३१ ईसवी तक आगे बढ़ाया; इसमें क्रूसेड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के युग का इतिहास उसका मौलिक योगदान है; उसकी दूसरी प्रमुख पुस्तक **उस्द अल-गाबा (झाड़ी के शेर)** है जिसमें सहयोगियों की ७५०० जीवन-कथाओं का संकलन है। सिब्त इब्न-अल-जावज़ी (११८६–१२५७ ईसवी) ने सृष्टि-रचना के दिन से १२५६ ईसवी तक का सार्वभौमिक इतिहास-ग्रंथ लिखा जिसका शीर्षक **मीरत अल-जमां कि तारीख अल-अय्याम** है।

इस प्रसङ्ग में इब्न खाल्दून की चर्चा आवश्यक है। इब्न खाल्दून का जन्म १३२२ ईसवी में ट्यूनिस में हुआ था। उसके जीवन-काल में पंद्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक का अधिकांश भाग सन्निविष्ट था। उसने पश्चिमी उत्तरी अफ्रीका की तथा कुछ अंशों तक मुस्लिम अधिकृत स्पेन एवं मिश्र की तत्कालीन राजनीतिक कार्यविधियों में जम कर भाग लिया। वह इन प्रदेशों के समसामयिक इतिहास से भलीभाँति परिचित था, तथा उसे इस्लाम के प्रभुत्व के अन्तर्गत स्थित अन्य देशों की राजनीति का भी ज्ञान था। इन घटनाओं का उसके विचारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पूर्ववर्ती चार शताब्दियों की तुलना में इन घटनाओं के परिणामस्वरूप इस्लामी समाज का स्वरूप तेजी से बदल रहा था और इब्न खाल्दून ने परिवर्तन-प्रक्रिया में इन घटनाओं के स्वरूप तथा महत्त्व को समझा। भावी इतिहासकारों के लाभ के लिए इन परिस्थितियों का लेखन अपेक्षित था ताकि वे इनसे प्रकाशित होने वाले इतिहास के स्वरूप को ठीक से समझ सकें एवं बुद्धिमत्तापूर्ण व्यावहारिक कर्म में इनकी सहायता ली जा सके।

इब्न खाल्दून ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा के अन्तर्गत कुरान तथा इस्लामी परंपराओं के साथ-साथ धार्मिक विधि संग्रह एवं रहस्यवाद के विशिष्ट तत्त्वों का भी अध्ययन किया था। अपनी उच्च शिक्षा के अन्तर्गत उसने तर्कशास्त्र, गणित प्राकृतिक दर्शन एवं अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन किया; इन विज्ञानों के अध्ययन के लिए सहायक उपादान के रूप में उसने प्रासंगिक भाषाशास्त्रीय, जीवनकथा-विषय तथा ऐतिहासिक विज्ञानों का भी ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में, प्रशासन के व्यावहारिक 'कार्यव्यापारों में रुचि रखने के कारण, उसने राजकीय सेवा के अन्तर्गत भी प्रशिक्षण प्राप्त किया। प्रारंभ से इस्लामी धार्मिक चिन्तना का केन्द्र-बिन्दु समाज तथा उसकी सम्यक् व्यवस्था का प्रश्न था। कुरान तथा हदीथ के रहते हुए, समस्या यह थी कि उनमें निहित सिद्धान्तों तथा शिक्षाओं को कैसे इस्लाम के प्रसार तथा विकास से उत्पन्न नई तथा परिवर्त्तित ऐतिहासिक परिस्थितियों में व्यवहार में लाया जाय।

इब्न खाल्दून की प्रमुख कृति **किताब अल-इबर** अथवा **इतिहास** है। यहां यह द्रष्टव्य है कि वह अपनी पुस्तक के शीर्षक के लिए इतिहास के लिए सामान्यतया प्रयुक्त शब्द 'तारीख' के स्थान पर 'इबर' का चयन करता है। 'इबर' शब्द अधिक व्यापक है तथा इसके विविध आयाम हैं। अपनी पुस्तक में वह सार्वभौमिक इतिहास के संपूर्ण परिधि को सन्निविष्ट करना चाहता था, किन्तु विशेषरूपेण वह उस इतिहास का विवरण प्रदान करना चाहता था जिसका उसने स्वयं अनुभव किया था अर्थात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामान्यतया इस्लामी विश्व का एवं विशेष रूपेण इस्लामी प्रभुत्व के पश्चिमी क्षेत्र का पतन। किन्तु यदि उसका प्रयोजन मात्र इतना होता तो उसकी कृति के लिए 'तारीख' शब्द अधिक उपयुक्त होता। किन्तु, उसका प्रमुख प्रयोजन केवल इतिहास लिखना नहीं था अपितु इसके परे भी जाना था। वह इतिहास से सीखना चाहता था और इस कारण ऐतिहासिक घटनाओं के स्वरूप तथा कारणों का सम्यक् विश्लेषण, तुलना द्वारा उनमें निहित रहस्यों को समझना उसका प्रमुख प्रयोजन था। इतिहास-अध्ययन को इस रूप में लेने पर बाह्य घटनाएं उसके शोध की प्रमुख लक्ष्य नहीं थीं। वे केवल वह वस्तु सामग्री प्रदान करती थीं जिनसे उनके पीछे स्थित नियमों को व्युत्पन्न करना था। ये नियम उन घटनाओं के स्वरूप तथा कारणों को प्रदर्शित करते हुए उनकी व्याख्या प्रदान करते हैं। इस प्रकार इब्न खाल्दून द्वारा 'इबर' शब्द का प्रयोग विवेक ('नज़र') तथा बोध ('फह्म') के पर्याय के रूप में हुआ है।

इस प्रकार इब्न खाल्दून ने इतिहास का अध्ययन एक दार्शनिक प्रयोजन के लिए किया है। इस दृष्टिकोण से इतिहास का अध्ययन एवं लेखन किसी अन्य मुस्लिम इतिहासकार ने नहीं किया था। उसने पहली बार संस्कृति के विज्ञान की आवश्यकता को समझा तथा इसके लिए प्रयास किया। उसके अनुसार, 'इतिहास वस्तुतः मानव-समाज के विषय में सूचना है जो कि (अपने विविध पक्षों में) विश्व की संस्कृति है।' आगे वह कहता है कि ऐतिहासिक विवरणों में भूलें अपरिहार्य रूपेण अन्तर्भूत होती हैं और इसके लिए उसने कई कारण गिनाए हैं। उसने हदीथ तथा इतिहास में विभेद करते हुए कहा है कि हदीथ का संबंध विध्यात्मक आदेशों से है जब कि इतिहास का संबंध वास्तविक घटनाओं से होता है। ऐतिहासिक विवरण आदेश नहीं होते अपितु घटनाओं के सकारात्मक अथवा नकारात्मक वक्तव्य होते हैं। ये वक्तव्य स्वयं में सत्य अथवा मिथ्या होते हैं—यही उनकी व्याकरणीय तथा तार्किक परिभाषा है। इन वक्तव्यों की आलोचना इस प्रश्न से प्रारंभ होनी चाहिए कि क्या इस प्रकार की घटना घट सकती थी; यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि एक बार स्वयं घटना की असंभाविता प्रतिष्ठित हो जाने पर उस प्रमाण की परीक्षा ही आवश्यक नहीं रह जाती जिससे इसका विवरण प्राप्त होता है। इतिहास दो सहायक शास्त्रों की अपेक्षा रखता है : संस्कृति का शास्त्र अथवा विज्ञान जो ऐतिहासिक घटनाओं की स्वरूप-चर्चा से संबद्ध होता है, तथा प्रमाण-समीक्षा जो इस प्रकार की घटनाओं की सूचना देने वाले प्रमाणों की क्षमता, ज्ञान तथा प्रयोजनों से संबद्ध होता है। संस्कृति का शास्त्र अथवा विज्ञान इतिहास का एक प्रमुख उपादान है, किन्तु अन्ततः वह इतिहास का एक उपादान ही होता है। इतिहास के विषय में यह उसका निष्कर्ष है। इतिहास के सम्यक् अवबोध के लिए संस्कृति का विज्ञान आवश्यक है; उसने प्रतिनिधि दृष्टान्तों की परीक्षा के उपरान्त यह दिखाया है कि उसक पूर्व किसी भी इतिहासकार ने इसका प्रयोग नहीं किया। उसके अनुसार, संस्कृति कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है अपितु एक अन्य तत्व—जो कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनुष्य है—का धर्म है। अतएव संस्कृति का सहज स्वरूप मनुष्य के स्वभाव—अर्थात् वह तत्वविशेष जो उसे शेष प्राणियों से पृथक् करता है—से संबद्ध होगा। बुद्धि के कारण वह अन्य प्राणियों से विशिष्ट है; बुद्धि के कार्य व्यापार के दो आयाम हैं : सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक; बुद्धि का व्यावहारिक पक्ष पहले उद्भूत होता है तथा मनुष्य के सभी कार्य व्यापारों—जिनसे कि संस्कृति बनती है—का स्रोत होता है। आगे वह संस्कृति के विविध प्रकारों, स्वरूपों तथा पक्षों पर विस्तार से विचार करता है।

इतिहास वास्तविक अस्तित्व के स्वरूप तथा कारणों से संवद्ध होता है; कारणों के सामान्य स्वरूप में उसकी रुचि नहीं होती। संस्कृति का विज्ञान—जैसा कि इसकी परिभाषा से स्पष्ट होगा—एक विज्ञान के रूप में वास्तविक ऐतिहासिक अस्तित्व से संबद्ध न हो कर यथार्थ तथा संभावित अस्तित्व से संवद्ध होता है तथा इसका लक्ष्य विशिष्ट घटनाओं का ज्ञान न होकर उनमें तथा उनके सदृश घटनाओं में निहित सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। यह ऐतिहासिक घटनाओं के एक वर्ग का अध्ययन करता है जिसका प्रयोजन होता है उनके विषय में सार्वभौमिक नियम ढूंढ़ना तथा बनाना और चूंकि आकस्मिक तथा यादृच्छिक घटनाओं के विषय में इस प्रकार के सार्वभौमिक नियम नहीं बनाए जा सकते अतः संस्कृति का विज्ञान ऐसी घटनाओं में रुचि नहीं रखता। संस्कृति के विज्ञान की वस्तुसामग्री इतिहास से निगमित होती है। ज्ञान के क्रम में यह इतिहास के बाद आता है तथा इसका प्रमुख कार्य ऐतिहासिक विवरणों के शोधन में सहायता करना है। इतिहास की कला का अन्तिम लक्ष्य व्यावहारिक कार्यव्यापार अथवा करणीय वस्तुओं का परिष्कार है और इस प्रकार संस्कृति के विज्ञान का भी अन्तिम लक्ष्य व्यावहारिक कार्य व्यापार भी है। यह स्पष्ट है कि यदि संस्कृति के विज्ञान को इतिहास की कला के एक उपयुक्त उपादान के रूप में कार्य करना है तो इसे ऐतिहासिक घटनाओं के स्वरूप तथा कारणों एवं उनके परिवर्तन में निहित सिद्धान्तों के ठीक ज्ञान को प्राप्त करना होगा; एवं इन्हें विशुद्धरूपेण समझने के लिए यह आवश्यक है कि मानव स्वभाव को एक स्वतंत्र सैद्धान्तिक गवेषणा का विषय बनाया जाय। उसका विचार है कि मनुष्य तथा उसके कर्मों के नश्वर होने पर भी इनसे संबद्ध विज्ञान का एक विशेष रूप में लाभ हो सकता है।

सहायक पुस्तकें :

१. फ्रैंज़ रोजेन्थल, **ए हिस्टरी आफ़ मुस्लिम हिस्टोरियोग्रैफी** लीडेन, १९५२।

२. विल्फ्रेड कान्टवेल स्मिथ, **इस्लाम इन माडर्न हिस्टरी**, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७।

३. एच० ए० आर० गिब, 'तारीख' **इनसाइक्लोपीडिया आफ़ इस्लाम** (सप्लीमेंट) लीडेन, १९३८।

४. फिलिप के० हिट्टी, **हिस्टरी आफ़ दी अरब्स**, लन्दन, १९३७।

५. मुहसिन माहदी, **इब्न खाल्दून्स फिलासफी आफ़ हिस्टरी** लन्दन, १९५७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१०

इतिहास का स्वरूप--विवेचन*

एक विषय के रूप में इतिहास का अध्ययन कुछ मूलभूत प्रश्नों पर विचार की अपेक्षा रखता है, और इन प्रश्नों के उत्तर ही अध्येता की इतिहास–विषयक अवधारणा का निर्धारण करते हैं। क्या अतीत का यथातथ्य निरूपण संभव है? क्या कभी भी इसका विस्मरण हो सकता है? क्या इतिहास एक स्वतन्त्र विषय है? इतिहास का अर्थ कहाँ निहित है और इसे कैसे ढूंढ़ा जा सकता है? हमारे लिए इतिहास का क्या मूल्य है? इसी प्रकार के कुछ प्रश्न हैं। प्रस्तुत पुस्तक विविध विद्वानों द्वारा लिखे गए महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है जिनमें इतिहास विषयक इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के पाँच प्रमुख विभाजन हैं, जिनके अन्तर्गत इतिहास–अध्ययन के विविध पक्षों की चर्चा अभिप्रेत है। प्रत्येक विभाजन के प्रारम्भ में श्री मारजक ने संक्षिप्त भूमिका दी है जो, उनके अनुसार, "इतिहास–दर्शन के विषय में मेरे अपने विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

प्रथम विभाजन का शीर्षक है "मानव–स्वरूप तथा इतिहास का अध्ययन" जिसके अन्तर्गत संग्रहकर्ता ने तीन लेखों का चयन किया है (वेनेदेत्तो क्रोचे, 'इतिहास तथा इतिवृत्त', जोसे आरतेगा ई गैसे, 'इतिहास शास्त्र' तथा आर० जी० कालिंगवुड 'इतिहास की अवधारणा')।

दूसरे विभाजन का शीर्षक है, 'ऐतिहासिक अन्वेषण की विधाएं' जिसमें चार लेखों का चयन किया गया है (एलन बुलक 'इतिहासकार का उद्देश्य तथा तत्वभूमिक इतिहास', हेनरी पाइरेन 'इतिहासकार क्या करने का प्रयास कर रहे हैं?' कार्ल बेकर 'ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं?' तथा इसाइया र्बालिन 'वैज्ञानिक इतिहास की अवधारणा')।

तीसरे तथा चौथे विभाजनों ('इतिहास का अर्थ १' तथा 'इतिहास का अर्थ २') में प्रत्येक में तीन लेखों का चयन हुआ है। तृतीय विभाजन के लेख हैं: जी० डब्लू० एफ़० हेगेल 'इतिहास में विवेक', इसाइया बरलिन 'कण्ठमूषक तथा लोमड़ी', ई० एच० कार 'इतिहास क्या है?' तथा चौथे विभाजन के लेख हैं: राइन

---

* लीओनार्ड एम० मारजक, **द नेचर आफ हिस्टोरिकल इन्क्वायरी** (हाल्ट, राइनहार्ट एण्ड विन्स्टन, १९७०) पृ० संख्या रोमन ८+१८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होल्ड नेबूर 'श्रद्धा तथा इतिहास', आरनोल्ड टायनबी 'विश्व तथा पश्चिम', पीटर गेल 'इतिहासकारों के साथ परिसंवाद'।

नैतिकता तथा इतिहास शीर्षक पाँचवें एवं अन्तिम विभाजन में इतिहास-विषय में सन्निविष्ट नैतिक समस्याओं पर विचार किया गया है। संगृहीत लेख हैं: कार्ल आर० पापर 'क्या इतिहास में कोई अर्थ है?', इसाइया बरलिन 'ऐतिहासिक अवश्यम्भाविता' तथा जैकब वर्कहार्ट 'इतिहास में भाग्य तथा दुर्भाग्य'।

१. मानव-स्वरूप तथा इतिहास का अध्ययन

[इस विभाजन की अपनी भूमिका में मारजक ने इन लेखों की पृष्ठभूमि में इतिहास के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इतिहास, जैसा कि क्रोचे का आग्रह है, केवल इतिवृत्त नहीं है तथा विशुद्ध इतिहास के लिए यह एक अनिवार्य अपेक्षा है कि उसकी वर्तमानकालिक उपयोगिता हो। इतिहास हमें स्वयं को समझने में सहायता प्रदान करता है। ऐतिहासिक अध्ययन वस्तुतः आत्मगवेषण की प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप अधिगत आत्म-बोध की सहायता से मनुष्य अपने वर्तमान-कालिक जीवन को सुचारुरूपेण नियंत्रित कर सकता है। वर्तमान अतीत से सर्वथा भिन्न नहीं है, क्योंकि अतीत का भार जाने अथवा अनजाने सदैव ही हमारे साथ होता है। कालिंगवुड के अनुसार, इतिहास को वस्तुतः एक चिन्तन–विधा के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए। सभी इतिहास विचार का इतिहास है, और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह तथ्य है कि प्रत्येक विचार स्वरूपतः ऐतिहासिक होता है। साथ ही इतिहास एक आत्मशासित शिक्षण–शाखा है जिसकी अपनी विशिष्ट प्रकार की ज्ञान-मीमांसीय समस्याएं होती हैं।]

बेनेदेत्तो क्रोचे : 'इतिहास तथा इतिवृत्त'

[क्रोचे इटली में उत्पन्न हुआ था। इतिहास के सिद्धान्त के ऊपर इस इतालवी विद्वान् ने अपना प्रथम लेख १८९३ में लिखा जब उसकी आयु केवल २७ वर्ष थी; किन्तु, इस आयु में ही उसकी प्रतिष्ठा एक कुशल इतिहासकार के रूप में स्थापित हो चुकी थी। इस लेख का शीर्षक था 'इतिहास का कला की अवधारणा के अन्तर्गत प्रतिष्ठापन'। इस लेख के प्रकाशन के पूर्व इस समस्या पर विशेषरूपेण जर्मनी में विचार किया जा चुका था कि इतिहास विज्ञान है अथवा कला, एवं अधि-कांशतः उत्तर इसे विज्ञान मानने के पक्ष में थे। क्रोचे ने इस लेख में पहले कला की अवधारणा को स्पष्ट किया और फिर यह आग्रह किया कि वस्तुतः इतिहास कला है, किन्तु एक विशेष प्रकार की कला। कलाकार के समान इतिहासकार भी देखी हुई बात का विवेचन करता है, किन्तु इससे आगे बढ़कर इतिहासकार स्वयं को यह विश्वास भी दिलाता है कि जो वह देख रहा है वह सच है। **इतिहास : इसका सिद्धान्त तथा व्यवहार** क्रोचे की प्रमुख कृति है।

क्रोचे के इतिहास-दर्शन को कुछ विद्वान् 'आदर्शवादी इतिहास-दर्शन' की संज्ञा प्रदान करते हैं (द्र० वाल्श, **एन इन्ट्रोडक्सन टु द फिलासफी आफ हिस्टरी,**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लंदन १९५८, पृ० १३, ४२, ५६) । इसका प्रमुख कारण यह है कि उसकी प्रमुख कृति में हीगल तथा अंग्रेज आदर्शवादियों (जैसे बोसांके तथा ब्रैडले) के सिद्धान्तों के साथ पर्याप्त समानताएँ मिलती हैं । उदाहरणार्थ, क्रोचे के अनुसार, प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को एक विकासशील प्रक्रिया के अंग के रूप में ही समझा जा सकता है, तथा यह कि कोई भी घटना तभी समझी जा सकती है जबकि सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझ लिया जाय । हीगल के द्वन्द्ववाद के भी उद्धरण इस कृति में प्राप्य हैं ।

क्रोचे ने विज्ञान तथा दर्शन दोनों के विरोध में इतिहास की स्वायत्तता पर बल दिया जिसे, उसके अनुसार, अपना दायित्व-निर्वाह अपने विशेष ढंग में करने का अधिकार है । 'इतिहासवाद' (इतिहास का शास्त्र) उसके अनुसार इस तथ्य का स्वीकरण है कि जीवन तथा यथार्थ इतिहास से अभिन्न है; यथार्थ को उपरि-इतिहास तथा इतिहास, अर्थात् विचारों एवं मूल्यों के जगत् तथा उनका प्रकाशन करने वाले नीचस्थ जगत्, में विभक्त नहीं किया जा सकता; उसका आशय यह है कि घटनाएँ तथा विचार सभी इतिहास-प्रवाह के अंग हैं । प्रस्तुत लेख की प्रमुख विषय-वस्तु यह है कि वर्तमानकालीन जीवन से संबद्ध होने के कारण इतिहास सदैव समसामयिक होता है एवं समसामयिकता की यह विशिष्टता ही उसे इतिवृत्त से पृथक करती है]

'समसामयिक इतिहास' को अनतिदूर अतीत के रूप में देखे जाने वाले कालान्तराल का इतिहास कहा जा सकता है—यह कालान्तराल पिछले पचास वर्षों, एक दशक, एक वर्ष, एक मास, एक दिन अथवा पिछले एक घंटे अथवा एक क्षण का भी हो सकता है । किन्तु, उपयुक्ततः केवल उसी इतिहास को 'समसामयिक' शब्द से विशेषित किया जा सकता है जो विवेचनीय कार्य के तुरन्त पश्चात् अस्तित्व में आए, तथा जिसमें उस कार्य की चेतना विद्यमान हो । इसके विपरीत, 'अतीतकालिक इतिहास' वह है जो पहले से ही स्थित इतिहास के संदर्भ में उपस्थित होता है, और, इस प्रकार, उस इतिहास की समीक्षा के रूप में अस्तित्व में आता है—चाहे वह इतिहास एक हजार वर्षों पुराना हो अथवा केवल एक घंटा पुराना हो ।

किन्तु, निकट से देखने पर वह इतिहास भी जिसे हम 'अ-समसामयिक' अथवा 'अतीतकालिक' कहते हैं—यदि वस्तुतः यह शुद्ध अर्थ में इतिहास है तो—समसामयिक होता है, तथा, इस प्रकार, तथाकथित समसामयिक इतिहास से भिन्न नहीं होता । अतीतकालिक इतिहास के अस्तित्व की भी यह पहली अपेक्षा है कि इसमें कथ्य कार्यव्यापार इतिहासकार के चित्त को उद्वेलित करता हो । तथाकथित समसामयिक इतिहास के समान वह इतिहास भी सजीव होता है क्योंकि यह एक स्पष्ट तथ्य है कि केवल वर्तमानकालिक जीवन में अभिरुचि ही अतीत के अनुसंधान के लिए प्रेरित करती है । और इस कारण अतीतकालिक तथ्य—जहाँ तक कि यह वर्तमानकालिक जीवन के हितों के साथ संयुक्त होता है—वस्तुतः अतीत के कौतूहलों अथवा स्वार्थों का नहीं अपितु वर्तमानकालिक जीवन के कौतूहलों अथवा स्वार्थों का समाधान प्रस्तुत करता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक विशुद्ध इतिहास समसामयिक होता है। किसी भी अतीतकालिक घटना-व्यापार का इतिहास केवल इसके विवरण के रूप में हमारे लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता—उदाहरण के लिए, पेलोपोनेशियन युद्ध, मेक्सिको की कला अथवा अरबी दर्शन का विवरण प्रदान करने वाले इतिहास में वर्तमान की क्या अभिरुचि हो सकती है ? यदि वर्तमान को इसमें कोई अभिरुचि नहीं है, तो इनमें से कोई भी विवरण इतिहास नहीं रह जाता। किन्तु, इनमें से प्रत्येक उस क्षण इतिहास का स्वरूप धारण कर लेगा जबकि वर्तमान में हम अपनी आत्मिक आवश्यकताओं के अनुरूप उनका पुनर्विस्तरण करेंगे। जब हम अतीत के किसी पक्षविशेष के विषय में जिज्ञासापूर्ण अनुसंधान कार्य प्रारम्भ करते हैं तब यह हमारे व्यक्तित्व के साथ उतने ही घनिष्ट रूप में जुटा रहता है जितना कि हमारे वर्तमानकालिक अस्तित्व के प्रपंच। वस्तुतः, इतिहास जीवन्त इतिवृत्त होता है, इतिवृत्त मृत इतिहास, इतिहास समसामयिक इतिहास होता है, इतिवृत्त अतीतकालिक इतिहास।

[क्रोचे के अनुसार, वर्तमानकालिक जीवन में अभिरुचि ही किसी को अतीत का अन्वेषण करने को प्रेरित कर सकती है। किन्तु इन अभिरुचियों की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण होती है। वे न केवल इसका निर्धारण करती हैंकि इतिहासकार अतीत के किन अंशों को लेता है और किनका त्याग करता है प्रत्युत् वे अतीत के उन अंशों की व्याख्याओं का भी निर्धारण करती हैं। क्रोचे इन दोनों बातों में विश्वास करता प्रतीत होता है; वह हीगल के इस मत से सहमत दिखाई पड़ता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में चेतना ही गतिमान तत्त्व है। किन्तु क्रोचे इस सिद्धान्त को जो अर्थ प्रदान करता है, वह हीगल से सर्वथा भिन्न है। हीगल के अनुसार, चेतना इस अर्थ में इतिहास का कारण है क्योंकि यह ऐतिहासिक घटनाओं का कारण है। क्रोचे का विश्वास है कि चेतना इस अर्थ में इतिहास का कारण है कि यह ऐतिहासिक विवरणों की रचना में अत्यधिक प्रभविष्णु घटक होती है। द्र० जैक डब्लू मैलेन्ड, **स्केप्टिसिज्म एण्ड हिस्टारिकल नालेज, न्यूयार्क** १९६५, पृष्ठ १८–१९]

इस प्रकार समसामयिकता इतिहास के किसी एक वर्ग का नहीं अपितु सभी इतिहास का एक आवश्यक लक्षण है। साथ ही इतिहास तथा जीवन का संबंध एकात्मकता का है — दुर्बोध अभिन्नता के अर्थ में नहीं अपितु संश्लेषणात्मक एकात्मकता के अर्थ में जो शब्दों के विभेद तथा एकता दोनों को उपलक्षित करती है। इस प्रकार, प्रमाणविहीन इतिहास की चर्चा सर्वथा निरर्थक होगी, ठीक उसी प्रकार जैसेकि किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व की चर्चा जिसके लिए यह भी कहा जाय कि इसके अस्तित्व की अनिवार्य अपेक्षाओं में से कोई एक अविद्यमान है। प्रमाण से असंबद्ध इतिहास परीक्षणसिद्ध नहीं रह जाता; और चूँकि इतिहास की सत्यता इसकी परीक्षणसिद्धता में निहित होती है, अतएव इस प्रकार का इतिहास इतिहास के रूप में नहीं प्रतिष्ठित हो सकता। उदाहरणार्थ, दार्शनिकों की रचनाओं अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनकी रचनाओं के अंशों के सर्वथा अभाव में दर्शन का इतिहास कैसे लिखा जा सकता है ?

दूसरी ओर, इतिहास में जीवन तथा विचार के बीच स्थित अच्छेद्य संबंध के सिद्ध होते ही इतिहास की निश्चितता तथा उपयोगिता पर उठायी गई शंकाएं तत्क्षण अन्तर्धान हो जाती हैं। वह जो हमारी चेतना का वर्तमानकालिक उत्पाद है कभी भी अनिश्चित कैसे हो सकता है ? जीवन के अन्तर्तल के उत्पन्न समस्या का समाधान प्रस्तुत करने वाला ज्ञान निरर्थक कैसे हो सकता है ?

(क्रोचे के इतिहास-दर्शन पर विस्तृत विवेचन के लिए, द्र० कालिंगवुड, **दी आइडिया आफ हिस्टरी**, आक्सफर्ड १९४६, पृष्ठ १९०–२०४ ; ए० एल० राउज **दी यूज आफ हिस्टरी**, पेलिकन बुक्स, १९७१ पृ० १०३–१०७; वाल्श, **ऐन इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी आफ हिस्टरी**, लंदन १९६७ पृ० ३३–३४)

जोसे आरतेगा ई गैसे : 'इतिहास-शास्त्र'

मनुष्य का कोई स्वभाव नहीं होता है, उसका इतिहास होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार वस्तुएं अपने स्वभाव से विशेषित होती हैं, मनुष्य उसी प्रकार इतिहास से। मनुष्य ने जो किया है उसके अतिरिक्त अथवा उससे भिन्न उसका कोई स्वभाव नहीं होता।

यह एक अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति है कि 'इतिहासवाद' की इस कारण भर्त्सना की जाती है कि यह हमारे अन्दर यह भावना उत्पन्न करता है कि मनुष्य-जीवन परिवर्तनशीलता से युक्त है और उसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। मानों जड़ वस्तु-उदाहरण के लिए पत्थर-परिवर्तनशील वस्तु की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हो ! परिवर्तनशीलता विकास का लक्षण है और मनुष्य इस अर्थ में निरन्तर विकासशील है। विकास के संबंध में त्रुटिपूर्ण धारणा इस पूर्व अभिनिश्चयन में निहित थी कि मनुष्य श्रेष्ठतर स्थिति की दिशा में विकास कर रहा है। इसका निश्चयन बाद में ठोस ऐतिहासिक तर्क-बुद्धि द्वारा ही संभव है। किन्तु इस बात का पूर्ण अभिनिश्चयन किया जा सकता है कि मानव-जीवन का विकासशील स्वभाव है। वही ज्ञान जो हमारे लिए मानव-जीवन के उतार चढ़ाव को प्रकाशित करता है, उसकी निरन्तर विकासशीलता को भी प्रतिष्ठापित करता है। आज का योरोपीय जो वह पचास वर्ष पूर्व था न केवल उससे भिन्न है, उसका अस्तित्व उन पचास वर्षों को भी सन्निविष्ट करता है।

मानव जीवन की अस्थिरता पर शोक करने का कोई कारण नहीं है; यह हमारे लिए एक विशेष लाभ है। प्रगति तभी संभव है जब आज का हमारा अस्तित्व कल के हमारे अस्तित्व से सर्वथा संयुक्त न हो। किन्तु, केवल यह पर्याप्त नहीं है : केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य स्वयं को अपने पूर्वकालिक अस्तित्व से मुक्त कर सके और नया स्वरूप धारण करे। प्रगति की यह अपेक्षा है कि नया स्वरूप पुराने के ऊपर उठे और इस उद्देश्य से इसे सुरक्षित रखे। प्रगति करने का अर्थ है अनुभवों का संग्रह करना, सत्यता को संजोना। विकासवादी सिद्धान्त की संभावना जो भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हाँ, यह कहा जा सकता है कि आज के चीते में तथा एक हजार वर्ष पूर्व के चीते में कोई अन्तर नहीं है : जब से यह चीता बना तब से यह वह प्रथम बार अस्तित्व में आया चीता ही रहा है। किन्तु मनुष्य मानवीयता को किसी एक समय से प्रारम्भ नहीं मानता। मनुष्य जन्म लेते ही स्वयं को एक 'परिवेश विशेष' में, अन्य मनुष्यों और उनसे निर्मित समाज के बीच पाता है। और इस कारण उसकी अपनी मानवीयता में, जो उसमें विकसित होना प्रारम्भ करती है, अन्य मानवीयता जुटती जाती है। चीते के समान वह सदैव शून्य से प्रारम्भ नहीं करता अपितु एक निश्चित पूर्व-अधिगत परिमाण से प्रारम्भ करता है जिसमें वह स्वयं अपने विकास का योगदान करता है। मनुष्य सदैव आदि मानव नहीं होता : यथानियम वह दूसरा मनुष्य, तीसरा मनुष्य, इत्यादि होता है।

मनुष्य स्वयं अपने ऊपर विचार करे तथा यह जिज्ञासा करे कि वह ऐसा ही क्यों है अन्यथा क्यों नहीं तो वह देखेगा कि वह ऐसा इसलिए है क्योंकि, अन्ततः समाज—'सामूहिक मनुष्य'—जिसमें वह रहता है वह इस प्रकार का है। और, इसके बदले में समाज की जीवन-विधि स्वतः प्रकाशित हो जाएगी जैसे ही यह ज्ञात होगा कि पूर्ववर्ती अवस्था में यह समाज कैसा था, इसके विश्वास, इसकी अनुभूतियां अथवा इसके मूल्य क्या थे। इतिहास एक शास्त्र है—तथा एक अपरिवर्तनीय शृंखला में संबद्ध मानव अनुभवों का शास्त्र। अतएव, इतिहास में सभी कुछ स्पष्ट हुए बिना कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। हम 'तर्क बुद्धि प्रधान' योरोपीय को तबतक नहीं समझ सकते जबतक कि यह न समझ लिया जाय कि ईसाई होने का क्या अर्थ था और ईसाई मत के इस तथ्य को समझने के लिए स्टोइक होने के अर्थ का अभिज्ञान आवश्यक है : और इस प्रकार यह प्रक्रिया बढ़ती जाती है।

इतिहास मेरे जीवन का सुव्यवस्थित विज्ञान है और इस कारण यह वर्त्तमान का विज्ञान है। अतीत कहीं पर नहीं स्थित है, वह मेरे अन्दर ही है। अतीत 'मैं' हूँ—'मैं' से अर्थ 'मेरा जीवन' है।

आर० जी० कालिंगवुड : इतिहास की अवधारणा

[**इतिहास की अवधारणा** वस्तुतः कालिंगवुड की पुस्तक का नाम है; उसने पुस्तक की योजना पहले ही बना ली थी किन्तु इसका प्रकाशन (१९४५) उसकी मृत्यु के पश्चात् ही संभव हो सका। कालिंगवुड के इतिहास-दर्शन की प्रायः क्रोचे के इतिहास-दर्शन से तुलना की जाती है। दोनों में काफी समानताएं मिलती हैं और कुछ लोगों ने कालिंगवुड को क्रोचे का शिष्य तक बताया है। दोनों व्यक्तियों के दार्शनिक विकास में पर्याप्त सदृशता है : दोनों में ही अपनी कलात्मक तथा ऐतिहासिक अभिरुचियों के कारण उस समय पढ़ाए जाने वाले दर्शन से असंतोष उत्पन्न हुआ; दोनों ही हीगल का स्वयं अध्ययन कर इतिहास में मौलिक लेखन को तत्पर हुए; एवं, दोनों ने ही एक प्रकार के आदर्शवाद तथा दर्शन एवं इतिहास की अभिन्नता का प्रतिपादन किया। किन्तु, जैसा कि नाक्स ने कालिंगवुड की पुस्तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अपने प्राक्कथन में लिखा है, यद्यपि कालिंगवुड ने क्रोचे से सौंदर्य शास्त्र के क्षेत्र में बहुत कुछ एवं इतिहास के क्षेत्र में कुछ सीखा था, किन्तु उसके निष्कर्ष प्रमुखत: स्वतंत्ररूपेण अधिगत थे एवं क्रोचे की अपेक्षा वे अधिक विस्तारपूर्ण तथा समीक्षात्मक ढंग से प्रतिपादित किए गए हैं । स्वयं कालिंगवुड का कहना था कि उसका प्रिय दार्शनिक प्लेटो था एवं विको ने उसे किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया था; तथा यद्यपि अपने अन्तिम दिनों में उसने क्रोचे के सदृश आदर्शवाद का प्रतिपादन किया, अपने प्रारंभिक दिनों में उसने क्रोचे की गंभीर आलोचना की थी और अपने लिए स्वतंत्र दर्शन की रचना में तत्पर हुआ था ।

कालिंगवुड के मतानुसार, इतिहास-दर्शन न तो 'ऐकान्तिकरूपेण अतीत' से और न ही 'ऐकान्तिकरूपेण इतिहासकार के चिन्तन' से संबद्ध है अपितु यह 'अपने पारस्परिक संबंधों में दोनों से' ही संबद्ध है । 'जिस अतीत का इतिहासकार अध्ययन करता है वह मृत्त अतीत नहीं है अपितु ऐसा अतीत है जो कुछ अर्थों में वर्तमान में विद्यमान होता है ।' किन्तु, यदि इतिहासकार अतीतकालिक घटना के पीछे स्थित विचार को नहीं समझ सकता तो वह अतीतकालिक घटना उसके लिए मृत अर्थात् निरर्थक होती है; और इस प्रकार, सभी इतिहास विचार का इतिहास होता है । कालिंगवुड का मत इस पर बल देता प्रतीत होता है कि इतिहासकार को अपने तथ्य विशुद्ध तथ्य के रूप में नहीं प्राप्त होते हैं, अपितु स्वयं तथ्यों का प्रतिष्ठापन इतिहासकार द्वारा होता है । इतिहास में व्याख्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है और इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य व्युत्पादित तथ्य होते हैं । अतीत को वर्त्तमान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है ।]

इतिहास का प्रयोजन आत्म-ज्ञान की प्राप्ति है । यह सामान्यतया महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि मनुष्य स्वयं को जाने और इस जानने का अर्थ केवल अपनी अन्य व्यक्तियों से पृथक् व्यक्तिगत विशिष्टताओं को जानना नहीं अपितु मनुष्य के रूप में अपने स्वभाव को जानना है । अपने को जानने का अर्थ है कि हम क्या कर सकते हैं और चूंकि बिना प्रयास किए कोई भी यह नहीं बता सकता कि वह क्या कर सकता है, मनुष्य क्या कर सकता है इस विषय में एकमात्र सूत्र यह है कि उसने क्या किया है । इतिहास का मूल्य उससे प्राप्य इस शिक्षा में निहित है कि मनुष्य ने क्या किया है और इस प्रकार इसमें कि मनुष्य क्या है ।

प्राकृतिक प्रक्रिया को केवल घटनाओं के अनुक्रम के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है । इसके विपरीत, ऐतिहासिक प्रक्रिया केवल घटनाओं की प्रक्रिया नहीं होती; यह कार्यों की प्रक्रिया होती है जिनका विचार-प्रक्रियाओं से निर्मित एक आभ्यन्तर पक्ष होता है; और इतिहासकार इन विचार-प्रक्रियाओं को ढूँढता है । सभी इतिहास विचार का इतिहास होता है ।........इतिहासकार अतीत का पुनर्विधायन करता है, किन्तु यह पुनर्विधायन उसके अपने ज्ञान के संदर्भ में होता है और इस कारण इसका पुनर्विधायन करते हुए वह इसकी समीक्षा करता है एवं इसके मूल्य के प्रति अपना निर्णय बताता है और इसमें दिखाई पड़ने वाली त्रुटियों का शोधन भी करता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐतिहासिक ज्ञान इसका ज्ञान है कि मन ने अतीत में क्या किया है और इसके साथ ही इस अतीत को फिर से क्रियान्वित करना है, अर्थात् वर्त्तमान में अतीत का सातत्य है। इस प्रकार इसका विषय कोई बाह्य स्थित वस्तु नहीं है, अपितु यह विचार का एक कार्य-व्यापार है। इतिहासकार के लिए अध्येय कार्य-व्यापार केवल दर्शनीय वस्तु नहीं होते अपितु वे अनुभव होते हैं जिनकी वह अपने मन में अनुभूति करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक गवेषणा इतिहासकार को उसके अपने मन की शक्तियों से परिचित कराती है।

ऐतिहासिक ज्ञान केवल सुदूर अतीत से ही संबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार ऐतिहासिक चिन्तन द्वारा हम किसी अतीतकालिक व्यक्तित्व के विषय में पुनर्चिन्तन करते हैं और इस प्रकार उसे जानते हैं, उसी प्रकार किसी अपने मित्र को। यह भी आवश्यक नहीं है कि इतिहासकार का विषय उससे भिन्न ही हो। ऐतिहासिक चिन्तन के द्वारा ही हम अपने अतीत को जानते हैं। इस प्रकार मन का सभी ज्ञान स्वरूपतः ऐतिहासिक होता है।····इस प्रकार सिद्धान्ततः समस्त प्रत्यक्ष जगत् इतिहासकार के लिए साक्ष्य-स्वरूप है। हमारे अन्दर ऐतिहासिक ज्ञान जितना ही अधिक है, किसी प्रदत्त साक्ष्य से हम उतना ही अधिक सीख सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर ही कोई साक्ष्य बनता है।

ऐतिहासिक चिन्तन कल्पना का वह कार्य व्यापार है जिसके द्वारा हम इस साध्य भावना को विस्तृत प्रसंग प्रदान करने का प्रयास करते हैं। और यह हम वर्त्तमान का इसके अपने अतीत के साक्ष्य के रूप में उपयोग करते हुए करते हैं। सिद्धान्त में ऐसे किसी कार्य का उद्देश्य प्रत्यक्ष वर्तमान के साक्ष्य के आधार पर सम्पूर्ण अतीत को जानना होगा। किन्तु, व्यवहार से यह लक्ष्य कभी भी नहीं उपलब्ध हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान को कभी भी इसकी समष्टि में नहीं देखा जा सकता और न ही अतीत की अनन्त प्रक्रिया को इसकी संपूर्णता में आँका जा सकता है। किन्तु सिद्धान्ततः इस आदर्श लक्ष्य तथा व्यवहारतः प्राप्य वस्तु का यह विभेद मनुष्य की स्थिति में ही है, यह ऐतिहासिक चिन्तन की विशिष्टता नहीं है।

इतिहास में कोई भी उपलब्धि अंतिम नहीं होती। किसी भी प्रदत्त समस्या के प्रति उपलब्ध साक्ष्य ऐतिहासिक विधा में परिवर्तन के साथ तथा इतिहासकारों की क्षमता में परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के कारण प्रत्येक पीढ़ी को अपने इतिहास का पुनर्लेखन करना चाहिए। प्रत्येक नए इतिहासकार को चाहिए कि वह पुराने प्रश्नों के केवल नए उत्तर प्रदान करके संतुष्ट न होकर उन प्रश्नों का पुनर्निरीक्षण करे। केवल एक इतिहासकार ही किसी एक प्रश्न पर लम्बे समय तक विचार करते हुए जब किसी पुराने प्रश्न को पुनः उठाता है तो पाता है कि प्रश्न बदल गया है। इतिहासकार को ऐतिहासिक सत्य का मानदण्ड कहीं बाहर से नहीं मिलता, यह मानदण्ड स्वयं इतिहास की अवधारणा होती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है : अतीत के एक काल्पनिक चित्र की अवधारणा । यह एक ऐसी अवधारणा होती है जिसके ठीक अनुरूप अनुभव का कोई भी तथ्य नहीं होता । कोई भी इतिहासकार कितने ही दीर्घकाल तक तथा लगन से कार्य क्यों न करे, वह यह कभी भी नहीं कह सकता कि इस विषय पर उसका कार्य अंतिम है । वह कभी भी यह नहीं कह सकता कि अतीत का उसका चित्रण, किसी भी बिन्दु पर, इसे क्या होना चाहिए उसकी इस भावना के उपयुक्त है । किन्तु उसकी कृति के निष्कर्ष कितने भी आंशिक एवं त्रुटिपूर्ण हों, इसके पीछे काम कर रही भावना स्पष्ट, तर्कशील तथा सार्वत्रिक होती है ।

इतिहास विज्ञान है, किन्तु यह एक विशेष प्रकार का विज्ञान है । यह एक ऐसा विज्ञान है जो ऐसी घटनाओं का अध्ययन करता है जो हमें प्रत्यक्षतः नहीं प्राप्य है अपितु जिन्हें प्रत्यक्षतः प्राप्य वस्तुओं के आधार पर—जिन्हें इतिहासकार साक्ष्य कहता है—अनुमानात्मक ढंग से जाना जाता है ।

फ्रैंसिस बेकन ने अपने एक अविस्मरणीय वाक्य में यह कहा है कि भौतिक वैज्ञानिक को प्रकृति से प्रश्न करना चाहिए । इससे उसका अभिप्राय यह था कि भौतिक वैज्ञानिक का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण केवल आदर पूर्ण सावधानी का नहीं होना चाहिए : एक ओर तो उसे यह निश्चित करना चाहिए कि वह क्या जानना चाहता है तथा वह इसे एक प्रश्न का जामा पहनावे एवं, दूसरे चरण के रूप में, उसे चाहिए कि वह ऐसे उपादानों का प्रयोग करे जिससे प्रकृति उसके प्रश्नों का उत्तर देने को विवश हो जाय । यही विधा सही ऐतिहासिक विधा भी है । सामान्यतया इतिहास को पूर्व—प्राप्त सामग्री का विवरण समझा जाता है । अ-वैज्ञानिक इतिहासकार का अपने साक्ष्यों के प्रति दृष्टिकोण केवल आदरपूर्ण सावधानी का होता है; वह केवल यह सुनने की प्रतीक्षा करता है जो ये साक्ष्य उसे अपने ढंग से और अपने समय के संदर्भ में—बताना चाहते हैं । निस्संदेह वैज्ञानिक इतिहासकार भी उन्हीं पुस्तकों—हेरोडोटस, थ्यूसीडायडीज, लिवी, टेसीटस इत्यादि-का अध्ययन करता है किन्तु वह इनका अध्ययन सर्वथा भिन्न भावना से करता है । अ-वैज्ञानिक इतिहासकार की केवल ग्रहणकारी भावना होती है जबकि वैज्ञानिक इतिहासकार इनका अध्ययन अपने मन में एक प्रश्न रखते हुए करता है, वह यह निश्चित करके इस अध्ययन में प्रवृत्त होता है कि इनसे वह क्या जानना चाहता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैज्ञानिक इतिहास में कोई पूर्व स्थित अभिकथन नहीं होता । वैज्ञानिक इतिहासकार इन अभिकथनों को अभिकथनों के रूप में नहीं अपितु साक्ष्य के रूप में लेता है; यह इन्हें उन तथ्यों, जिनका कि यह विवरण होने का दावा करते हैं, के मिथ्या अथवा सत्य विवरण के रूप में न लेकर अन्य तथ्यों के रूप में लेता है जो—यदि वह इनके प्रति सही प्रश्न पूछना जानता है—उन तथ्यों के ऊपर प्रकाश डाल सकते हैं ।

तब, चिन्तन-कार्य केवल व्यक्तिनिष्ठ नहीं अपितु वस्तुनिष्ठ भी है । यह केवल चिन्तन नहीं है अपितु एक ऐसी वस्तु है जिस पर चिन्तन किया जा सकता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। किन्तु, चूंकि यह कभी भी केवल वस्तुनिष्ठ नहीं है अतः इस पर एक निश्चित प्रकार से विचार करने की अपेक्षा होती है, ऐसा प्रकार जो केवल इसके लिए उपयुक्त है। जिस अर्थ में 'वस्तुनिष्ठात्मक ढंग' 'विषयनिष्ठात्मक' का सर्वथा परिहार करता है—उस अर्थ में इसका अध्ययन कभी भी 'वस्तुनिष्ठात्मक ढंग' से नहीं किया जा सकता। इसका अध्ययन उसी रूप में होना चाहिए जिस रूप में वस्तुतः इसका अस्तित्व है अर्थात् एक कार्य के रूप में। यह अध्ययन केवल अनुभव अथवा चेतना नहीं है—केवल आत्म-चेतना भी नहीं : यह आत्म-ज्ञान होता है। ऐतिहासिक ज्ञान का विषय, इस प्रकार, विचार होता है : विचार की गई वस्तुएं नहीं अपितु चिन्तन का कर्म। किसी भी व्यक्ति को प्रगति की अवधारणा दो ऐतिहासिक कालों अथवा जीवन-मार्गों की तुलना करने पर स्पष्ट होती है; यहां यह अपेक्षित है कि वह इन दोनों तुलनीय वस्तुओं को ऐतिहासिक ढंग से समझे अर्थात् उसमें उनके अनुभवों को अपने लिए पुनर्निर्मित कर सकने की सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण तथा सूक्ष्मदृष्टि हो। उसे तथा उसके पाठकों को पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि न तो उसके मन में कोई ऐसा कलंक है और न ही उसकी विधा में कोई ऐसी त्रुटि है जिससे वह एक की अपेक्षा अन्य के अनुभवों में उतना प्रवेश पा सक रहा हो। इस अपेक्षा की पूर्ति होने पर वह यह प्रश्न कर सकता है कि प्रथम से द्वितीय में परिवर्तन प्रगति है अथवा नहीं। किन्तु, इस प्रश्न से वह क्या पूछ रहा है ? इस प्रश्न का केवल एक यथार्थ अर्थ हो सकता है। यदि कोई विचार प्रथम अवस्था में तत्कालीन कतिपय समस्याओं का समाधान करता है और यह करते हुए कुछ ऐसी समस्याओं से उलझता है जिनसे वह पराजित हो जाता है; और यदि दूसरा प्रथम अवस्था में प्राप्त समाधानों पर नियंत्रण खोए बिना इन नई समस्याओं को सफलतापूर्वक समाधान कर लेता है तो निश्चित रूप से विकास मानना होगा। किसी अन्य अर्थ में विकास नहीं माना जा सकता। विकास केवल एक रूप में होता है : किसी भी एक अवस्था में पूर्ववर्ती अवस्था की उपलब्धियों को मन में बनाए रखकर। दो अवस्थाएं केवल अनुक्रम से परस्पर संबद्ध नहीं होतीं अपितु सातत्य—एक विशेष प्रकार के सातत्य—द्वारा होती है। यदि आइन्स्टीन न्यूटन पर विकास प्रदर्शित करता है, तो वह ऐसा न्यूटन के विचार को जानते हुए तथा इसे अपने विचार में सुरक्षित करते हुए करता है—इस अर्थ में कि उसे यह ज्ञात है कि न्यूटन की समस्याएं क्या थीं और उसने कैसे उनका समाधान किया : वह उन समाधानों के सत्य को उन त्रुटियों से पृथक् करता है जिन्होंने न्यूटन को और आगे बढ़ने से रोका था, और इस प्रकार इन पृथक्कृत समाधानों को अपने सिद्धान्त में समाविष्ट करता है। संभव है उसने यह न्यूटन का अध्ययन किए बिना किया हो किन्तु उसने किसी से न्यूटन के सिद्धान्त को अवश्य प्राप्त किया होगा। इस प्रकार के संदर्भ में न्यूटन एक मनुष्य के रूप में नहीं अपितु वैज्ञानिक इतिहास के किसी युग-विशेष में प्रभावी सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इस सिद्धान्त को विज्ञान के इतिहास में एक तथ्य के रूप में जानते हुए ही आइन्स्टीन कोई विकास प्रदर्शित कर सकता है। न्यूटन इस प्रकार आइन्स्टीन में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसी प्रकार निवास कर रहा है जिस प्रकार कोई अतीत काल इतिहासकार के मस्तिष्क में निवास करता है।

यही बात किसी भी विकास पर लागू होती है। यदि हम पूंजीवाद तथा युद्ध की समाप्ति चाहते हैं तथा ऐसा करने में केवल इनका नाश नहीं अपितु इनके स्थान पर कुछ श्रेष्ठतर वस्तु पाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम इनको ठीक से समझें; यह देखें कि वे कौन-सी समस्याएं हैं जिनका हमारी आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था समाधान प्रस्तुत कर रही है तथा कैसे इनका समाधान उन अन्य समस्याओं से संबद्ध है जिनका समाधान यह नहीं कर पा रही है। यह संभव है कि जिसे हम समाप्त करना चाहते हैं उसके प्रति घृणा उसके सम्यक् अवबोध में बाधक बने, तथा हम उसे इतना अधिक चाहते हों कि बिना इस प्रकार की घृणा का आश्रय लिए इसका विनाश संभव न हो। किन्तु यदि ऐसा है तो एक बार फिर, जैसा कि अतीत में प्रायः हो चुका है, परिवर्तन होगा, विकास नहीं। अपने अज्ञान के फल से हमें प्रकृति का कोई भी उदार नियम नहीं बचा सकता।

[ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि कालिंगवुड द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्षवादियों का विरोध इतिहास के विशिष्ट एवं विलक्षण घटनाओं से संबद्ध होने पर उतना आधारित नहीं है जितना इस तथ्यविशेष पर कि इतिहास प्राकृतिक घटनाओं का नहीं अपितु मानव-कार्य व्यापारों की व्याख्या प्रदान करने का उपक्रम करता है एवं मनुष्य अपने विवेक के अनुसार अपने कार्यों को व्यवस्थित करने में कुछ सीमा तक स्वतंत्र होते हैं। इन दो भिन्न प्रकार के विषयों का अध्ययन भिन्न प्रकार से होता है और कालिंगवुड ने यह विभेद स्पष्ट किया है। प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या 'बाहर' से की जाती है जबकि ऐतिहासिक घटनाओं का 'आभ्यन्तर पक्ष' भी होता है। उनकी व्याख्या के लिए ऐतिहासिक कर्त्ता के मन को जानना आवश्यक होता है जिसकी अभिव्यक्ति उसके कार्यों में होती है। उसके अनुसार कर्त्ता के प्रयोजनों को जानने से ये दोनों बातें जानी जाती है : वह क्या कर रहा है और साथ ही ऐसा वह क्यों कर रहा है।

कालिंगवुड के मत के प्रसंग में कुछ विशेष आपत्तियां उठाई गई हैं। इतिहास के निर्माण में इतिहासकार की भूमिका पर उसके बल को यदि इसके अंतिम तार्किक बिन्दु तक खींचा जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि इतिहास में वस्तुनिष्ठता या निर्वैयक्तिकता नामक कोई वस्तु नहीं हो सकती; जो जिस प्रकार से चाहे इतिहास लिख सकता है जिसका, दूसरे शब्दों में, यह अर्थ होगा कि इतिहास सर्वथा निरर्थक है। दूसरे, यदि—जैसाकि कालिंगवुड ने कहा है—इतिहासकार अतीत का अध्ययन वर्तमान की दृष्टि से करता है तथा अतीत की समस्याओं को वर्तमान-कालिक समस्याओं के हल के लिए करता है, तो सही व्याख्या का मापदण्ड केवल यह रह जाएगा कि वर्तमान के लिए उनकी उपयोगिता है अथवा नहीं। किन्तु, इससे इतिहास प्रचारवाद में रूपान्तरित होकर रह जाएगा। (द्र० कार, **व्हाट इज हिस्ट्री ?** पेंग्विन बुक्स, १९६७, पृ० २६–२७)। कालिंगवुड के मत के विरोध में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि ऐतिहासिक कर्त्ताओं के सभी कार्यों में 'विचार-पक्ष' निहित हो, यह आवश्यक नहीं है; साथ ही, तर्कशील व्याख्याएं केवल व्यक्तियों के कार्यों के प्रति व्यवहृत हो सकती हैं, राष्ट्रों, संस्थाओं, परिस्थितियों इत्यादि पर नहीं जिनकी कि इतिहासकार प्रायः चर्चा करता रहता है। कालिंगवुड की मान्यता के अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक कार्य कर्त्ता के विवेक से निरपवादरूपेण संबद्ध होता है किन्तु यह निश्चित कर सकना कठिन है; इसके अतिरिक्त—जैसाकि प्रत्यक्षवादी विचारक हेम्पेल ने तर्क किया है—व्याख्या में एक अन्य पूर्वधारणा को सम्मिलित करना आवश्यक हो जाएगा कि कार्य करते समय कर्त्ताविशेष विवेकपूर्ण मानसिक स्थिति में था। (प्रत्यक्षवादियों तथा कालिंगवुड के समर्थकों के बीच संभावित तर्क वितर्क के लिए द्र० ड्रे, **फिलासफी आफ़ हिस्टरी,** प्रेंटिस हाल, १९६४, पृ० १०–१५)]।

२. ऐतिहासिक अन्वेषण की विधाएं

[इतिहास के विषय में कालिंगवुड ने कहा कि यह तथ्य का इतिवृत्तात्मक विवरण मात्र न होकर विचारों की अभिव्यक्ति है। इतिहास की ज्ञानमीमांसीय समस्याओं पर विचार करते हुए उसने पाया कि साक्ष्यों के विषय में इतिहास के नियम विज्ञान के नियमों के समान हैं यद्यपि इतिहास के नियम संभवतः इतने निश्चित नहीं होते। इतिहास तथा विज्ञान की तुलना में बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि हम इतिहास तथा विज्ञान से क्या समझते हैं। विज्ञान के नियम अधिक विश्वसनीय होते हैं किन्तु कालिंगवुड का यह आग्रह है कि इतिहास इस रूप में विज्ञान के समान है कि यह ऐसे कार्यनिर्वाही सत्यों को प्रदान करता है जिन्हें भविष्य में सभी साक्ष्यों के उपलब्ध होने पर सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, हम यह कह सकते हैं कि इतिहास विज्ञान के समान एकरूपता की पूर्व अवधारणा पर आधारित होता है जो इस दृष्टान्त में प्रकृति की नहीं अपितु मनुष्य की एकरूपता होती है जिसके प्रयोजनों को सभी समयों तथा स्थानों पर हम एक-सा उपकल्पित कर सकते हैं। दोनों ही विषय व्याख्या के सामान्यीकृत नियम प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखते हैं जिनमें सदैव अपवाद के लिए स्थान रहता है। इस प्रकार इतिहास तथा विज्ञान दोनों ही ऐसा कुछ कह सकने में असमर्थ हैं जो एक साथ-ही सत्य तथा पूर्ण हों। किन्तु मनुष्य के अध्ययन में—विज्ञान के विपरीत जो प्रकृति के केवल प्रवुद्ध अध्ययन की अपेक्षा रखता है—इतिहास हमसे आत्म-प्रबुद्ध होने की अपेक्षा करता है।

एलन बुलक यह स्वीकार करता है कि इतिहास साक्ष्य के नियमों से नियंत्रित बौद्धिक ज्ञान-शाखा है किन्तु वह इतिहासकार को चित्रकार अथवा उपन्यासकार से तुलनीय समझता है। उसके अनुसार इतिहास कदापि विज्ञान के समान सामान्यीकरण नहीं कर सकता। इतिहासकार विशिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत स्थित विशिष्ट व्यक्ति अथवा विशिष्ट घटना की ओर आकर्षित होता है और उसी का विवरण करने में अपनी कुशलता प्रदर्शित करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेनरी पाइरेन को बुलक की यह प्रतिज्ञा स्वीकृत होगी कि इतिहास मानवीय है किन्तु उसने इसे और विस्तारित करते हुए सार्वभौमिक इतिहास की माँग रखी है। इस संबंध में उठे प्रश्नों का समाधान करने में इतिहासकार पहले तथ्यों का प्रतिष्ठापन और फिर उनका समीक्षात्मक विश्लेषण करता है। इस बिन्दु पर कार्ल बेकर का लेख प्रासंगिक है क्योंकि वह हम जिस तथ्य से प्रारम्भ करते हैं उसके स्वरूप के संबंध में ही प्रश्न उठाता है। ऐतिहासिक तथ्य क्या, कहाँ और कब है, इन प्रश्नों का बेकर का उत्तर है : ऐतिहासिक तथ्य एक प्रतीक—अथवा सामान्यीकरण—है जो इतिहासकार के मस्तिष्क में वर्तमान काल में विद्यमान रहता है। इसमें यह निष्कर्ष निहित है कि इतिहासकार वैयक्तिक समीकार को नहीं हटा सकता।

ईसाइया बर्लिन के लेख में भी इतिहास की मानवीयता का समर्थन है। उनका कहना है कि वैज्ञानिक का कार्य सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन है जबकि इतिहासकार का कार्य विशिष्टताओं पर ध्यान देना है। इतिहास में कारणत्व का उपयोग निगमनात्मक अथवा आगमनात्मक तर्क पर आधारित न होकर सामान्य मानव व्यवहार के अवबोध पर आधारित होता है। अच्छे इतिहास में सदैव सहानुभूतिपरक कल्पना का होना अपेक्षित है, वैज्ञानिक के लिए जिसकी अपेक्षा आवश्यक नहीं है। विज्ञान का अध्ययन-विषय प्रकृति है, इतिहास का अध्ययन-विषय मनुष्य और अध्ययन-विषयों की यह भिन्नता इन दो शास्त्रों के स्वरूप को पर्याप्त भिन्न बना देती है।]

एलन बुलक : 'इतिहासकार का उद्देश्य : इतिहास और तत्त्वभूमिक इतिहास'

जब से हीगल ने बर्लिन में इतिहास-दर्शन पर अपने भाषण दिए, कई लोगों ने उसका अनुकरण किया। तब से मार्क्स, स्पेंगलर, वेल्स, क्रोचे, टायनबी इत्यादि कई विद्वानों ने इतिहास का अर्थ ढूंढने का प्रयास किया है। ये मीमांसाएं बहुतेरी एवं परस्पर विरोधी हैं किन्तु उनमें यह एक समानता है : वे सभी इतिहास में प्रतिमान, नियमितताओं तथा समानताओं की खोज के प्रयास हैं जिनकी पुनरावृत्ति पर मानवीय अस्तित्व की व्याख्या अथवा इसके विकास की अवस्थाओं का संपूर्ण दृश्य निर्मित करने का प्रयास किया जाता है। बहुतों के लिए यह 'तत्त्वभूमिक इतिहास' (इस पद का प्रयोग ईसाइया बर्लिन ने किया है) ही ऐतिहासिक अध्ययन का प्रमुख आकर्षण तथा औचित्य-स्थापक है। किन्तु बहुसंख्यक पेशेवर इतिहास-लेखक इस परिकल्पनात्मक क्रिया-कलाप को अविश्वास तथा अरुचि की दृष्टि से देखते हैं।

अब क्या यह सत्य है कि इतिहासकार के सामने ये दो ही विकल्प हैं ? : वह स्पेंगलर और टायनबी के आदर्श पर तत्त्वभूमिक इतिहास को चुने अथवा नीरस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐतिहासिक पाण्डित्य के उच्छिन्न उजाड़खण्ड को। कुछ भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ इतिहासकारों ने—उदाहरणार्थ, हालेवी, पिरेन, माथिये, मार्क ब्लाख—इन दो सर्वथा पृथक् वस्तुओं के बीच का मार्ग पा लिया है।

जैसे ही इतिहासकार अपनी व्याख्या प्रस्तुत करना प्रारम्भ करता है उसके लिए सभी प्रकार की सामान्य प्रस्थापनाओं का प्रयोग आवश्यक हो जाता है—मानवीय व्यवहार के बारे में, आर्थिक पक्षों के प्रभाव, विचारों के प्रभाव तथा सैकड़ों अन्य चीजों के बारे में। इतिहासकार के लिए इन सामान्य प्रस्थापनाओं का तिरस्कार करना असंभव है; यदि वह न भी चाहे तो वह पीछे के दरवाजे से घुस पैठती हैं।

इतिहासकार सामान्य सिद्धान्तों का उपयोग करता है किन्तु एक उपकरण के रूप में जिन्हें समयक्रम में, उनकी उपयोगिता के अनुसार, वह त्यागता रहता है अथवा अपने अनुकूल रूपान्तरित करता रहता है अथवा उनका निर्वाह करता चलता है। एक प्रयोगपरक अनुमान के रूप में—जिसे आवश्यकतानुसार छोड़ दिया जाय या अपना लिया जाय—यह अपरिहार्य है किन्तु एक पूर्वाग्रही विश्वास के रूप में यह मस्तिष्क को अपने शिकंजे में जकड़ लेता है और इतिहासकार को साक्ष्यों में तोड़-मरोड़ करने को विवश करता है। अतः यह स्पष्ट है कि इतिहासकार का पहला कार्य यह होना चाहिए कि वह अपने अनुमानों तथा पूर्वधारणाओं पर समीक्षात्मक दृष्टि रखे ताकि वह इनके कारण किसी साक्ष्य के महत्त्व अथवा किसी अनुषंग का अस्तित्व न छोड़ दे। उसका संपूर्ण प्रशिक्षण उसे सामान्य सिद्धान्तों को स्थापित करने की नहीं अपितु तोड़ने की और सामान्य को सदैव विशिष्ट तथा मूर्त्त रूप उदाहरणों की कसौटी पर परखने की शिक्षा देता है। इस विषय तथा इसके निष्कर्षों का उसका अनुभव उसे अधिक मात्रा में सामान्यताओं की एक-रूपताओं तथा नियमितताओं के संस्थापन की संभावना के प्रति सतर्क और शंकाशील बनाता है। संक्षेप में, इतिहासकार इसमें विश्वास नहीं करता कि इतिहास को किसी तत्त्वभूमिक ऐतिहासिक वाद से अनुबद्ध किया जा सकता है।

तत्त्वभूमिक इतिहासकारों एवं पूर्वाग्राहियों के प्रति इतिहासकार के अविश्वास के—पीछे प्रायः यह सहज भावना रहती है कि सामान्य नियमों के निर्माण तथा ऐतिहासिक विकास के व्यापक सामान्य प्रतिमानों के अनुसंधान के प्रयत्न के रूप में जो मानव स्वभाव तथा मानवीय व्यवहार को जानने का ढंग है, उसके अतिरिक्त एक अन्य ढंग है जो समानरूपेण तर्कसंगत है तथा संभवतः अधिक लाभदायक है। वह है किसी एक समाज अथवा किसी एक सभ्यता के विकास का अध्ययन और इसकी विशिष्टता एवं निरालेपन की गहराई में पैठना—सामान्य रूप में पुरुषों और स्त्रियों के व्यवहार का अध्ययन नहीं अपितु एक दिए गए युग एवं समय में किसी समूह विशेष का अध्ययन। और यह एक उपयुक्त प्रश्न है कि किसका दृश्यक्षेत्र अधिक विस्तृत है—उस विमानचालक का, जो पांच हजार फीट की ऊंचाई पर लगातार कई देशों के ऊपर से उड़ता रहा है, अथवा उस किसान का जिसने अपना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सारा जीवन एक स्थान पर व्यतीत किया है किन्तु जो अपने निवास स्थान की घाटियों, जंगलों और गलियों को हस्तामलकवत भलीभाँति जानता है।

हेनरी पिरेन : 'इतिहासकार क्या करने का प्रयास कर रहे हैं ?'

इतिहास की रचना का अर्थ होता है इसे कहना। इतिहासकार का प्रमुख कर्त्तव्य अतीत की घटनाओं को प्रकाश में लाना, घटनाओं के परस्पर संबंध को दिखाना और उनकी व्याख्या करना है। इस प्रकार, इतिहास अतीत में स्थित मानव समाजों के विकास का व्याख्यात्मक वर्णन है।

सभी ऐतिहासिक वृत्तान्त एक साथ संश्लेषण एवं अनुमान दोनों हैं। यह एक संश्लेषण है क्योंकि यह एक संपूर्ण का विवरण प्रदान करने के लिए सभी ज्ञात तथ्यों को इकट्ठा करता है, यह अनुमान है क्योंकि वह जिन संबंधों की स्थापना करता है वे न तो सुव्यक्त हैं और न ही स्वतः–प्रमाण्य हैं। तथ्यों को एक पुंज में जोड़ना और उन्हें संबंधित करना व्यवहार में एक ही प्रक्रिया है। सभी कुछ इतिहासकार की सृजनात्मक कल्पना की मात्रा के ऊपर तथा मानव कार्य-व्यापारों के विषय में उसकी सामान्य धारणा पर आधारित होता है। और इस प्रकार इससे यह फलित होता है कि अपनी उच्चतम तथा सर्वाधिक आवश्यक अभिव्यंजना में इतिहास एक परिकल्पनात्मक अथवा दूसरे शब्दों में व्यक्तिपरक शास्त्र है!

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह स्वैर कल्पना तथा स्वच्छन्द प्रक्रियाओं की कृपा पर निर्भर है। यह एक कार्यविधि के सहारे आगे बढ़ता है किन्तु ऐसी कार्यविधि के सहारे जिसे इसका विषय ही निरन्तर नवीन होने के लिए बाध्य करता है। इतिहासकार स्रोतों के अध्ययन की अपेक्षा तथ्यों के गुणागुण निरूपण में कम समीक्षात्मक बुद्धि नहीं रखता किन्तु उसके कार्य की जटिलता उसे बहुत अधिक मात्रा में अनुमान का सहारा लेने को बाध्य करती है।

समस्त ऐतिहासिक निर्माण मानव स्वभाव की चिरन्तन एकात्मकता की मूल-कल्पना पर आधारित होता है। किसी के लिए भी मनुष्य के क्रिया-कलापों को समझना नितान्त असंभव होगा यदि प्रारम्भ में ही वह यह नहीं मान लेता कि प्रत्येक काल में उसकी शारीरिक एवं नैतिक प्रकृति वही रही है जो उसकी इस समय है। मानव जाति द्वारा देश और काल में प्रस्तुत असंख्य भिन्नताओं की व्याख्या नहीं हो सकेगी यदि उन्हें एक ही वस्तुस्थिति का परिवर्तनशील छायान्तर न माना जाय जो सार रूप में सदैव और सर्वत्र समरूप रहती है। अतएव, इतिहासकार यह मानता है कि वह मृत व्यक्तियों के कार्यों का अपने चारों ओर पड़े जीवित व्यक्तियों के कार्यों के समान ही अनुशीलन कर सकता है।

कई शताब्दियों तक समाजों की नियति को किसी देवता के हस्तक्षेप अथवा महान पुरुषों के प्रभाव के आधार पर समझाया गया। इतिहास अनिवार्यतः एक नाटक दिखाई पड़ता था। दूरदर्शी मनीषियों ने—उदाहरणार्थ पोलीबियस-राज्य के क्रियाकलाप में संस्थाओं के महत्त्व को समझा। किन्तु कुल मिलाकर, यहां तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि श्रेष्ठ लेखकों के प्रसंग में भी, इतिहास केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन और उनकी व्याख्या था। नैतिक एवं सामाजिक शास्त्रों के विकास ने इस अवधारणा की संकीर्णता एवं अपर्याप्तता को स्पष्ट कर दिया है। उन विभिन्न घटकों-धार्मिक, नृवंशसंबंधी, भौगोलिक, आर्थिक, जिन्होंने विभिन्न युगों में समाजों के विकास को नियंत्रित किया है—के विषय में इन शास्त्रों द्वारा प्रदत्त विवरण ने निश्चय ही प्रभूत मात्रा में उन व्यापारों को समझने में सहायता दी है जिन पर पहले ध्यान नहीं दिया गया। सामाजिक सम्बन्धों के ज्ञान में अपरिमित वृद्धि होने के कारण इतिहासकार अब अतीत के तथ्यों के मध्य उन बहुतेरे सम्बन्धों को खोज सकने की स्थिति में है जिन पर कभी विचार नहीं किया गया।

सभी ऐतिहासिक आख्यान अनुमान होते हैं। इतिहास व्याख्या प्रस्तुत करने का एक प्रयास है, अतीत का एक परिकल्पनात्मक पुनर्निर्माण है। प्रत्येक लेखक किसी भाग पर प्रकाश डालता है, कुछ पक्षों पर विचार करता है। जितना ही ये वृत्तान्त बढ़ते जाते हैं उसी मात्रा में अनन्त सत्य अपने ऊपर पड़े आवरणों से मुक्त होता जाता है। ये सभी वृत्तान्त अपूर्ण होते हैं, त्रुटिपूर्ण होते हैं किन्तु ज्ञान के विकास में सभी सहायक होते हैं। इतिहास के विकास के लिए स्रोतों का संश्लेषण तथा अध्ययन का समानान्तर विकास आवश्यक है। अध्ययन के बिना संश्लेषण कल्पना का एक फलहीन खेल मात्र होगा और अध्ययन एक प्राणहीन पाण्डित्यमात्र होगा यदि यह अपने अन्वेषण के क्षेत्र को निरन्तर आगे नहीं बढ़ाता चलता तथा स्वयं द्वारा उठाई गई समस्याओं एवं स्वयंजनित अनुमानों द्वारा नए मार्ग नहीं खोलता।। इसके साथ ही हमें यह मानना चाहिए कि जिस मात्रा में क्षेत्र का विस्तार होगा उसी मात्रा में इतिहासकार का कार्य अधिक संतोषजनक रूप में पूर्ण होगा।

तुलनात्मक विधा ही इतिहासकारों में व्याप्त जातीय, राजनीतिक और राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों को कम कर सकती है। ये पूर्वाग्रह उस व्यक्ति को अनिवार्यतः जकड़ लेते हैं जो राष्ट्रीय इतिहास के संकुचित दायरे में रहता हुआ इसे गलत रूप से समझने के लिए बाध्य रहता है क्योंकि उसमें उन बंधनों को समझने की क्षमता नहीं होती जो उसे अन्य राष्ट्रों के इतिहास से सम्बन्धित करते हैं। तुलनात्मक विधा इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में रखती है—तब जिसे पर्वत समझा जाता था वह तिल के आकार का दिखाई पड़ता है, और जिस वस्तु के लिए राष्ट्रीय प्रतिमा को श्रेय दिया जाता था वह प्रायः अनुकरणात्मक प्रवृत्ति की एक सहज अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। जब इतिहास लेखन में निपुण व्यक्ति अपना अंतिम लक्ष्य सार्वभौमिक इतिहास का सम्पादन मानने लगेंगे तब इसे वह उच्चिष्ठ परिशुद्धता प्राप्त हो सकेगी जो इस विषय में संभव है।

कार्ल बेकर : 'ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं ?'

ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। इतिहासकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन सभी वस्तुओं में रुचि रखता है जो अतीतकालिक मनुष्य से संबद्ध हैं—कोई कार्य अथवा घटना, कोई भी संवेग जिसकी उसने अभिव्यक्ति की है, कोई भी विचार चाहे वे यथार्थ हों या मिथ्या। किन्तु, वह अतीतकालिक घटना का साक्षात्कार नहीं करता; उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस घटना के विषय में प्राप्त विवरण से होता है। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण विभेद दिखाई पड़ता है : घटना जो विनष्ट हो चुकी है तथा इस घटना का विवरण जो विद्यमान है। सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए घटना के विषय में यह विवरण ही ऐतिहासिक तथ्य को बनाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य अतीतकालिक घटना नहीं है अपितु एक प्रतीक है जो हमें कल्पना द्वारा उसके पुनर्निमाण में समर्थ बनाती है।

जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य के स्थान का प्रश्न है, यह किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में होता है, अथवा फिर यह कहीं नहीं होता। हम एक सुविज्ञात घटना के उदाहरण से समझें : "१४ अप्रेल १८६५ में वाशिंगटन में फोर्ड नाट्यशाला में अब्राहम लिंकन की हत्या हुई।" जिस समय यह हत्या घटित हुई यह एक वास्तविक घटना थी किन्तु अब इसके विषय में कहते हैं कि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। वास्तविक वृत्तान्त एवं ऐतिहासिक तथ्य—इनमें चाहे जितना घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों न हो—दो भिन्न वस्तुएं हैं। फिर, यदि लिंकन की हत्या एक ऐतिहासिक तथ्य है तो यह कहां है। वास्तविक घटना तो विलुप्त हो चुकी है और इसका पुनर्प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। इस प्रकार की घटनाओं के धूमिल चित्र बचे रह जाते हैं जो इतिहासकार के उपादान बनते हैं। कुछ और न पा सकने के कारण वह इनसे ही संतुष्ट होता है। और ये धूमिल चित्र अथवा तथ्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इतिहासकार के अथवा किसी अन्य व्यक्ति के मस्तिष्क में होते हैं, अथवा ये कहीं नहीं होते। यहां यह कहा जा सकता है कि वे लेखों अथवा साक्ष्यों में होते हैं। उदाहरणार्थ, लिंकन की हत्या का विवरण समसामयिक समाचारपत्रों, दैनंदिनियों तथा पत्रों इत्यादि में प्राप्त होता है। किन्तु, ये साक्ष्य अथवा लेख स्वयं किसी व्यक्ति द्वारा प्रणीत हुए हैं जिसके कि मस्तिष्क में लिंकन की घटना का चित्र बना था। कोई भी इस व्यक्ति द्वारा छोड़े गए साक्ष्य के आधार पर अपने मन में उसी प्रकार के विचार अथवा चित्र बना सकता है जैसा उस व्यक्ति के मस्तिष्क में बना था। यदि आज कोई भी उन साक्ष्यों अथवा लेखों के अर्थ नहीं जान पाता तो लिंकन की हत्या ऐतिहासिक तथ्य नहीं रह जाएगी।

ऊपर की गई चर्चा की पृष्ठभूमि में तीसरे प्रश्न—अर्थात् ऐतिहासिक तथ्य के समय का प्रश्न—का उत्तर कठिन नहीं है। यदि ऐतिहासिक तथ्य परिकल्पनात्मक रूप में किसी के मस्तिष्क में स्थित है तो उसे इस समय, वर्त्तमान के एक अंश के रूप में, विद्यमान मानना होगा। किन्तु 'वर्त्तमान' शब्द से कुछ स्पष्ट नहीं होता। वर्त्तमान समय-क्रम में एक अपरिभाषेय बिन्दु है, जो सोचे जाने के पूर्व ही अतीत बन जाता है। किन्तु अतीतकालिक घटनाओं की अवधारणाएँ तथा विचार प्रायः और संभवतः सदैव भविष्य के विचारों और अवधारणाओं के साथ संलग्न होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामान्यतया इतिहास के जगत् को एक बाह्य जगत् के रूप में देखा जाता है तथा ऐतिहासिक तथ्यों को वास्तविक घटनाओं के रूप में ग्रहण किया जाता है। सच तो यह है कि वास्तविक अतीत गतकाल हो चुका है तथा इतिहास का जगत् एक अगोचर जगत् है जिसका कल्पनाशील रूप में पुनर्निर्माण होता है और जो हमारे मस्तिष्क में रहता है। और यदि वह सच है तो इसके कई महत्त्वपूर्ण अभिप्रेत अर्थ निकलते हैं।

इसका एक अभिप्रेत अर्थ तो यह है कि इतिहासकार कभी भी किसी वास्तविक घटना को संपूर्णतः नहीं प्रस्तुत कर सकता। १९वीं शताब्दी के इतिहासकार इस भ्रामक धारणा से ओतप्रोत थे कि वे "सभी तथ्यों को प्रस्तुत कर उन्हें ही अपने विषय में बोलने को बाध्य करेंगे।" इतिहासकार अपनी ओर से केवल मस्तिष्करूपी संवेदनशील तश्तरी प्रस्तुत करेगा जिस पर वस्तुनिष्ठात्मक तथ्य अपने अर्थों का चिन्हांकन करते चलेंगे। यह विचार अब भी इतिहासकारों में अत्यन्त व्यापक है। किन्तु, मेरा दृढ़ आग्रह है कि यह विचार सर्वथा असंगत है: पहले तो सभी तथ्यों की प्रस्तुति नहीं हो सकतीं और हो भी जाय तो वे स्वयं कुछ भी नहीं कहेंगे।

दूसरा अभिप्रेत अर्थ प्रथम से उद्‌भूत होता है: यह कि इतिहासकार व्यक्तिगत समीकरण को नहीं हटा सकता। वस्तुतः, इसे कोई भी नहीं हटा सकता यहां तक कि भौतिक विज्ञान शास्त्री भी। फिर भी इतिहासकार की अपेक्षा भौतिक विज्ञानशास्त्री इसे पर्याप्त मात्रा में हटा सकता है, क्यों कि उसका बाह्य जगत् के साथ प्रत्यक्ष संबंध होता है जब कि इतिहासकार का नहीं। वैज्ञानिक का अध्ययनविषय परीक्षणसिद्ध है जिस पर वह जितनी बार चाहे प्रयोग कर सकता है। इतिहासकार को घटना-शृंखलाओं के महत्त्व का निर्धारण उनके एकाकी संपादन—जिनकी पुनरावृत्ति संभव नहीं—के आधार पर करना होता है; और चूंकि विचाराधीन घटना के साक्ष्य सर्वथा पूर्ण एवं परिशुद्ध नही होते, अतः उनका पूर्ण ज्ञान अथवा पूर्ण अभिनिश्चयन संभव नहीं होता। किसी भी घटना का इतिहास दो भिन्न व्यक्तियों के लिए समान नहीं होता और प्रत्येक पीढ़ी उसी इतिहास को नए रूप में लिखती है।

वर्तमान हमारी अतीत–विषयक अवधारणा को प्रभावित करता है तथा हमारी अतीत-विषयक अवधारणा वर्तमान को। इतिहास की हमारी अवधारणाएं वर्तमानकालिक आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों से उद्‌भूत होती हैं। "ऐतिहासिक निरंतरता" के सिद्धान्त का यही अर्थ है।

तीसरा अभिप्रेत अर्थ यह है कि किसी को भी ऐतिहासिक शोध से तब तक लाभ नहीं हो सकता जब तक कि उसने स्वयं कुछ इस प्रकार का शोध न किया हो तथा इतिहासका ज्ञान न रखता हो। केवल पुस्तकीय ऐतिहासिक ज्ञान मुझे कोई लाभ नहीं प्रदान कर सकता और इस रूप में ऐतिहासिक शोध का स्वरूप वैज्ञानिक शोध से सर्वथा भिन्न है। वैज्ञानिक शोध के फलों का उपयोग कोई भी कर सकता है; पर किसी बटन को दबाने से मानवीय अनुभव का ज्ञान प्राप्त कर सकना असंभव है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौथा अभिप्रेत अर्थ अन्य सभी अभिप्रेत अर्थों से महत्वपूर्ण है। वह यह है कि प्रायः हम लोगों को यह कहते सुनते हैं कि 'मैं इतिहास नहीं जानता'। उनका आशय इतिहास की पुस्तकों को न पढ़े होने से होता है। किन्तु यह इतिहास की रूढ़ अवधारणा है जिसके अनुसार इसे पुस्तकों में निहित माना जाता है। किन्तु इससे इतिहास का वास्तविक अर्थ प्रच्छन्न हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ इतिहास जानता है जो उसके वर्तमान उद्देश्यों के लिए पर्याप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अतीतकालिक घटनाओं का कुछ न कुछ ज्ञान होता है जो न्यूनाधिक उपयुक्त होता है—कितना उपयुक्त यह मनुष्य तथा उसके उद्देश्यों पर निर्भर करता है। ज्ञान अथवा इतिहास–जहां तक कि यह जीवन्त इतिहास है, पुस्तकों में वन्द मृत इतिहास नहीं–विविध घटनाओं, व्यक्तियों, स्थानों, संवेगों, विचारों इत्यादि के द्वारा हमारे अनुभव का विस्तरण है जिसकी सहायता से मनुष्य स्वयं को एक विस्तृत जगत में प्रतिष्ठित कर देख पाता है।

पांचवां अभिप्रेत अर्थ उस इतिहास–प्रकार में निहित है जो जनसाधारण के मन में बसा होता है। जनसाधारण इतिहास-पुस्तकों का अध्ययन करें अथवा नहीं किन्तु अतीत के विषय में उनकी एक अवधारणा होती है और यह अवधारणा –यह सत्य हो अथवा मिथ्या–राजनीति तथा समाज के विषय में उनके विचारों का निर्धारण करती है। यह तथ्य विशेषरूपेण संकट की घड़ियों में स्पष्ट रूप में उभरता है। यह सच है कि पेशेवर इतिहासकार अपने परिशुद्ध लेखन द्वारा जनसाधारण की भ्रांत एवं त्रुटिपूर्ण धारणा के शोधन का प्रयास करता है; किन्तु पेशेवर इतिहासकार अपनी बात को कभी भी जनसामान्य के मस्तिष्क में प्रतिष्ठित नहीं कर सकेगा यदि लोग उसकी पुस्तकों को पढ़ते नहीं। उसकी पुस्तक कितनी भी पाण्डित्यपूर्ण क्यों न हो, उसका सामाजिक महत्व शून्य के बराबर होगा यदि जनसाधारण उसे नहीं पढ़ता और यही नहीं यदि वह इसे रुचि लेकर एवं समझ के साथ नहीं पढ़ता।

[यहां बेकर के १९३१ में अमरीकी इतिहासकार परिषद् के अध्यक्षीय भाषण के अवसर पर अभिव्यक्त उस प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य की चर्चा अपेक्षित है जिसमें उसने कहा कि "प्रत्येक व्यक्ति अपना इतिहासकार स्वयं होता है।" उसने कहा कि इतिहास दो प्रकार का होता है: वास्तविकता का इतिहास तथा इतिहासकारों को उपलब्ध इतिहास। दूसरे को उसने 'कही हुई तथा की हुई वस्तुओं की स्मृति' के रूप में परिभाषित किया। पुनः उसने 'जनसाधारण' के लिए इस प्रकार के इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया। उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को आने वाले कल का सामना करना होता है और कोई भी व्यक्ति भविष्य किस प्रकार का होगा इसकी उपकल्पना किए बिना भविष्य में चरण नहीं रख सकता; यह उपकल्पना उसके अपने अतीतकालिक इतिहास की स्मृति के आधार पर निर्मित होती है। बेकर ने आगे कहा कि यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का अपने इतिहास तथा अपने भविष्य के विषय में विचार जिसमें वह रहता है उस समाज द्वारा नियंत्रित होता है। वह अपनी इच्छानुसार अतीत का निर्माण करने को स्वतंत्र नहीं होता। बेकर के अनुसार, जो बात जनसाधारण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर लागू होती है वह इतिहासकार के लिए भी सत्य है। इतिहासकार केवल उन्हीं ऐतिहासिक प्रतिमानों को पा सकता है जो उसके समाज ने उसे पाने को सिखाया है; वह केवल उन्हीं तथ्यों का चयन करता है जिन्हें उसका समाज महत्वपूर्ण बताता है। उसके अनुसार, जनसाधारण द्वारा स्वयं अपने लिए निर्मित इतिहास के समान, इतिहासकार का इतिहास भी सत्य तथा कल्पना का सुविधाजनक सम्मिश्रण होता है जिन्हें हम सामान्यतया 'तथ्य' तथा 'व्याख्या' कह कर विभेदित करते हैं। अधिक विस्तारपूर्ण चर्चा के लिए, द्र०, डेविड डब्ल्यू नोबल, **हिस्टोरियन्स अगेन्स्ट हिस्टरी**, यूनिवर्सिटी आफ़ मिनेसोटा प्रेस, १९६५, पृ० १४०–१४२]

इसाइया बर्लिन : 'वैज्ञानिक इतिहास की अवधारणा'

अरस्तू के अनुसार इतिहास विशिष्ट व्यक्तियों के कार्यों तथा अनुभवों का विवरण है। और अधिक व्यापक अर्थ में इतिहास वह है जो इतिहासकार करते हैं। क्या इतिहास उस रूप में एक विज्ञान है जिस रूप में भौतिक शास्त्र, जीवशास्त्र अथवा मनोविज्ञान विज्ञान है? यदि नहीं तो क्या इसे विज्ञान बनने का प्रयास करना चाहिए? यदि यह नहीं बन पाता तो इसके बाधक तत्व क्या हैं? यह असफलता मानवीय त्रुटियों तथा दुर्बलता के कारण हैं अथवा इस विषय का स्वरूप ही ऐसा है? इन प्रश्नों पर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पर्याप्त वाद-विवाद होता रहा है। किन्तु, लगभग दो शताब्दियों पूर्व ही देकार्त ने इतिहास के एक गम्भीर अध्ययन-विषय होने का निराकरण किया था। तब से सदैव ऐतिहासिक अध्ययन के स्वरूप पर चिन्तन करने वाले मनीषियों ने इस दोषारोपण के संदर्भ में विचार किया है। कुछ ने आग्रह किया कि इतिहास को भौतिक विज्ञान के किसी एक प्रकार में सम्मिलित कर एवं उसकी विधाओं का इसमें प्रयोग कर प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया जा सकता है; कुछ के अनुसार यह वस्तुतः एक विज्ञान है, किन्तु एक भिन्न प्रकार का विज्ञान जिसकी अपनी विशिष्ट विधाएं हैं; कुछ ने इस समीकरण का दृढ़ प्रत्याख्यान किया तथा इसे पूर्णतया व्यक्तिपरक तथा आत्माभिव्यक्ति का एक प्रकार बताया। कुछ अन्यों ने समाजशास्त्र—जो वस्तुतः विज्ञान है—तथा इतिहास में विभेद किया एवं इतिहास को कला बताया अथवा एक सर्वथा स्वतंत्र शास्त्र माना जिसका अपना विशिष्ट स्वरूप तथा उद्देश्य हैं।

इतिहास को प्राकृतिक विज्ञान मानने की तीव्र इच्छा के कई कारण हैं। इतिहास तथ्यों से संबद्ध होने का आग्रह करता है। तथ्यों के प्रतिष्ठापन, अनुसंधान इत्यादि के विषय में वैज्ञानिक पद्धति सर्वाधिक सफल रही है और स्वभाविक है कि इतिहास में भी इसके व्यवहार की इच्छा की जाय। प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों का यही दृष्टिकोण है। इनके अनुसार मनुष्य भी प्राकृतिक जगत का एक अंग है। उसकी मूलभूत भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं में आदिकाल से कोई विशेष परिवर्तन हुआ नहीं प्रतीत होता। विशेष रूप से यह मनुष्यों के सामूहिक कार्य-व्यापारों के निष्कर्षों में दिखाई पड़ता है जिन्हें पूर्णतया यांत्रिक रूप में व्याख्यापित किया जा सकता है; इनका यह आग्रह था कि यदि किसी प्रकार एक ओर मनुष्य की जैवी तथा शरीर संबंधी स्थितियों एवं प्रक्रियाओं एवं, दूसरी ओर, समानरूपेण दर्शनीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके आचरण को जोड़ने वाली प्राकृतिक नियमों की श्रृंखला पाई जा सके तो हमें मानव व्यवहार का एक विज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इतिहास के अब तक विज्ञान न बन सकने के कारण पर विचार करते हुए बकल (Buckle) नामक विद्वान ने यह व्याख्या प्रस्तुत की कि इतिहासकारों की 'मानसिक क्षमता' गणितज्ञों, भौतिक शास्त्रियों तथा रसायनशास्त्रियों की अपेक्षा हीनतर रही है। यदि इतिहास में भी गैलिलियो तथा न्यूटन जैसे प्रतिभावान् व्यक्ति हुए होते तो इतिहास भी विज्ञान बन गया होता। तथापि कतिपय चिन्तकों ने यह आशा व्यक्त की। यह आशा आज भी पूरी नहीं हो पाई है। इतिहास में विज्ञान के समान नियम नहीं बनाए जा सके—यहां तक कि ऐसे सूत्र या निर्देश भी नहीं जिनकी सहायता से इतिहासकार यह जान सके कि भविष्य में क्या होगा अथवा यह कि अतीत में क्या हुआ।

भौतिक विज्ञान का उपयुक्ततः एक लक्षण यह माना जाता है कि इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है; अथवा, इतिहास के दृष्टान्त में, अतीत में स्थित उन रिक्त स्थानों की प्रासंगिक नियमों के आधार पर पूर्ति कर सकना जिनके विषय में अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। पुरातत्वविज्ञान में इस प्रकार की अनुमानात्मक विधा का प्रयोग किया जाता है। किन्तु, इतिहासकारों द्वारा रिक्त स्थानों की इस प्रकार के पूर्ति-कर्म को अधिक विश्वसनीय नहीं माना जाता, और किसी भी प्रकार का अन्य प्रमाण उपलब्ध होने पर कोई भी इनका आश्रय लेना नहीं चाहेगा।

इतिहास तथा भौतिक विज्ञानों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। किसी भी विकसित भौतिक विज्ञान में विशिष्ट वृत्तों की अपेक्षा सामान्य प्रस्थापनाओं अथवा नियमों में विश्वास रखा जाता है, जबकि यह नियम इतिहास में सफलतापूर्वक काम नहीं करता। उदाहरण के लिए यह एक सामान्य तथ्य है कि कोई भी स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन सूर्य को पूर्व में उदित होते देख सकता है। यदि किसी दिन कोई व्यक्ति प्रातः उठ कर यह कहे कि उसने सारे प्रयासों के बावजूद सूर्योदय नहीं देखा, तो इस कारण वैज्ञानिक अपना सामान्य नियम बदलने की अपेक्षा इसकी कोई अन्य व्याख्या ढूंढने का प्रयास करेगा—उदाहरण के लिए उस दिन आकाश मेघाच्छन्न रहा होगा या व्यक्ति की दृष्टि में दोष था, इत्यादि। इस सामान्यीकरण में वह परिवर्तन कर सकता है, जब बार-बार विभिन्न व्यक्तियों के प्रसंग में इसी प्रकार की बात हो। इसके विपरीत इतिहास में इस प्रकार के सामान्य नियमों से सत्यनिरूपण नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे कि आस्टरलिट्ज के युद्ध में नैपोलियन ने एक विशेष प्रकार का टोप पहन रखा था तो इस कथन को इस प्रकार के किसी सामान्य सिद्धान्त के आधार पर मिथ्या नहीं कहा जा सकता कि फ्रांसीसी सेनापति अथवा राष्ट्राध्यक्ष कभी भी युद्ध में इस प्रकार का टोप नहीं पहनते थे। इतिहासकार को इस विशिष्ट बात की सत्यता का निर्धारण इस घटना से संबंधित साक्ष्यों अथवा प्रमाणों के आधार पर करना होगा। सिद्धान्त में आस्था अथवा मताग्राहिता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहासकारों के लिए गार्ला के समान है। किन्तु वैज्ञानिक इस प्रकार के सामान्य सिद्धान्त में विश्वास किए बिना अपना काम ही नहीं कर सकता। वैज्ञानिक समानताओं पर ध्यान केन्द्रित करता है, वह सामान्य में रुचि रखता है; इतिहासकार विभेदों पर ध्यान देता है। उदाहरणार्थ, जब इतिहासकार फ्रांसीसी क्रान्ति की चर्चा करता है तब वह यह नहीं ढूंढता कि इस क्रान्ति में अन्य क्रान्तियों के समान क्या है अपितु वह यह जानने का प्रयास करता है कि यह अन्य क्रान्तियों से किस प्रकार भिन्न है; वह इसका एक विशिष्ट क्रान्ति के रूप में अध्ययन करता है।

भौतिक विज्ञान का जगत् एक ऐसा जगत् होता है जिसमें इससे बाहर स्थित द्रष्टा इसके प्रत्यक्षभूत लक्षणों का सावधानी से अध्ययन करता है। वैज्ञानिक अनुमान के नियमन में कम से कम सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि अगले क्षण कुछ भी हो सकता है; वैज्ञानिक अपने सारे द्वार खोल कर रखता है; प्राकृतिक जगत् आश्चर्यों से भरपूर है; पूर्व-स्वीकृत के रूप में वह कम से कम लेना चाहता है। प्राकृतिक विज्ञान का दायित्व है प्रायः अथवा सदैव घटने के आधार पर सामान्य सिद्धान्त का निर्माण। किन्तु, मानवीय व्यापारों में इस प्रकार प्रारम्भ कर सकना असंभव है। मैं स्वयं मनुष्य हूँ और इस कारण दूसरों की अनुभूतियों, इच्छाओं तथा प्रयोजनों का मुझे ज्ञान रहता है और इसी के आधार पर मैं अपनी व्याख्या देता हूँ।

कार्यविधि के अतिरिक्त, वैज्ञानिक अध्ययन तथा ऐतिहासिक अध्ययन के उद्देश्यों में भी अन्तर होता है। इतिहास में प्रायः एक घटना के विविध कारण बताए जाते हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांस की क्रान्ति के कई कारण दिए जाते हैं: (१) फ्रांसीसी कृषक वर्ग का सामन्तों, राजा तथा चर्च द्वारा शोषण, (२) फ्रांसीसी अर्थ व्यवस्था का अव्यवस्थित स्वरूप, (३) लुई चौदहवें की मूर्खता, (४) वोल्टेयर, रुसो इत्यादि लेखकों का प्रभाव, इत्यादि। इनमें से कोई कारण अर्थशास्त्र से संबद्ध है, कोई मनोविज्ञान से एवं कोई प्रशासन से। इतिहास को विज्ञान में रूपान्तरित करने का इच्छुक व्यक्ति इन विभिन्न कोटियों के परस्पर सम्मिश्रण से घबरा उठेगा। किन्तु, इतिहास की यही विशिष्टता है कि वह इन सबको मिला कर एक घटना या फल के उत्पादक के रूप में देखता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के बहुविध आयाम हैं और इतिहासकार इन पृथक्-पृथक् आयामों को एक ही रस्सी में बंट कर एक संपूर्ण के रूप में देखता है।

इतिहास को तथा मानव जीवन के अन्य विवरणों को प्रायः कला के सदृश माना जाता है। यहाँ समान्यतया यह आशय होता है कि इसमें भी विवरण-कुशलता, रोचकता, दृष्टान्तों के चयन, तथा चरित्र-चित्रण की जीवन्तता का विशेष ध्यान रखा जाता है। किन्तु एक अन्य गंभीर अर्थ में इतिहास कला है। एक बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक व्याख्या ज्ञात तथ्यों की ऐसे प्रतिमानों के रूप में व्यवस्था है जो हमें इस कारण संतुष्ट करते हैं क्योंकि यह हमारे जीवन के साथ संगत बैठते हैं। इतिहास में जीवन के अनुभवों का सूक्ष्म तथा तात्विक अध्ययन सन्निविष्ट होता है। लोगों के स्वभाव को ठीक से समझने की क्षमता, किसी परिस्थितिविशेष में उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभावित प्रतिक्रियाओं का ज्ञान, उनके प्रयोजनों अथवा ध्येयों, सिद्धान्तों तथा विचारों में 'प्रवेश' की योग्यता—ये गुण इतिहासकार के लिए अपरिहार्य हैं किन्तु वैज्ञानिक के लिए नहीं।

अतीत का पुनर्निमाण इतिहासकार केवल अपने विचारों एवं कोटियों के परिप्रेक्ष्य में नहीं करता अपितु उसे यह भी जानना होता है कि जिन लोगों ने इन घटनाओं में भाग लिया उनका इनके विषय में क्या विचार अथवा अनुभूतियां थीं। रसायनशास्त्री अथवा भौतिकविज्ञानशास्त्री यह जानने को बाध्य नहीं हैं कि लावाजिए (Lavoisier) अथवा ब्वायल (Boyle) की मनःस्थितियां कैसी थीं अथवा यूक्लिद (Euclid) एवं न्यूटन (Newton) का सामान्य दृष्टिकोण क्या था। विशुद्ध अर्थशास्त्री के रूप में अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (Adam Smith) तथा कीन्स (Keynes) की अन्तर्दष्टि की उपेक्षा कर सकता है। किन्तु इतिहासकार के लिए यह अपरिहार्य है कि वह केवल यह जिज्ञासा न करे कि क्या घटा अपितु यह भी कि विभिन्न प्रतिनिधि व्यक्तियों ने उस स्थिति को किस रूप में देखा—१७८९ में फ्रांसीसियों ने, १९१७ में रूसवासियों ने क्रान्ति के विषय में किस प्रकार विचार किया। ऐतिहासिक अध्ययन तथा वैज्ञानिक अध्ययन को पृथक् वह तत्वविशेष करता है जो कि एक बाह्य द्रष्टा तथा एक कर्त्ता में विभेद करता है। यह अन्तर 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' पक्षों का अन्तर है। वैज्ञानिक केवल द्रष्टा होता है जबकि इतिहासकार को 'आभ्यन्तर' पक्ष में प्रवेश करके उसे जानना होता है।

इतिहासकार में जिस प्रकार की प्रतिमा की अपेक्षा होती है, वह वैज्ञानिक में अपेक्षित प्रतिभा से भिन्न है। वैज्ञानिक सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करता है, सामान्यतः संबद्ध विचारों को अलग करता है, सभी कुछ को नियमितताओं के स्तर पर लाता हैं एवं वस्तुओं की पुनरावर्तनात्मकता को एक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इतिहासकार में भी सामान्य को समझने की योग्यता होनी आवश्यक है किन्तु उसमें विलगता के स्थान पर संबद्धता ढूंढने की, अंशों का संपूर्ण के साथ संबंध देखने की, व्यक्तियों को जोड़ने वाले संबंधों के अभिज्ञान की योग्यता होनी चाहिए। उसे यह समझ सकने में सक्षम होना चाहिए कि कैसे विविध घटक मिल कर एक निश्चित तथा परस्पर सुग्रथित स्वरूप बनाते हैं। इतिहासकार के ये गुण किसी प्रयोगशाला में किए जाने वाले अध्ययन में अपेक्षित गुणों की अपेक्षा व्यावहारिक मानव कार्य-व्यापारों के संदर्भ में अपेक्षित गुणों के सदृश होते हैं।

३. इतिहास का अर्थ

[यदि इतिहास मानव-अनुभव को समझने का मार्ग है तो इतिहासकारों तथा अन्यों द्वारा इसकी ओर मानव-नाटक में निहित अर्थ प्रदान करने की आशा से देखने में कोई आश्चर्य नहीं है। इतिहास में निहित अर्थ का प्रश्न प्रगति के प्रश्न से संबद्ध है। इस अवधारणा का प्रारम्भ १७वीं शताब्दी से हुआ और १८वीं शताब्दी के अन्त तक इसके चार घटक प्रतिष्ठित हुए : भौतिक प्रगति, ज्ञान की प्रगति,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मस्तिष्क की प्रगति तथा सामाजिक प्रगति। किन्तु १९वीं शताब्दी में इसमें आदर्श प्रगति का आयाम भी जुट गया, जो मूल विचार के विपरीत थी।

प्रगति की अवधारणा का प्रारम्भ बेकन ने किया। वह विज्ञान के प्रगतिशील स्वरूप का अवबोध करने वाला प्रथम व्यक्ति नहीं था किन्तु उसने अधिक जानने तथा और अधिक कैसे किया जाय इस ज्ञान के पारस्परिक संबंध की ओर ध्यानाकर्षण किया। इस प्रकार विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के बीच संबंध का स्थापन बहुत पहले हो गया और यह आशा व्यक्त की गई कि तकनीकी ज्ञान से मनुष्य की वर्तमान स्थिति में सुधार होगा। ज्ञान की प्रगति तथा भौतिक प्रगति साथ-साथ अग्रसर हुई। दोनों ही प्रगतियां मस्तिष्क की प्रगति पर निर्भर थीं, क्योंकि बेकन का विचार था कि संस्कृति के एक लक्ष्य के रूप में विज्ञान का उद्देश्य सभ्य बनाना था। बेकन ने विज्ञान में तर्कशीलता तथा परार्थपरता के दो मूल्यों का आरोपण किया जिन पर तीसरी प्रकार की प्रगति—अर्थात् समाज की प्र गति-आधारित थी।

यदि विज्ञान के विकास ने अतीत में मनुष्य की प्रगति को नियंत्रित किया है, तथा विज्ञान को इसकी कार्यविधि के आधार पर परिभाषित किया जाता है तो वैज्ञानिक कार्यविधि इतिहास में व्याख्या का सिद्धान्त है। साथ ही यदि भविष्य में समाज की प्रगति विज्ञान के निरन्तर विकास पर निर्भर है तो इसके विकास को निर्धारित करने वाले घटकों—उदाहरण के लिए विचार की स्वतन्त्रता—की खोज हमें वृद्ध्योन्मुख स्वतन्त्रता द्वारा प्रगति को आगे बढ़ाने का अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार के ज्ञानोद्दीप्ति युग (Enlightenment) के अनुसार, हमने सामाजिक परिवर्तन के नियमों में से एक नियम को पा लिया है। इस प्रकार के ज्ञान से संपन्न मनुष्य अपने मस्तिष्कों तथा शरीरों को चर्च तथा राज्य के शोषणों से मुक्त करने का प्रयास करता हुआ अंततः एक नैतिक समाज की रचना कर सकता है। इस दृष्टान्त में, पृथ्वी पर शान्ति तथा कल्याण लाने के लिए मनुष्य को शिक्षित करने की आवश्यकता है; और तब वह अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए कार्यरत होगा। ज्ञानोद्दीप्ति ने विज्ञान से व्यवस्थित शंकालुता ग्रहण की, और इसके इतिहास के लाभों को ढूंढा। वैज्ञानिक प्रगति के संदेहविहीन तथ्य की प्राप्ति से यह स्पष्ट है कि हमने इतिहास में अथवा परिवर्तन क्रम में इस प्रकार की प्रगति की है। प्रगति हमें अतीत से पृथक् करती है; परिवर्तन-क्रम से यह निहित है कि हमारी अतीत से—तथा भविष्य से भी—निरन्तरता है। इस प्रकार हम भविष्य की ओर उन अच्छी वस्तुओं—भौतिक तथा मानसिक दोनों—की आशा से देख सकते हैं जो मनुष्य को उसके युगों से बने अनेक बोझों से मुक्त कराएगी। किन्तु प्रगति का चयन करने वाले व्यक्ति को किसी भी बिन्दु पर यह निर्धारित करना होता है कि कौन से लक्ष्य प्रगति सूचक है तथा कौन से साधन उनके उद्देश्य से संगत है। उसे विकल्पों में से चुनना होता है और यह करने में स्पष्ट चिन्तन का दायित्व एक नैतिक दायित्व होता है। ज्ञानोद्दीप्ति युग ने नीतिशास्त्र की प्रमुखता की चर्चा करते हुए तर्कबुद्धि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की प्रधानता पर बल दिया क्योंकि मनुष्य की तर्कबुद्धि द्वारा ही नैतिक जीवन प्रतिष्ठित होता है। मनुष्य की तर्कबुद्धि की उसकी स्वतन्त्रता के साथ अभिन्नता पूर्णत्व को प्राप्त हुई।

दार्शनिकों के लिए विज्ञान एक आशादायी पथ था जिसके क्रान्तिकारी निहितार्थ थे। इसी कारण १९वीं शताब्दी के सामाजिक चिन्तकों ने इतिहास को विज्ञान के रूप में परिभाषित किया। किन्तु १९वीं शताब्दी में विकसित सामाजिक विज्ञान की अवधारणा उससे बहुत कुछ भिन्न है जो इससे पहले सामाजिक विकास के रूप में जानी गई थी। १८वीं शताब्दी में कोंदोरसे द्वारा विज्ञान का समर्थन केवल समाज के परिष्कार से संबद्ध था, क्योकि इससे स्वतन्त्रता तथा समानता—जो कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है—की वृद्धि होती है। कोंदोरसे के मत में विज्ञान तथा इतिहास दोनों ही मनुष्य की उन्नति की प्रतिश्रुति नहीं देते अपितु उसे केवल नैतिक बनने का समय तथा वातावरण प्रदान करते है। उसका विचार था कि मनुष्य स्वयं अपनी नियति का नियंत्रण करता है और मनुष्य के अन्दर परिष्कर करने की क्षमता है। विज्ञान को नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए, किन्तु नीतिशास्त्र को वैज्ञानिक नियमों के आधार पर नहीं निरूपित होना चाहिए। ऐसा करना विज्ञान तथा नीतिशास्त्र दोनों को गलत समझना होगा और इस प्रकार इतिहास में जो उपलब्ध करना चाहिए वह इतिहास के **रूप में** परिभाषित होगा। क्योंकि स्पष्टरूपेण विज्ञान की वस्तुसामग्री विवरणात्मक होती है जब कि नीतिशास्त्र की आदेशात्मक। प्रगति को इतिहास का आवश्यक लक्षण मानने से—जैसा कि १९वीं शताब्दी में हुआ—हमारी आध्यात्मिक चिन्तनाओं को वैज्ञानिक निर्वैयक्तिकता का भान हो सकता है किन्तु यह हमें अपने लक्ष्यों तथा कार्यों के निर्धारण में चयन करने से बंचित कर सकता है। विज्ञान में यह आग्रह किया जा सकता है कि प्रकृति में जो है वह वह है जो होना चाहिए, किन्तु इतिहास में इस प्रकार का आग्रह इन ज्ञान-मींमांसीय प्रश्न को उठाना होगा कि हम यह कैसे जानते हैं? और अन्ततः आगे की गवेषणा से विमुख होना होगा।

आधुनिक युग में इतिहास के अर्थ को परिभाषित करने का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण प्रयास जी० डब्लू० एफ हीगल के इतिहास दर्शन पर व्याख्या (१८२६) में प्राप्त होता है। हीगल ने नैतिक अर्थ की समस्या का इस घोषणा से समाधान किया कि इतिहास, जगत् के प्रति ईश्वर की परियोजना सेसंगति रखते हुए, नैतिक उन्नति की ओर प्रगति करता है; किन्तु इस प्रकार की उन्नति मनुष्य के इतिहास के उद्देश्य तथा कार्यविधि की चेतना द्वारा प्राप्त की जाती है। परिणामतः हीगल के लिए यह अर्थ इतिहास में ही अन्तर्भूत है। हीगल के अनुसार सत्यता का स्रोत प्रत्यय (Idea) अथवा ईश्वर में है जो कि प्रकृति में केवल अव्यक्तरूपेण स्थित है किन्तु जो स्वयं को इतिहास में चेतना (Spirit) के रूप में अभिव्यक्त करता है। इतिहास उद्देश्यमूलक है। इतिहास का लक्ष्य स्वातन्त्र्य है, जिसे यहां आत्मबोध की नैतिक अपेक्षा के रूप में परिभाषित किया गया है। इस स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास के उपादान 'जन-नायक' (Hero)—विभिन्न अलेक्जैण्डर तथा नेपोलियन—होते हैं जो 'बुद्धि की चतुराई' (Cunning of Reason) द्वारा इतिहास को विकसित करने के लिए चुने जाते हैं। इतिहास राज्य—जो कि साधन और लक्ष्य दोनों का इतिहास की किसी भी अवस्था में सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक है—के माध्यम से बोलता है। हीगल के मत में मनुष्य तथा प्रत्यय अभिन्न हैं। उसके मत में इतिहास एक 'ईश्वरन्यायवाद' (Theodicy) है; सभी कुछ वैसा ही है जैसा इसे होना चाहिए, अथवा इतिहास का अपना विवेक है जिसे मनुष्य का विवेक नहीं जानता। स्वातन्त्र्य की प्राप्ति राज्य में होती है तथा इसकी अभिव्यक्ति नियम में होती है, जो कि नैतिकता की समष्टि होता है। राज्य एक साथ ही यह सब कुछ है : स्वातन्त्र्य, आवश्यकता, नियम, नैतिकता। दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपने ऐतिहासिक सत्य को राज्य से प्राप्त करता है। राज्य के प्रति उसका आज्ञापालन उसकी नैतिकता की समष्टि होता है क्योंकि इस प्रकार के आज्ञापालन से वह प्रगति में—जो कि ईश्वर द्वारा पूर्वनिर्धारित है—योगदान करता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि हीगल की प्रतिक्रिया में बहुतेरे इतिहासकार 'वैज्ञानिक' इतिहास की ओर उन्मुख हो गए, यद्यपि इस प्रकार में भी यह सुझाव निहित था कि सभी कुछ वैसा ही है जैसा होना चाहिए किन्तु इसमें यह बात इतनी स्पष्टता से नहीं कही गई है।

टाल्सटाय—जैसा कि इसाइया बर्लिन से उसके विषय में कहा है—ने इतिहास में एक विशद् योजना का दर्शन किया, और इस रूप में वह इतिहासकार की अपेक्षा वैज्ञानिक के अधिक निकट है। प्रत्येक वैज्ञानिक विशिष्टों में एक सामान्य की खोज करता है जिसमें उसकी अभिव्यक्ति होगी। टाल्सटाय के समान वह उस लोमड़ी की तरह है जो कण्ठमूषक बनना चाहती है; अर्थात् यह कि वह वृक्षों के स्थान पर जंगल देखना चाहता है। वास्तविकता यह है कि इतिहास में कण्ठमूषक तथा लोमड़ी की समस्या, एक के बहुतों की विपरीतता में स्थित होने की समस्या, एक मिथ्या समस्या है। इतिहासकार को एक तथा बहुत, एकात्मकता तथा विविधता, विशिष्ट तथा सामान्य, स्थिरता तथा परिवर्तन सभी का ज्ञान होना चाहिए और स्वयं इतिहास में प्राप्य अर्थ का निर्माण करना चाहिए।

इतिहास क्या है ? अपनी इस पुस्तक में कार ने लगभग इसी प्रकार तर्क किया है किन्तु अनजाने में उसने अपनी कृति को दो भागों में विभाजित किया है। कार के इस कथन पर कोई विवाद नहीं हो सकता कि इतिहास अतीत तथा वर्तमान के बीच निरन्तर चलने वाला संवाद हैं, तथ्य तथा व्याख्या के बीच एक घनिष्टतापूर्ण सम्बन्ध है, तथा यह है कि हम इतिहास के विषय में सामान्य सिद्धान्तों को बनाने को बाध्य होते हैं जिसकी सहायता से अतीत का बोध होता है। किन्तु परिवर्तन-क्रम की चर्चा से वह अपने प्रगति के अर्थ को परिवर्तित कर देता है। कार प्रगति को जन-सामान्य में राजनैतिक चेतना के अभ्युदय के रूप में परिभाषित करता है, जिससे अब तक लाभ हुआ है और भविष्य में भी होगा। वह हमें भविष्य की तरंगों पर आरूढ़ होने की सलाह देता हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जी० डब्लू० एफ० हीगल : 'इतिहास में विवेक'

[हीगल (१७७०–१८३१) ने १८२२–२३ में इतिहास-दर्शन पर अपने व्याख्यान दिए; उसके **इतिहास-दर्शन** में पहली बार इतिहास दार्शनिक विचार के स्तर को प्राप्त करता है। वह एक नए प्रकार का इतिहास प्रस्तावित करता है जिसे इतिहास का दर्शन कहा जाना चाहिए; उसकी चिन्तना में इतिहास-दर्शन इतिहास के ऊपर दार्शनिक चिन्तन मात्र नहीं है अपितु स्वयं इतिहास को एक उच्चतर शक्ति से संयुक्त बनाया गया है तथा तत्परिणामस्वरूप जो दार्शनिक स्वरूप वाला हो गया है। इतिहास के सम्बन्ध में उसके विचार एक असाधारणतया सर्वव्यापी दर्शन में सन्निविष्ट हैं। साथ ही उसका इतिहास-सिद्धान्त उसके राजनीतिक दर्शन के साथ घनिष्टरूपेण संलग्न है और यह राजनीतिक दर्शन स्वयं मन अथवा चेतना के एक समष्टिरूप दर्शन का एक आवश्यक अङ्ग है। हीगल के अनुसार, इतिहास के ऊपर चिन्तन में प्रवृत्त दार्शनिक का प्रमुख कर्त्तव्य अतीतकाल में घटित घटनाओं में निहित 'विवेकपूर्णता' को ढूंढना है; "विवेक अथवा बुद्धि ही विश्व का सार्वभौम शासक है; और इस कारण विश्व हमारे सामने एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत करता है।" इतिहास के उपर्युक्त दार्शनिक विवेचन के लिए यह अपेक्षित है कि यह विवेक को घटनाओं की प्रक्रिया में क्रियाशील रूप में खोजें; इसे ये दोनों बातें स्पष्ट करनी चाहिए : जिसकी उपलब्धि हो रही है और साथ ही साथ यह उपलब्धि कैसे हुई। इतिहास का 'चेतना' के जीवन से सम्बन्ध है। चेतना की मुख्य विशिष्टता आत्म-गति अथवा स्वातन्त्र्य है। इसके ही आधार पर अन्य आध्यात्मिक विशिष्टताओं का अस्तित्व बनता है। इस स्वातंत्र्य का बोध ही इतिहास का 'लक्ष्य' है। इस लक्ष्य की प्राप्ति 'इच्छा-शक्ति' द्वारा होती है।

हीगल के अनुसार, मनुष्य—वे चाहें अथवा नहीं—एक विवेकपूर्ण लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं; उनके कर्म "एक उच्चतर तथा अधिक व्यापक उद्देश्य के साधन तथा उपादान होते हैं जिसके विषय में वे स्वयं भी अनभिज्ञ होते हैं।" यह बात केवल जन-समूह के लिए ही नहीं अपितु उन जननायकों पर भी लागू होती हैं जो इतिहास में समय समय पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं वे भी अपने कार्यों के प्रच्छन्न निहितार्थों को नहीं समझते। वे भी अपने वैयक्तिक लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं जो केवल स्वातन्त्र्य के विकास की अपेक्षाओं से संगत बैठता है। व्यक्तियों को ध्यान में रख कर यह नहीं जाना जा सकता कि किस प्रकार विवेक विश्व पर शासन करता है। वस्तुतः मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता के लिए 'राज्य' की सामाजिक संस्था की अपेक्षा होती है। हीगल का राज्य "जन-जीवन के अन्य सभी मूर्त तत्वों—कला, विधि, नैतिकता, धर्म, विज्ञान का आधार तथा केन्द्र है"; यह "नैतिक अभिष्ट", "स्वातंत्र्य की यथार्थता", "चेतना की वस्तुनिष्ठात्मकता" है; यह "पृथ्वी पर अस्तित्वमान दैवी प्रत्यय" है।]

विवेक स्वयं को पूर्ण स्वतन्त्रता में निर्धारित करने वाला विचार है। ....विश्व-इतिहास चेतना के क्षेत्र में विकसित होता है।............चेतना के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वभाव को इसके विरोधी भूतद्रव्य के अवलोकन से समझा जा सकता है। भूतद्रव्य का सार गुरुत्व है जबकि चेतना का सार स्वतंत्र्य है। दर्शन हमें सिखाता है कि चेतना के सभी अनुधर्म स्वातंत्र्य के माध्यम से ही अस्तित्वमान होते हैं। ये सभी स्वातंत्र्य की प्राप्ति के साधनमात्र हैं; सभी केवल इसी को पाने का प्रयास करते हैं, उत्पन्न करते हैं। स्वातंत्र्य ही चेतना का एकमात्र सत्य है। भूतद्रव्य मूलतः संघटनात्मक होता है जिसके सभी भाग एक दूसरे का बहिष्कार करते है। इसका केन्द्रबिन्दु इसके बाहर होता है। चेतना का केन्द्रबिन्दु स्वयं इसके अन्दर स्थित होता है। इसकी एकता इसके बाहर नहीं होती अपितु इसके अपने अन्दर होती है। चेतना का स्वतः अन्तर्विष्ट अस्तित्व होता है। किन्तु, वस्तुतः यह ही स्वातंत्र्य है। क्योंकि किसी अन्य पर निर्भर होने पर मैं स्वयं को उसके प्रति सन्दर्भित करता हूं। मै तभी स्वतन्त्र हूं जब कि मै स्वयं के अन्दर रहूं। चेतना का स्वतः अन्तर्विष्ट-अस्तित्व आत्म-बोध है, आत्मा का बोध है।

बोध में इन दो पृथक् वस्तुओं में विभेद करना चाहिए : प्रथम यह कि मैं जानता हूँ तथा, दूसरा, मैं क्या जानता हूं। आत्म-बोध में ये दोनों ही मिली हुई होती हैं क्योंकि चेतना स्वयं को जानती है। इस अमूर्त्त परिभाषा के अनुसार यह कहा जा सकता है कि विश्व-इतिहास स्वयं अपने स्वभाव का ज्ञान पाने का प्रयास करने वाली चेतना का प्रदर्शन है। जिस प्रकार बीच में वृक्ष का संपूर्ण स्वभाव, इसके फल का स्वाद तथा आकार, अन्तर्भूत होता है उसी प्रकार वस्तुतः चेतना के प्रश्न चिन्हों में ही संपूर्ण इतिहास अन्तर्विष्ट रहता है।········विश्व-इतिहास स्वातंत्र्य के बोध का विकास है।

दर्शन का दायित्व हमें यह अन्तर्दृष्टि प्रदान करना है कि वास्तविक विश्व वैसा ही है जैसा कि इसे होना चाहिए था, कि वास्तविक श्रेयस्, सार्वभौमिक दैवी विवेक स्वयं को सत्यान्वित कर सकने में समर्थ शक्ति है। यह श्रेयस्, यह विवेक अपने सर्वाधिक मूर्त्त स्वरूप में ईश्वर है। ईश्वर जगत् का शासक है। उसके शासन का वास्तविक कार्यसंचालन, उसकी योजना का परिचालन ही विश्व का इतिहास है। दर्शन इस योजना को जानने का प्रयास करता है क्योंकि केवल वही जिसका परिचालन इसके अनुरूप हुआ है यथार्थ है, जो इसके संगत नहीं है उसका केवल निरर्थक अस्तित्व है। विवेक के परम उद्देश्य की सिद्धि किस वस्तु में होती है? सर्वप्रथम यह वस्तु स्वयं व्यक्ति, मानवीय इच्छाएं, सामान्यतः वैयक्तिकता स्वयं है। मानवीय ज्ञान तथा इच्छा को आधार बना कर तर्कबुद्धि अस्तित्व में आती है। सीमित भावसंवेगों में वैयक्तिक इच्छा के रूप में यह परतंत्र होती है तथा अपनी विशिष्ट इच्छाओं को इस परतंत्रता के अन्दर ही संतुष्ट कर सकती है। किन्तु वैयक्तिक इच्छा का एक वास्तविक जीवन या यथार्थ भी होता है, जहां कि यह मूल सत्ता के क्षेत्र में विचरण करती है तथा इस मूल को ही अपने अस्तित्व के लक्ष्य के रूप में प्राप्त करती है; यह नैतिक समष्टि अथवा राज्य है। यही वास्तविकता है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को पाता है और इसका आनंद भोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करता है। व्यक्ति का कामचार स्वतंत्रता नहीं है। निमय, नैतिकता, राज्य ही वास्तविक यथार्थ है और स्वातंत्र्य को निश्चित बनाते हैं। इस प्रकार विश्व-इतिहास का निश्चित विषय राज्य है। इसमें ही स्वतंत्रता अपनी वस्तुनिष्ठता की उपलब्धि करती है और इस वस्तुनिष्ठता के आनंदभोग में निवास करती है। नियम चेतना की वस्तुनिष्ठता है : यह ही अपने वास्तविक रूप में इच्छा है। केवल नही इच्छा स्वतंत्र है जो कि इसका आज्ञापालन करती है क्योंकि ऐसा करते हुए वह स्वयं का आज्ञापालन करती है तथा स्वयं में होने के कारण स्वतंत्र होती है।

इतिहास स्वयं में वस्तुनिष्ठात्मक एवं विषयपरक दोनों पक्षों को सन्निविष्ट करता है। इसका अर्थ है घटनाएं तथा घटनाओं का विवरण दोनों ('गेशेहेन' तथा 'गेशिश्ते' दोनों)। इन दोनों अर्थों के संबंध को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। हमें यह मानना चाहिए कि इतिहास का विवरण तथा ऐतिहासिक कर्म एवं घटनाएं साथ ही घटित होते हैं : एक उभयनिष्ठ आन्तरिक सिद्धान्त दोनों को साथ लाता है।

चेतना मुख्यतः अपने ही कार्य व्यापार का परिणाम है। इसका कार्य-व्यापार वर्तमानतः प्रदत्त के परे गमन है, इसका निषेध तथा फिर स्वयं में प्रत्यागमन है। विश्व के इतिहास को केवल चेतना का प्रकाशन मानते हुए हम वस्तुतः सदैव वर्तमान से संबद्ध रहते हैं—हमारे सर्वेक्षण का विषय अतीत चाहे जितना लम्बा क्यों न हो (क्योंकि कोई भी समय ऐसा नहीं है जिसमें चेतना का अस्तित्व नहीं रहा है अथवा नहीं रहेगा; यह न तो था, न इसे होना है; यह सदैव ही विद्यमान है)। 'प्रत्यय' सदैव विद्यमान है, चेतना अनश्वर है। इसका यह आशय है कि चेतना की वर्तमान अवस्था में सभी अतीतकालिक अवस्थाएं अन्तर्विष्ट हैं। विभिन्न अवस्थाएं यह स्वयं में जो है उसका विकास है। सदैव विद्यमान चेतना का जीवन एक ओर साथ-साथ सहास्तित्व वाली किन्तु, दूसरी ओर, गतकाल हो गई प्रतीत होने वाली अवस्थाओं का एक चक्र है। वे क्षण जिनके विषय में ऐसा लगता है कि चेतना ने इन्हें पीछे छोड़ दिया है, इसके वर्तमान की गहराई में सदैव बने रहते हैं।

इसाइया बर्लिन : 'कण्ठमूषक तथा लोमड़ी'

यूनानी कवि आर्किलोकस की एक पंक्ति है : 'लोमड़ी कई बातें जानती है किन्तु कण्ठमूषक एक बड़ी बात जानता है।' विद्वानों में इन शब्दों के अर्थ पर मतवैभिन्य रहा है किन्तु इसका अर्थ केवल यह हो सकता है कि अपनी धूर्तता के बावजूद लोमड़ी कण्ठमूषक के एक बचाव के आगे पराजित हो जाती है। किन्तु लाक्षणिक रूप में लिए जाने पर इन शब्दों को एक अन्य अर्थ में भी लिया जा सकता है जिसमें वे लेखकों तथा चिन्तकों अथवा, संभवतः सामान्यतः, मनुष्यों में स्थित एक विशिष्ट विभेद को चिन्हांकित करते हैं। क्योंकि इन दो प्रकार के लोगों में भारी अन्तर है : एक ओर तो ऐसे लोग जो सभी बातों को एक केन्द्रीय दृष्टि से, एक न्यूनाधिक संगत तथा स्पष्ट व्यवस्था से संबद्ध करते हैं मात्र जिसके ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ में उनके अस्तित्व अथवा कथन का कोई महत्व है, तथा, दूसरी ओर, ऐसे लोग जो प्रायः असंबद्ध एवं परस्पर विरोधी, कई उद्देश्यों के प्रति कार्योन्मुख होते हैं; ये दूसरे प्रकार के लोग ऐसा जीवन जीते हैं, ऐसे कार्य करते हैं और ऐसे विचार रखते हैं जो केन्द्राभिसारी न होकर केन्द्रापसारी होते हैं; उनका विचार बिखरा हुआ तथा कई स्तरों पर गतिशील होता है और इन्हें वे किसी एक अपरिवर्तनीय, सर्वव्यापी अन्तर्दृष्टि के साथ जोड़ने का उपक्रम नहीं करते। पहले प्रकार का बौद्धिक तथा कलात्मक व्यक्तित्व कण्ठमूषक का होता है एवं दूसरे प्रकार का लोमड़ी का; एवं बिना किसी प्रत्याख्यान के डर के यह कहा जा सकता है कि दान्ते को प्रथम कोटि में तथा शेक्सपीयर को दूसरी कोटि में रखा जाएगा। यहां जो उपकल्पना में प्रस्तुत करना चाहता हूं वह यह है कि टाल्सटाय स्वभावतः लोमड़ी था किन्तु अपने को कण्ठमूषक मानता था; कि उसकी प्रतिभा एवं उपलब्धि एक वस्तु है, एवं उसके विश्वास और परिणामतः अपनी उपलब्धि के विषय में उसकी अपनी व्याख्या दूसरी वस्तु; और इसके परिणामस्वरूप उसके आदर्श ने उसे तथा जिनको वह अपनी बात में विश्वास करा सका उनको वह तथा अन्य क्या कर रहे थे अथवा क्या करते इस बात की व्यवस्थित ढंग से गलत व्याख्या प्रदान की है।

इतिहासकार का कर्त्तव्य क्या वैयक्तिक अनुभव की सामग्री का—व्यक्ति द्वारा किये गये व्यक्तिगत जीवनों का, उनके विचारों, ज्ञान, काव्य, संगीत, प्रेम, मित्रता, घृणा, भाव-संवेगों (जो टाल्सटाय के अनुसार 'वास्तविक' जीवन का निर्माण करते हैं) का विवरण प्रदान करना तथा केवल इसी दायित्व का निर्वाह करना है ? तुर्गनेव ने टाल्सटाय तथा अन्य लेखकों को—किन्तु विशेषरूपेण टाल्सटाय को–इसी बात का आह्वान किया था क्योंकि उसकी प्रतिभा इसी में निहित थी। इसमें संदेह नहीं कि इस क्षेत्र में उसके पास अद्भुत प्रतिभा थी एवं इसी कारण उसकी प्रशंसा है। किन्तु स्वयं टाल्सटाय ने अपने जीवन की अंतिम धार्मिक अवस्था के पूर्व इस बात की सदैव भर्त्सना की; क्योंकि यह जो अस्तित्व में है उससे संबद्ध प्रश्न का उत्तर नहीं प्रदान करता और न ही यह व्याख्यायित करता है कि यह कैसे अस्तित्व में आता है और फिर गतकाल हो जाता है। व्यक्तियों के आन्तरिक जीवनों के अनुभव, पारस्परिक संबंधों तथा समस्याओं का विश्लेषण तथा विवरण प्रदान करने का कार्य उसकी दृष्टि में निरर्थक तथा मिथ्यात्वपूर्ण था। टाल्सटाय का उद्देश्य सत्य की खोज है और इस कारण उसे यह जानना है कि इतिहास के अन्तर्भूत तत्व क्या हैं और फिर उनकी पुर्नरचना करना है। इतिहास विज्ञान नहीं है और समाज शास्त्र, जो कि विज्ञान होने का दावा करता है, एक धोखा है; कोई भी प्रामाणिक ऐतिहासिक नियम नहीं खोजा जा सका है तथा प्रयोग में प्रचलित अवधारणाएं—'कारण', 'संयोग', 'प्रतिभा'—कुछ भी स्पष्ट नहीं करतीं; ये केवल अज्ञान के पतले आवरण हैं। वे घटनाएं जिनकी समग्रता को हम इतिहास कहते हैं अपने घटित होने वाले रूप में ही घटती हैं ? कुछ इतिहासकार घटनाओं को व्यक्तियों के कर्म से संबद्ध करते हैं किन्तु यह कोई उत्तर नहीं है : क्योंकि वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह नहीं व्याख्यायित करते कि कैसे ये कर्म उन घटनाओं को उत्पन्न करते हैं जिन्हें इनके कारण उत्पन्न माना जाता है।

टाल्सटाय का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मानव-जीवन भी प्रकृति की अन्य वस्तुओं के समान ही एक प्राकृतिक नियम से नियंत्रित होते हैं; किन्तु मनुष्य इस अपरिहार्य प्रक्रिया का सामना न कर सकने के कारण उसे स्वतंत्र चयनों के अनुक्रम के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं और जो घटता है उसका उत्तरदायित्व ऐसे व्यक्तियों पर आरोपित करते हैं जिन्हें वे वीरोचित गुणों तथा दुर्गुणों से विभूषित करते हैं तथा उन्हें 'महान् पुरुष' की संज्ञा प्रदान करते हैं। टाल्सटाय सार्वभौमिक नियम का कोई भी अपवाद स्वीकार करने को तैयार नहीं है; कारणात्मक नियम या तो सर्वव्यापी है अथवा कतई नहीं है तथा इस कारण अव्यवस्था का शासन रहता है। मनुष्य के कार्य सामाजिक संबंधों से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। किन्तु वस्तुतः वे स्वतंत्र नहीं होते न हो सकते हैं, वे उसके अंग होते हैं। 'शक्ति' तथा 'संयोग' कारणात्मक बंधनों के अज्ञान के नाम हैं किन्तु बंधन रहते ही हैं चाहे हम उनका अनुभव करें अथवा नहीं। सौभाग्य से हम नहीं करते क्योंकि उस स्थिति में हम कार्य ही नहीं कर सकते और इस भ्रम के निवारण से हमारे सुखकर अज्ञान पर आधारित जीवन ही निष्क्रिय बन जाएगा। किन्तु, यह एक अच्छी बात है कि हम भी सभी कारणात्मक बंधनों को नहीं जान सकेंगे : इस प्रकार के कारणों की संख्या अनन्त है तथा ये कारण अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं; इतिहासकार इनके एक बहुत ही छोटे अंश को चुनता है तथा सब कुछ को इस स्वेच्छापूर्वक चयन किए गए छोटे अंश से संबद्ध करता है।

टाल्सटाय की प्रतिभा यह है कि उसमें उन विशिष्ट तत्वों के दर्शन की क्षमता थी जिनके कारण कोई प्रदत्त वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से असामान्यरूपेण भिन्न बनती है। तथापि उसमें सार्वभौमिक व्याख्यात्मक सिद्धान्त की प्राप्ति की उत्कट इच्छा थी। इस दृढ़ विश्वास से प्रेरित हो कर एक वास्तविक विश्लेषक के रूप में वह उन सभी समाधानों के खण्डन में प्रवृत्त हुआ जो, उसके अनुसार, उस सिद्धान्त का प्रकाशन नहीं करते थे। और जितनी ही अधिक यह शंका उसके मन में जड़ पकड़ती गई कि इस प्रकार की खोज व्यर्थ है, उतनी ही अधिक उसकी आलोचना तीक्ष्ण होती गई। वह एक सामंजस्यपूर्ण विश्व की इच्छा रखता था किन्तु उसे सर्वत्र युद्ध तथा अव्यवस्था दिखाई पड़ रही थी जिसे किसी भी प्रवंचना द्वारा छिपाया नहीं जा सकता था। और अन्ततः निराशा की अपनी अंतिम अवस्था में उसने अपनी आलोचना के शस्त्र को—जिसके प्रयोग में वह अपूर्वरूपेण सक्षम था—एक एकाकी महान् दृष्टि के पक्ष में त्याग दिया; यह सामान्य बौद्धिक प्रक्रियाओं से अत्यन्त परे स्थित एवं अत्यन्त सूक्ष्म तथा इस कारण तर्क के उपकरणों से अनभ्याक्रमणीय वस्तु थी और इस कारण संभवतः इससे शान्ति तथा मुक्ति की आशा की जा सकती थी। टाल्सटाय वस्तु की गहराई में जाकर देखने वाला व्यक्ति था; ऐसा करने पर उसने जो देखा वह उसे देखे बिना तथा यहां तक कि उन पर शंका किए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिना नहीं रह सकता था। मिथ्या वस्तु के प्रति उसकी ध्वंसात्मक प्रवृत्ति ने आत्म-प्रवंचना के उसके प्रयास को खंडित किया; और वह एक मानसिक पीड़ा के साथ मरा—अपनी बौद्धिक निर्भ्रान्ति तथा चिरस्थायी नैतिक भूल के अपने बोध के भार से दभित व्यक्ति के रूप में; वह ऐसे लोगों में महानतम है जो वह जो है तथा जो होना चाहिए के बीच स्थित विरोध को न तो सुलझा सकते थे और न उसे बिना सुलझा हुआ छोड़ने के लिए तैयार थे।

ई० एच० कार : "इतिहास क्या है ?"

इतिहासकार तथा इतिहास के तथ्य एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं; बिना तथ्यों के इतिहासकार आधारहीन एवं व्यर्थ है, बिना इतिहासकार के तथ्य जीवनविहीन तथा निरर्थक होते हैं। अतएव, इतिहास क्या है ? इस प्रश्न के प्रति मेरा प्रथम उत्तर यह है कि इतिहास इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की अविच्छिन्न प्रक्रिया है। इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की यह आदानप्रदानात्मक प्रक्रिया जिसे मैंने वर्तमान तथा अतीत के बीच संवाद की संज्ञा प्रदान की है—अगोचर अथवा एकाकी व्यक्तियों के बीच होने वाला संवाद नहीं अपितु वर्तमानकालिक समाज तथा अतीतकालिक समाज के बीच होने वाला संवाद है। अतीत केवल वर्तमान के संदर्भ में बुद्धिगम्य होता है। और वर्तमान को संपूर्णतः केवल अतीत के प्रकाश में समझा जा सकता है। मनुष्य को अतीत-कालिक समाज को समझने के योग्य बनाना तथा वर्तमानकालिक समाज के ऊपर उसके नियंत्रण की वृद्धि कराना—इतिहास का यह द्विविध कर्त्तव्य है।

इतिहास एक संघर्ष-प्रक्रिया है जिसमें परिणामों—हम उन्हें अच्छा माने या बुरा-की प्राप्ति कुछ वर्गों द्वारा दूसरे वर्गों की कीमत पर प्राप्त होती है। दुःख इतिहास में अन्तर्निहित है। यह एक जटिल समस्या है क्योंकि हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा कुछ लोगों के अपेक्षाकृत अधिक कल्याण को अन्यों के बलिदानों के साथ रख कर तोला जा सके। किन्तु इस प्रकार का कोई मापदण्ड होना चाहिए। यह समस्या केवल इतिहास की नहीं हैं; दिन प्रतिदिन के जीवन में हम प्रायः अच्छाई की प्राप्ति की आशा में दो बुरी बातों में कम बुरी को चुनते अथवा करते हैं। इतिहास में कभी कभी इस समस्या का विवेचन 'प्रगति की कीमत' अथवा 'क्रान्ति की कीमत' जैसे पदों से अभिव्यक्त होता है। किन्तु, यह भ्रामक है। किन्तु क्या, वैज्ञानिक के विपरीत, यह तथ्य, कि इतिहासकार अपनी वस्तु सामग्री के स्वरूप के कारण नैतिक निर्णय की इन समस्याओं से संश्लिष्ट हो जाता है, इतिहास को किसी इतिहासेतर मूल्य-प्रतिमान पर निर्भर होना नहीं उपलक्षित करता ? मेरे विचार से नहीं। हम यह मान लें कि 'अच्छा' तथा 'बुरा' के समान अमूर्त्त अवधारणाएं इतिहास के दायरे के बहार हैं। किन्तु फिर भी इन अवधारणाओं की ऐतिहासिक नैतिकता के अध्ययन में वही भूमिका होती है जो कि गणितीय तथा तर्कशास्त्रीय नियमों की भौतिक विज्ञान में। ये विचार की अपरिहार्य कोटियां हैं किन्तु जब तक इनमें विशिष्ट सामग्री का आरोपण नहीं किया जाता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तब तक इनका कुछ भी अर्थ अथवा व्यवहार नहीं होता । दूसरे शब्दों में इतिहास अथवा दैनिक जीवन में प्रयोज्य नैतिक अवधारणाएं बैंक के चेक की तरह होती हैं : उनका एक लिखित भाग होता है जिन पर 'स्वतन्त्रता', 'समानता', 'न्याय' तथा 'प्रजातन्त्र' जैसे अमूर्त शब्द लिखे होते हैं; किन्तु इस चेक का कोई मूल्य नहीं होता जब तक कि खाली अंश में यह न भरा जाय कि हम किसको कितनी स्वतन्त्रता देना चाहते हैं, किसे अपने समान समझते हैं और किस सीमा तक। जिस रूप में हम जिस समय पर चेक को भरते हैं वह इतिहास का विषय है । जिस प्रक्रिया में अमूर्त नैतिक अवधारणाओं को विशिष्ट ऐतिहासिक सामग्री प्रदान की जाती है वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है ।..........इतिहास गति है एवं गति तुलना उपलक्षित करती है । इसी कारण इतिहासकारों द्वारा नैतिक निर्णय की अभिव्यक्ति "अच्छा" तथा "बुरा" जैसे एकान्तिक शब्दों से न होकर "प्रगतिशील" तथा "प्रतिक्रियावादी" जैसे तुलनात्मक स्वरूप वाले शब्दों द्वारा होती है; इनसे विभिन्न समाजों तथा ऐतिहासिक प्रपंचों को किसी एकान्तिक प्रतिमान के संदर्भ में न रखकर पारस्परिक संबंध के संदर्भ में रखकर परिभाषित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग के अपने मूल्य होते है तथा वह बाह्य मूल्यों की घुसपैठ से अपनी रक्षा करता है । समाज अथवा इतिहास से पृथक् अमूर्त्त प्रतिमान अथवा मूल्य एक मिथ्या अवधारणा है । श्रेष्ठ इतिहासकार वह है जो अपने मूल्यों से इतिहास–निर्धारित स्वरूप को स्वीकार करता है, वह नहीं जो अपने मूल्यों की वस्तुनिष्ठता इतिहास से बाहर होने का दावा करता हैं । इतिहास की अपने से बाहर स्थित किसी अन्य वस्तु पर आश्रिता नहीं होती और यह तथ्य उसे किसी भी अन्य विज्ञान से पृथक् करता है । वस्तुतः वैज्ञानिक, समाजवैज्ञानिक तथा इतिहासकार एक ही अध्ययन के विभिन्न शाखाओं से संबद्ध हैं : मनुष्य तथा उसके परिवेश का अध्ययन, मनुष्य का उसके परिवेश पर प्रभाव का अध्ययन तथा परिवेश का मनुष्य पर प्रभाव का अध्ययन । अध्ययन का उद्देश्य समान है : मनुष्य द्वारा अपने परिवेश का बोध तथा उस पर नियंत्रण में वृद्धि । इतिहासकार तथा भौतिक वैज्ञानिक दोनों ही व्याख्या प्रदान करने का प्रयास करते हैं । किसी भी वैज्ञानिक के समान इतिहासकार भी सदैव यह प्रश्न करता है : क्यों ?

जिसे हम वर्तमान कहते हैं, उसका केवल सैद्धान्तिक अस्तित्व है । यह अतीत तथा भविष्य के बीच एक काल्पनिक विभाजक रेखा है । चूंकि अतीत तथा भविष्य उसी कालान्तराल के अंग हैं अतः अतीत में रुचि एवं भविष्य में रुचि परस्पर संबद्ध हैं । इतिहास परम्परा के साथ प्रारम्भ होता है और परम्परा का अर्थ है अतीत की आदतों तथा शिक्षाओं का भविष्य में संक्रमण । अतीत के विवरण को भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लाभ के लिए सुरक्षित रखा जाता है । अतः इतिहासकार में भविष्य के प्रति रुचि सदैव ही स्थित होती है । 'क्यों' ? इस प्रश्न के साथ ही इतिहासकार 'किस ओर' ? यह प्रश्न भी पूछता है ।

प्रगति अथवा सभ्यता का प्रारम्भ कब हुआ, यह प्रश्न व्यर्थ है । और इसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार इतिहास के अन्तिम लक्ष्य की उपकल्पना से भी बड़ी भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। इतिहास के लक्ष्य की पूर्वकल्पना में एक परलोकशास्त्री अवधारणा है जो इतिहासकार की अपेक्षा धर्मशास्त्री के लिए अधिक उपयुक्त है, तथा इसमें इतिहास के लक्ष्य को इतिहास के बाहर ढूंढ़ने की भ्रान्ति निहित है। यदि इतिहासकार को प्रगति की अपनी अवधारणा की रक्षा करनी है तो उसे इसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए जिसमें अनुवर्ती युगों की आवश्यकताएं तथा परिस्थितियां अपनी विशिष्ट वस्तुसामग्री रखेंगी। इतिहास की वस्तुसामग्री की सिद्धि इसका अनुभव करने पर ही हो सकती है। इतिहास में विकास अनवरत रेखीय क्रम में नहीं होता। इतिहास की एक अवस्था में किसी वर्ग विशेष की एक विशिष्ट भूमिका हो सकती है; यह आवश्यक नहीं कि सभ्यता के विकास की अगली अवस्था में भी इसी वर्ग की प्रमुख भूमिका हो, इसका स्थानान्तरण दूसरे वर्ग को हो सकता है। प्रगति सभी के लिए समान एवं समकालिक प्रगति नहीं हो सकती। इतिहास की यह पूर्वधारणा है कि मनुष्य में अपने पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठा सकने की योग्यता है तथा यह कि प्रकृति में दृष्ट विकास के विपरीत इतिहास में प्रगति अधिगत उपलब्धियों के संक्रमण पर निर्भर है। इन उपलब्धियों में भौतिक उपलब्धियां तथा अपने परिवेश के नियन्त्रण, रूपान्तरण, उसके प्रयोग की क्षमता दोनों ही सम्मिलित हैं। वस्तुत: दोनों परस्पर संबद्ध हैं। प्रगति में आस्था का अर्थ किसी स्वत:नियन्त्रित एवं अवश्यंभावी प्रक्रिया में आस्था नहीं अपितु मानव क्षमताओं के प्रगतिशील विकास में आस्था है। प्रगति एक अमूर्त्त शब्द है, तथा समय-समय पर मनुष्य जिन मूर्त्त लक्ष्यों का अनुशीलन करता है वे इतिहास से उद्भूत होते हैं इतिहास के बाहर से नहीं। मैं मनुष्य की पूरणीयता में अथवा पृथ्वी पर किसी भावी स्वर्ग में विश्वास नहीं करता और इस सीमा तक मेरा धर्मशास्त्री से मतैक्य है कि पूरणीयता इतिहास में नहीं है। मैं कतिपय लक्ष्यों की दिशा में-जिनकी परिभाषा उनकी ओर बढ़ते हुए ही की जा सकती है तथा जिसकी प्रमाणिकता का परीक्षण उनकी प्राप्ति की प्रक्रिया में ही संभव है-अनन्त प्रगति की संभावना से सन्तुष्ट हो जाऊंगा। साथ ही प्रगति की इस प्रकार की अवधारणा के अभाव में कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य समाज आने वाली पीढ़ी के लिए वर्तमान पीढ़ी पर कुछ त्याग आरोपित करता है। जैसा कि ब्यूरी ने कहा है "भावी सन्तति के लिए कर्त्तव्य का सिद्धांत प्रगति की अवधारणा का सहज परिणाम है।" संभवत: यह कर्त्तव्य किसी औचित्य की अपेक्षा नहीं करता; यदि करता है तो मैं इसके औचित्य-स्थापन का कोई अन्य उपाय नहीं जानता।

इतिहास में निर्वैयक्तिकता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समाज-विज्ञान-और इनमें इतिहास भी सम्मिलित है—में विषय तथा वस्तु में पृथकत्व नहीं किया जा सकता; यहां द्रष्टा तथा दृष्ट में कोई विभेद नहीं है। इतिहास के तथ्य पूर्णतया वस्तुनिष्ठात्मक अथवा निर्वैयक्तिक नहीं हो सकते क्योंकि वे इतिहासकार द्वारा महत्व प्रदान किये जाने के फलस्वरूप ही तथ्य बनते हैं। इतिहास में निर्वैयक्तिकता-यदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम इसी रूढ़ शब्द का ही प्रयोग करना चाहते हैं तथ्य की निर्वैयक्तिकता न होकर तथ्य तथा व्याख्या के बीच स्थित, अतीत वर्तमान तथा भविष्य के बीच स्थित संबंध की निर्वैयक्तिकता है। पूर्ण सत्य की अवधारणा इतिहास के जगत् में समीचीन नहीं है, संभवतः विज्ञान के जगत् में भी नहीं। जब कोई इतिहासकार अपने किसी पूर्ववर्ती के निष्कर्ष का प्रत्याख्यान करता है, वह उसे पूर्णतया मिथ्या न मान कर अनुपयुक्त, एकपक्षीय अथवा भ्रान्तिपूर्ण अथवा ऐसे दृष्टिकोण का परिणाम मानेगा जो बाद के साक्ष्यों के संदर्भ में गतमूल्य अथवा अप्रासंगिक हो गया है। यह कहना कि रूसी क्रान्ति का जन्म निकोलस द्वितीय की मूर्खता अथवा लेनिन की प्रतिभा के कारण हुआ, सर्वथा अनुपक्युत है-इतना अनुपयुक्त कि इससे भ्रान्ति होती है। किन्तु इसे पूर्णतया मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इतिहासकार इस प्रकार के किसी परम मापदण्ड में विश्वास नहीं रखता।

फिर इसका क्या अर्थ है जब हम किसी इतिहासकार की निर्वैयक्तिकता अथवा निष्पक्षता की प्रशंसा करते हैं अथवा किसी एक इतिहासकार को दूसरे की अपेक्षा अधिक निर्वैयक्तिक कहते हैं? मेरे विचार से इसके दो अर्थ हैं। एक तो यह है कि उसके अन्दर समाज में तथा इतिहास में उसकी अपनी स्थिति की सीमित दृष्टि से ऊपर उठने की क्षमता है; दूसरा यह कि उसमें भविष्य के प्रति अपनी दृष्टि को इस प्रकार निरूपित करने की क्षमता है कि अतीत का उसे सम्यक् अवबोध हो सके। निर्वैयक्तिक इतिहासकार वह है जिसमें अतीत तथा भविष्य दोनों के प्रति एक दूरदर्शी दृष्टि है। जब मैंने इतिहास को अतीत तथा वर्तमान के बीच चलने वाला परिसंवाद कहा तो मुझे इसे वस्तुतः अतीत की घटनाओं तथा प्रगतिशील रूप में उत्पन्न होने वाले भावी लक्ष्यों के बीच स्थित परिसंवाद कहना चाहिए था। इतिहासकार की अतीत की व्याख्या, महत्त्वपूर्ण तथा प्रासंगिक का उसका चयन नए लक्ष्यों के क्रमिक उद्‌भव के साथ विकसित होता है। इसे एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है : जब हमारे सामने संवैधानिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक अधिकारों का लक्ष्य था, इतिहासकार अतीत की व्याख्या संवैधानिक तथा राजनीतिक संदर्भ में करता था; अब संवैधानिक तथा राजनीतिक अधिकारों के स्थान पर आर्थिक तथा सामाजिक लक्ष्यों के प्रतिष्ठित होने पर इतिहासकार अतीत की आर्थिक तथा सामाजिक व्याख्या की ओर उन्मुख दिखाई पड़ता है। इस नई व्याख्या द्वारा पूर्वव्याख्या का पूर्ण तिरस्कार नहीं मानना चाहिए अपितु यह इसमें सम्मिलित है तथा नई का इसके ऊपर प्रतिष्ठापन है। इतिहास-लेखन इस अर्थ में एक प्रगतिशील विज्ञान है कि यह घटनाओं के परिवर्तन-क्रम में–जो कि स्वयं प्रगतिशील है–निरंतर विकासशील एवं गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करने का प्रयास करता है। किसी के लिए इतिहास के भविष्य में अथवा समाज के भविष्य में विश्वास करने की बाध्यता नहीं है। यह संभव है हमारा समाज विनष्ट हो जाय अथवा क्रमिक विनाश को प्राप्त हो तथा इतिहास दैवी उद्देश्य का अध्ययन करने वाला धर्मशास्त्र मात्र अथवा उद्देश्यविहीन कथाएं कहने वाला साहित्य बन कर रह जाय। किन्तु, तब वह इस अर्थ में इतिहास नहीं रख जाएगा जिस रूप में हम इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिछले दो सौ वर्षों में समझते आए हैं। इतिहासकार तथ्य तथा मूल्य को अलग नहीं कर सकता। यह संभव है कि एक अपरिवर्तनशील जगत् में तथ्य तथा मूल्य का विभेद घोषित किया जा सके। किन्तु अपरिवर्तनशील जगत् में इतिहास का कोई अर्थ ही नहीं रखता। इतिहास का सार परिवर्तन है, गति है अथवा–यदि हम किसी पुरानी शब्दावली के प्रयोग से अरुचि रखते हैं–प्रगति है।

इतिहास तब से प्रारम्भ होता है जब से मनुष्य समय-क्रम को प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में समझना छोड़कर विशिष्ट घटनाओं की एक श्रृंखला के रूप में समझने लगा जिनसे मनुष्य चैतन्य रूप में संबद्ध है तथा जिन्हें वह प्रभावित कर सकता है। इतिहास मनुष्य का अपने विवेक के प्रयोग द्वारा अपने परिवेश को समझने तथा उसका परिष्कार करने की दिशा में एक दीर्घकालिक संघर्ष है। किन्तु आधुनिक युग ने क्रान्तिकारी रूप में इस संघर्ष को विस्तारित कर दिया है। मनुष्य अब केवल अपने परिवेश को समझने तथा उसमें परिष्कार करने का ही प्रयास नहीं करता, अपितु वह स्वयं को समझने तथा परिष्कृत करने का प्रयास करता है; और इस बात ने विवेक में तथा इतिहास में एक नया आयाम जोड़ दिया है। वह अतीत की ओर इस आशा से देखता है कि इससे भविष्य की रहस्यमयता को हटाने के लिए कुछ प्रकाश मिल सकेगा; साथ ही भविष्य के प्रति उसकी आकांक्षाएं एवं चिन्ताएं उसके अतीत के ज्ञान को स्पष्ट करेंगी। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य इतिहास की अनन्त श्रृंखला में परस्पर घनिष्टरूपेण संबद्ध हैं।

[ई० एच० कार की पुस्तक **ह्वाट इज हिस्ट्री** इतिहास-सिद्धान्त की प्रमुखतम पाठ्यपुस्तकों में है। जब से रांके ने इतिहासकार का उपयुक्त उद्देश्य घटनाओं का यथातथ्य निरूपण बताया, इतिहास-लेखन में निर्वैयक्तिकता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। किन्तु स्वयं तथ्यों का अस्तित्व कैसे बनता है? कार ने अपनी पुस्तक में यह तर्क किया है कि इतिहास में तथ्यों का कोई इतिहासकार से सर्वथा विलग अस्तित्व नहीं होता; इतिहासकार ही अपने चयन-कर्म द्वारा तथ्यों का प्रतिष्ठापन करता है: असंख्य लोगों ने रूबिकॉन को पार किया होगा किन्तु यह इतिहासकारों द्वारा ही ज्ञात होता है कि केवल इसका सीज़र द्वारा पार किया जाना ही महत्त्वपूर्ण था। सभी ऐतिहासिक तथ्य हमें अपने युग के प्रतिमानों द्वारा प्रभावित इतिहासकारों के व्याख्यात्मक विकल्पों के परिणामस्वरूप ही प्राप्त होते हैं। किन्तु, यद्यपि इतिहास में नितान्त निर्वैयक्तिता संभव नहीं है, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इतिहास का कोई प्रयोजन अथवा आकर्षण नहीं है। वस्तुतः इतिहास "इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की अविच्छिन्न प्रक्रिया है।"

क्या इतिहास में कोई प्रयोजन निहित है? कार ने फिशर की कड़ी आलोचना की है जिसने अपने एक वाक्य में यह कहा कि उसे इसमें कोई प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता। उसने विशुद्ध संयोग के सिद्धान्त की भर्त्सना की है। इस सीमा तक कार के मत के प्रति किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इतिहास में संयोग भी होते हैं। वस्तुतः इतिहासकार को संयोग से अभिभूत न होकर उनकी व्याख्या का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयास करना चाहिए। कोई भी इतिहासकार—जिसमें फिशर भी सम्मिलित है—अपने विषय को सर्वथा अर्थविहीन नहीं मानता; यदि वह मानता होता तो वह इसे लिखने का व्यर्थ उपक्रम ही नहीं करता। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या इतिहास में कोई दूरगामी प्रयोजन है, क्या वस्तुएं ऐसे परिणाम प्रदान करती है जिनमें निरन्तरता है तथा जिनके प्रति भविष्यवाणी की जा सकती है। वस्तुतः जब कार तथा अन्य इतिहास में प्रयोजन ढूंढते हैं, उनका प्रमुख उद्देश्य इतिहास में से ईश्वर के हट जाने से उत्पन्न रिक्तता की पूर्ति है। इतिहास में भविष्यवाणी की संभावना मानने के दो उपाय हैं : चक्रात्मक तथा रेखीय। पहले की यह मान्यता है कि समाजों का उद्‌भव तथा पतन होता है, तथा अन्य सभ्यताएं इनके स्थान पर आती हैं और उनमें भी उसी प्रतिमान का अनुसरण होता है। दूसरे मत के अनुसार अतीत की समष्टि प्रगति की एक सीधी रेखा में प्रवर्तित हो रही है। कार इस दूसरे मत में विश्वास करते हैं। (इस प्रकार के मत की समीक्षा के रूप में द्र० अन्तिम विभाजन के अन्तर्गत दिए गए लेख)]

इतिहास का अर्थ २

[हीगल से ले कर कार तक कई विद्वानों ने इतिहास में उद्धार ढूंढने का प्रयास किया है, किन्तु राइनहोल्ड नेबूर जैसे धर्मशास्त्रियों ने इसका विरोध किया है तथा यह तर्क किया है कि इतिहास इस प्रकार की कोई प्रतिश्रुति नहीं देता। यह अभिज्ञान होते ही कि इतिहास का कार्यव्यापार अतीत के साथ है भविष्य के साथ नहीं, इस तथ्य को समझना और सरल होगा। अतएव 'अन्तिम निर्णय की संभावना इतिहास के अन्तर्गत नहीं अपितु इतिहास की समाप्ति होने पर ही है.........संक्षेपतया इतिहास की प्रहेलिका का समाधान इतिहास द्वारा नहीं हो सकता।" जीवन की इतिहास से परे स्थित व्याख्या द्वारा ही यह संभव होगा तथा परंपरागत धर्म द्वारा हमें ऐसी एक व्याख्या पहले से ही उपलब्ध है। इतिहास की अवधारणा प्रगति की अवधारणा से जन्मी है—जैसा कि हम पहले अध्याय में देख चुके हैं। किन्तु इस प्रस्थापना को उलट कर नहीं रखा जा सकता। इतिहास द्वारा प्रगति का विश्वास नहीं प्रदान किया जाता।

टायनबी धर्मशास्त्री नहीं है। इसके विपरीत ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर उसका निष्कर्ष यह है कि यदि हम अपने ढंग नहीं बदलते तो अन्य पूर्ववर्ती सभ्यताओं के समान हमारी सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है। किन्तु आत्मोद्धार के लिए हम किस सिद्धान्त से नियंत्रित हों ? यहां टायनबी की इतिहास-विषयक अवधारणा मुख्यतः हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताओं से—जैसे कि मार्क्स का विचार है कि यह हमारी भौतिक आवश्यकताओं से—नियंत्रित होता है। अपने वैज्ञानिक उपकरण के प्रदर्शन तथा परीक्षासिद्ध नैपुण्य के बावजूद टायनबी अपने अनुसंधान में मूलतः धार्मिक मूल्यों की एक पूर्वसिद्ध वचनबद्धता से नियन्त्रित है। पीटर गेल ने टायनबी के विरुद्ध आरोप करते हुए कहा है कि टायनबी, जो स्वयं को इतिहास का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यार्थी कहता है, वस्तुतः इतिहासकार नहीं है, वह एक धर्मदूत है। अतीत का अध्ययन हमें भविष्य के प्रति भविष्यवाणी की अनुमति नहीं प्रदान करता, अधिक से अधिक यह हमें इसकी कल्पना करने की अनुमति दे सकता है। पीटर गेल का लेख टायनबी की प्रस्थापना की आलोचना है किन्तु इस प्रक्रिया में वह अपनी इतिहास-विषयक अवधारणा को भी स्पष्ट करता है। उसके अनुसार, इतिहास विज्ञान से अधिक निश्चितता नहीं प्रदान करता। इतिहास की गति से हमें किसी सांत्वनात्मक अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। पीटर गेल के लिए इतिहास किसी लक्ष्य की ओर उद्दिष्ट द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया नहीं है अपितु अतीत तथा वर्तमान के बीच कभी न समाप्त होने वाला परिसंवाद है जिसमें वर्तमान अंततः अतीत की अपेक्षा स्वयं के विषय में अधिक जान सकता है, तथा जिसमें इतिहास की शिक्षाओं को कभी भी भविष्य के प्रति पूर्णविश्वास के साथ नहीं प्रयुक्त किया जा सकता है।]

राइनहोल्ड नेबूर : 'श्रद्धा तथा इतिहास'

बार्थोल्ड जार्ज नेबूर (१७७६–१८३१) प्रारम्भ में पेशेवर इतिहासकार नहीं था। वह प्रसिद्ध भ्रमणार्थी कार्सटेन नेबूर का पुत्र था। अपने पिता तथा रोमांतिक लेखकों के प्रभाव में इतिहास की ओर उसकी अभिरुचि अत्यन्त प्रारम्भ से ही हो गई थी और ३० वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व उसने बीस भाषाएं सीख ली थीं। उसने अपना जीविका-यापन डेनमार्क की प्रशासनिक सेवा से प्रारम्भ किया और १८०६ में प्रशा की प्रशासनिक सेवा में नियुक्त हुआ। प्रशा के सुधार-आन्दोलन का वह एक महत्वपूर्ण सदस्य बना एवं १८१० में शीघ्र ही स्थापित बर्लिन विश्वविद्यालय में वह प्राध्यापक नियुक्त हुआ। अपने अन्तिम दिन उसने बोन विश्वविद्यालय में व्यतीत किए। वह एक असाधारण प्रतिभावान व्यक्ति था।

नेबूर का **रोम का इतिहास** (दो जिल्दों में १८११–१८१२) रोमन साम्राज्य की उत्पत्ति के पुनर्निर्माण की दिशा में प्रथम प्रयास था; पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा केवल रोमन साम्राज्य की विजयों के लेखन का प्रयास किया गया था। नेबूर ने प्राचीन इतिहास के अध्ययन में भाषाशास्त्री की समीक्षात्मक विधा का प्रयोग किया। एक राजनीतिज्ञ के रूप में उसे राजनीतिक संस्थाओं का निकट से ज्ञान था और उसके इतिहासिक-लेखन में इन राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर तथा रोमन विधि एवं सांपत्तिक संबंधों के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। 'ऐतिहासिक महान् कृतियों में सर्वाधिक अपठनीय' कही जाने पर भी, उसकी कृति रांके, मिशेलेत तथा मामजन जैसे इतिहासकारों के लिए प्रतिमान के रूप में ग्रहण की गई।]

आधुनिक युग में प्रायः सभी प्रकार के मनुष्यों में यह विश्वास समानरूपेण प्रचलित रहा है कि ऐतिहासिक विकास एक विमुक्तिकारी प्रक्रिया है। वह शोध आधुनिक ऐतिहासिक विज्ञान की प्रमुख उपलब्धि थी कि मानवीय संस्कृति अनन्त विकास का विषय है। वर्तमानयुगीन संस्कृति में तर्कशीलता में उतना विश्वास नहीं है जितनी कि इतिहास में श्रद्धा है; तथा इस अवधारणा ने विविध प्रकार के चिन्तकों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के चिन्तन में स्थान पाया है। लाबनिज, कान्ट, हीगल, मिल, कोंत, हर्बर्ट स्पेन्सर सभी ने एक अथवा दूसरे रूप में ऐतिहासिक आशावादिता में विश्वास का प्रदर्शन किया है। मार्क्स भी इसका अपवाद नहीं है। इस प्रकार इस अवधारणा ने आधुनिक संस्कृति को एक अभूतपूर्व एकात्मकता प्रदान की है।

इतिहास के उपकल्पनात्मक लक्ष्य को बहुविध परिभाषित किया गया। १६ वीं शताब्दी में ऐतिहासिक आशावादिता के सर्वाधिक स्थूल प्रकार की मान्यता के अनुसार वृद्धिशील भौतिक सुख तथा सुविधा में विकास के अन्य सभी प्रकार सुरक्षित थे। कभी-कभी विस्तारशील मानव-समुदाय को अनिवार्यतः एक सार्वभौम समुदाय में रूपान्तरित होते हुए उपकल्पित किया गया। कुछ ने--जैसा कि एच० जी० वेल्स की **इतिहास की रूपरेखा** में दिखाई पड़ता है--ऐतिहासिक प्रक्रिया को मानव-समुदाय के प्रजातंत्रीकरण तथा सार्वभौमीकरण की ओर विकासोन्मुख माना; यद्यपि प्रजातन्त्र की परिणति को विभिन्न लोगों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया। इसी प्रकार ऐतिहासिक विकास के कारण के प्रश्न पर भी सहमति का अभाव था। सामाजिक डार्विनवाद प्रकृतिवाद के प्रकारों में ऐतिहासिक विकास को प्राकृतिक विकासवाद के विस्तरणमात्र के रूप में देखा गया। डार्विन के अनुयायियों ने प्रगति की प्रत्याभूति को योग्यतम की अतिजीविता में देखा; अन्यों ने प्रकृति तथा इतिहास दोनों में ही एक ऐसी गति का दर्शन किया जो दृढ़ अहंकारवाद से दूसरों के हितों के प्रति अधिकाधिक विचार की ओर अग्रसर हो रही है। प्रायः ऐतिहासिक विकास को प्रकृति में क्रियाशील शक्तियों के विस्तरण के रूप में उतना नहीं देखा गया जितना कि मस्तिष्क के विकास द्वारा नैसर्गिक मनोवेगों के निरोध के रूप में। इस प्रकार छोटी मोटी असमानताओं को छोड़कर आधुनिक संस्कृति का मुख्य स्वर भविष्य के प्रति आशावादिता का था। भविष्य में मनुष्य का उद्धार निश्चित माना गया। वस्तुतः भविष्य के द्वारा यह विश्वास दिलाया गया।

पूर्ववर्ती शताब्दियों के विविध अनुभव इस प्रकार की अनियंत्रित आशावादिता को चुनौती दे सकते थे। किन्तु प्रकृति के उपर मनुष्य के नियंत्रण की गति इतनी तीव्र थी सभी संदेह मौन बना दिए गए एवं १६वीं शताब्दी को 'आशा की शताब्दी' होने की आशा की गई (द्र० एफ० एस० मार्विन **द सेन्चुरी ऑफ होप**), और फिर यही आशा बीसवीं शताब्दी के लिए प्रकट की गई। किन्तु १६१४ के उपरान्त हमें एक के बाद एक ऐसे कटु अनुभव मिलते जा रहे हैं मानों इतिहास आधुनिक मनुष्य की व्यर्थ भ्रान्तियों के प्रत्याख्यान के लिए ही बनाया गया है। ऐतिहासिक विकास के नियम तथा प्रवृत्तियां आशा से अधिक जटिल सिद्ध हुईं। प्रत्येक नई स्वतंत्रता द्वारा एक नए आश्वासन के साथ एक नए संकट का भी प्रतिनिधित्व हुआ। आधुनिक औद्योगिक समाज ने राजनीतिक निरंकुशता के प्राचीन प्रकारों को विनष्ट किया तथा भूमिगत सम्पत्तिक असमानताओं को दूर किया; किन्तु यांत्रिक समाज ने नए प्रकार की असमानताओं को जन्म दिया। संप्रेषण तथा आवागमन के उपकरणों में हुए विकास से देश-काल की दूरी समाप्त हो गई तथा एक विश्व समुदाय के उदय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की आशाएं बढ़ी किन्तु इससे विभिन्न देशों में एक 'विश्व-संघ' का निर्माण न हो सका; अपितु पारस्परिक संघर्ष सतह पर आ गए और एक ही पीढ़ी को दो विश्व-व्यापी भयानक युद्धों की विभीषिका से गुजरना पड़ा। इस प्रकार जिस शताब्दी में विश्वव्यापी प्रजातन्त्रीय समाज की स्थापना की आशा की जाती थी, वह इस प्रकार के भयानक युद्ध से बचने की संभावना के प्रति ही निश्चितमना नहीं है एवं मानव-समाज, अथवा कम से कम सभ्यता, का बच सकना ही संदेह का विषय हो गया है।

मनुष्य की इतिहास-विषयक अवधारणा का समसामयिक इतिहास द्वारा यह प्रत्याख्यान हमारे युग के आध्यात्मिक संकट को स्पष्ट करता है। आधुनिक अनुभव त्रासदी की अपेक्षा कारुण्य अथवा विडम्बना की कोटि में आता है, क्योंकि समसामयिक संस्कृति के पास श्रद्धा का कोई सुविधाजनक बिन्दु नहीं है जहां से वह आधुनिक मनुष्य की दुखद अवस्था को समझ सके। आने वाली शताब्दियां इसमें उस प्रकार का कारुण्य पा सकती हैं जैसा कि हार्डी के उपन्यासों में दिखाई पड़ता है। क्योंकि इस नाटक के पात्र एक दुर्ज्ञेय नियति में फंसे हुए हैं जो या तो उन्हें नैराश्य की ओर ढकेलती है अथवा उसके लिए ये मिथ्या व्याख्याएं प्राप्त करते हैं।

मनुष्य की इस समसामयिक संकटावस्था के विविध स्पष्टीकरण दिये जाते हैं; किन्तु वे सभी व्याख्या के उन्हीं सिद्धान्तों से उद्भूत हैं जिनके कारण आधुनिक मनुष्य उन अनुभवों की कल्पना नहीं कर सका था जिन्हें कि वह अब समझने का प्रयास कर रहा है। कुछ लोगों द्वारा यह आशा दिलाई जाती है कि मानव समाज अनवरत रूप में सुख तथा पूर्णता की ओर अग्रसर नहीं होता और इस प्रकार एक कुण्डलित विकास की अवधारणा से सांत्वना की प्राप्ति की जाती है। कुछ अन्य लोग इस सांत्वना को इतिहास के एक दीर्घकालिक अवलोकन द्वारा प्राप्त कराने का प्रयास करते हुए यह आग्रह करते हैं कि अज्ञात पूर्वैतिहासिक असभ्यता के लम्बे समय की अपेक्षा सभ्यता का ज्ञात समय बहुत छोटा है; हमारी वर्तमान कष्टावस्था सभ्यता के बाल्यकाल से संबद्ध है जो भविष्य में स्थित पूर्णता की प्राप्ति पर शीघ्र ही विस्तृत हो जाएगी। आधुनिक संकटों की बड़ी लोकप्रिय व्याख्या 'सांस्कृतिक पिछड़ेपन' को इसका कारण मानती है जिसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का सामाजिक ज्ञान यांत्रिक प्रगतियों के साथ नहीं चल पा रहा है। विशिष्ट बुराइयों की व्याख्या के रूप में यह स्पष्टीकरण सत्य है किन्तु इसमें कुछ भ्रान्तियां निहित हैं। सांस्कृतिक पिछड़ेपन के सिद्धान्त का प्रमुख दोष इस आधुनिक प्रस्थापना में निहित है। इस सांस्कृतिक पिछड़ेपन का कारण सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्राकृतिक विज्ञानों में प्राप्य निर्वैयक्तिकता तथा निष्पक्षता की प्राप्ति में शिथिलता है। इस विश्वास में यह दोषमय धारणा अन्तर्निहित है कि मनुष्य का प्राकृतिविषयक ज्ञान तथा उस पर विजय मानव स्वभाव के अवबोध तथा उस पर विजय के लिए अपेक्षित बुद्धि तथा तकनीक को भी विकसित करती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह सच है कि मनुष्य-स्वभाव तथा विभिन्न प्रदत्त सामाजिक परिस्थितियों में उसकी प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक ज्ञान मानव आधार के पुनर्नियोजन में पर्याप्त सहायक हो सकता है; किन्तु अन्ततः मानव-आचार तथा सामाजिक संबंधों की समस्याएं भौतिक स्वरूप के संबंधों की समस्याओं से भिन्न कोटि में आती हैं। मित्र अथवा शत्रु को निष्पक्षरूपेण पहचान सकने की क्षमता मूलतः एक नैतिक उपलब्धि है, बौद्धिक उपलब्धि नहीं क्योंकि इसमें भयों एवं पूर्वाग्रहों, द्वेष तथा घृणा—जो केवल मन की नहीं अपितु संपूर्ण व्यक्तित्व की दोषमयता का प्रतिनिधित्व करते हैं—के शमन की अपेक्षा होती है। जनहित के लिए त्याग-भावना, सामाजिक न्याय के लिए विशेषाधिकारों का परिहार, क्षमा द्वारा संघर्षशील वर्गों को समीप लाना—ये सब एक सामाजिक बुद्धि के परिणाम होते हैं जिसमें विज्ञान का केवल सहायक योगदान होता है। इस प्रकार की बुद्धि में मनुष्य का समष्टिगत व्यक्तित्व सन्निविष्ट होता है। यह विश्वास कि 'वैज्ञानिक निर्वैयक्तिकता' का प्राकृतिक जगत् से ऐतिहासिक जगत् में विस्तरण हो सकता है इतिहास में जीव की कर्त्ता के रूप में तथा कर्म के विषय के रूप में एकात्मकता को ढक देता है। जीव इतिहास का प्राणी है किन्तु वह इतिहास का निर्माता भी है। यह विश्वास—जिसकी प्रेरणा का स्रोत भौतिक विज्ञानों की महान् उपलब्धियां हैं—कि जिन विधाओं से मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त किया है उन्हीं के द्वारा मानव व्यवहार की सभी उपेक्षक वस्तुओं को 'मस्तिष्क' के सर्वव्यापी उद्देश्यों के अन्तर्गत किया जा सकता है, वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण है। स्वयं के गलत अवबोध में मनुष्य का यह महान्तम दोष है।

सभ्यताएं उदित होती हैं और उनका विनाश होता है। किन्तु इससे इन सभ्यताओं एवं संस्कृतियां में प्रकाशित नित्य मूल्यों का निरास नहीं होता। प्रत्येक सभ्यता, जो अपने दोषों के कारण विनष्ट होती है, में कुछ वांछनीय तत्व भी रहते हैं। समय-प्रवाह में शाश्वत मूल्यों के कुछ पक्ष भी सदैव वर्तमान होते हैं। यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं ऐतिहासिक प्रक्रिया इस प्रकार के शाश्वत मूल्यों को संगृहीत करती है एवं निरर्थक वस्तुओं को विनष्ट कर देती है। एक गुणदोषनिरूपक प्रक्रिया में इतिहास क्यों नहीं मिथ्या वस्तुओं के भूसे को जला कर सत्यरूपी अन्न का संचय करता। एक अर्थ में यह सत्य है। किन्तु स्वयं अपना निर्णायक होने के रूप में इतिहास की यह अवधारणा अन्ततः भ्रान्तिपूर्ण है। यह इस अर्थ में सत्य है कि इतिहास वस्तुतः मनुष्य की विकासशील स्वतंत्रता की कथा है। किन्तु यह मानते ही कि इस वृद्ध्योन्मुख स्वतंत्रता से किसी और व्यापक लक्ष्य की उपलब्धि की आशा की जा सकती है, यह सत्य भ्रान्ति में रूपान्तरित हो जाता है। स्वतंत्रता से प्राप्त आशाओं के उदय होते ही इसके खतरे भी उत्पन्न होते हैं और ये आशाएं तथा खतरे घनिष्टरूपेण संयुक्त होते हैं। गेहूं तथा शायिघास (एक प्रकार का जंगली अखाद्य अन्न वाला पौधा) के दृष्टान्त से इतिहास की संभावनाओं के प्रति बाइबिल का दृष्टिकोण अत्यन्त ठीक ठीक अभिव्यक्त होता है। गेहूं के साथ-साथ बो दिए गए शायिघास के उग जाने पर उनको उखाड़ने के लिए उद्यत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नौकरों को रोक दिया जाता है 'क्योंकि शायिघास को उखाड़ते समय गेहूं भी उखड़ जाऐंगे। दोनों को फसल के कटने तक उगने दो : फसल तैयार होने पर मैं काटने वालों को से कहूंगा कि शायिघास को पहले काट कर उन्हें जला दो और फिर गेहूं को काट कर खलिहान में लगा दो।' कहने का आशय यह है कि अन्तिम निर्णय की संभावना इतिहास के अन्दर नहीं, इतिहास की समाप्ति पर ही हो सकती है। प्रकृति के ऊपर मनुष्य की वृद्ध्योन्मुख स्वतंत्रता वृद्धिमान ऋतु के समान है जो गेहूं तथा शायिघास दोनों को तैयार करती है और ये दोनों परस्पर संवद्ध हैं। इस प्रकार, यदि संक्षेप में कहा जाय, इतिहास की प्रहेलिका का समाधान इतिहास द्वारा नहीं होता। इसमें अर्थ के ऐसे पहलू होते हैं जो समय-प्रवाह से ऊपर होते हैं। बढ़ती हुई स्वतंत्रता की परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रेम के परिपक्व होने में भी एक निश्चित अर्थ है; किन्तु उसी स्वतंत्रता द्वारा शक्ति तथा आत्म-प्रेम की ध्वंसात्मकता की संभावना स्वयं इतिहास के अन्तर्गत इतिहास के अर्थ के समाधान को असंभव बनाती है। श्रद्धा एक अन्तिम निर्णय तथा अन्तिम पुनरुज्जीवन की प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार, मनुष्य की यात्रा के अन्त तथा प्रारम्भ दोनों में एक रहस्यात्मकता है। इस रहस्यमयता का सूत्र ईसा मसीह के सहभोज में है; यह सृष्टि की रहस्यमयता का सूत्र है। इतिहास की दीर्घकालीक प्रक्रिया में अच्छाई तथा बुराई का विरोध घटने के स्थान पर बढ़ता जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया में तात्कालिक अर्थ कुछ भी हो, अन्ततः यदि इसके अन्त की प्रहेलिका को वशीभूत करने वाली शक्ति तथा करुणा को नहीं समझा जाता तो इससे मनुष्य नैराश्य के गर्त में जा गिरेगा। मनुष्य का संपूर्ण इतिहास व्यक्ति के इतिहास के समान है। व्यक्ति अपने अस्तित्व के रहस्य को समझने की क्षमता नहीं रखता। वह अपनी स्वतंत्रता की वृद्धि करने का प्रयास करता है और स्वतंत्रता की वृद्धिसे उसकी क्रियात्मकता बढ़ती है। किन्तु इतिहास की बुराइयां इस वृथाभिमान के कारण हैं। मनुष्य केवल अपनी शक्ति से अपने जीवन को पूर्ण बनाना तथा इसकी प्रहेलिका को अपनी बुद्धि से सुलझाना चाहता है। ईसाई श्रद्धा उस दैवी प्रेम तथा शक्ति का अवबोध है जो संपूर्ण मानवीय तीर्थयात्रा को धारण करती है, इसकी प्रहेलिकाओं एवं विरोधों में प्रकाशित होती है एवं अन्ततः तथा निश्चिततया उस नाटक में प्रकट होती है जिसमें दुःखमय प्रेम पाप तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। यह प्रकाशन सभी जटिलताओं का समाधान नहीं करता; किन्तु उससे नैराश्य का विनाश होता है एवं यह आत्म-प्रेम को प्रेम में रूपान्तरित कर पुनः जीवन-संचार करता है।

आरनोल्ट टायनबी : 'विश्व तथा पश्चिम जगत'

[आरनोल्ट टायनबी ने हीगल के समान इतिहास को सार्वभौमिक इतिहास के रूप में देखा हैं किन्तु जहां हीगल का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, टायनबी ने अपने दृष्टिकोण को अनुभवसिद्ध अथवा परीक्षासिद्ध बताया है। उसकी प्रसिद्ध कृति **इतिहास का अध्ययन** (**स्टडी आफ हिस्ट्री**) का प्रकाशन १९३४ में प्रारम्भ हुआ तथा इसका संपूर्ण प्रकाशन बीस वर्षों में सम्पन्न हुआ। टायनबी की इस कृति का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मूल्यांकन विविध रूपों में हुआ है। उसके असहिष्णु आलोचक पीटर गेल को भी इसे विलक्षण विद्वत्ता तथा प्रतिभा से संपन्न मानने को बाध्य होना पड़ा है। किन्तु, दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने इसकी कड़ी आलोचना की है। टायनबी ने स्वयं अपनी कृति को परीक्षासिद्ध अध्ययन पर आधारित कहा है। प्रारम्भ में उसका प्रयोजन सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास तथा पतन का तुलनात्मक अध्ययन प्रतीत होता है। उसने सभ्यता को ऐतिहासिक अध्ययन की एकमात्र बुद्धिगम्य इकाई माना तथा अतीत और वर्तमान की इक्कीस सभ्यताओं का समीकार किया; इसके पश्चात् उसने उनके इतिहासों में आवर्ती विशिष्टताओं को प्रतिष्ठापित किया। यद्यपि टायनबी ने अपने समर्थन में प्रायः बहुसंख्यक साक्ष्यों को उद्धृत किया है, आलोचकों का विचार है कि इनके प्रयोग में उसका व्यवहार अपने गहरे पूर्वाग्रहों के कारण सर्वथा निष्पक्ष तथा तार्किक नहीं है। साथ ही विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के विषय में उसकी व्याख्याओं को उस क्षेत्र के विशेषज्ञों का समर्थन नहीं प्राप्त होता। उसके समर्थक भी प्रायः उन्हें इतिहासकार कहने की अपेक्षा–जिसका टायनबी अपने लिए दावा करते हैं–कवि, धर्मदूत अथवा रहस्यवादी कहना अधिक पसन्द करते हैं। अंग्रेज इतिहासकार ट्रेवर–रोपर ने टायनबी की पुस्तक की आलोचना करते हुए कहा है : "मैं इसे न केवल त्रुटिपूर्ण····अपितु घृणात्मक पाता हूं।" (इनाउन्टर, ८, सं० ६, जून १९५७, पृ० २६)। इसी प्रकार की भावनात्मक प्रतिक्रिया पीटर गेल की इस अभिव्यक्ति में मिलती है : यह "पाश्चात्य सभ्यता के विरूद्ध एक निन्दापूर्ण कृति" है (**डिबेट्स विद हिस्टोरियन्स, पृ० १७८**)

टायनबी के अनुसार ऐतिहसिक अध्ययन की इकाई सभ्यता है। सृजनात्मक क्रियात्मकता केवल उस परिस्थिति में पाई जाती है जिसमें कुछ कठिनाई के कारण लोगों में एक अभूतपूर्व प्रयास दिखाई पड़ता है। टायनबी ने सभ्यताओं की उत्पत्ति-विषयक अपनी अवधारणा को एक सिद्धान्तवाक्य में "उपाह्वान तथा प्रत्युत्तर" कह कर अभिव्यक्त किया है। इसके अनुसार, सभ्यताओं के इतिहास में धर्म की विशिष्ट भूमिका होती है; सभ्यताओं के उदय तथा पतन में निरन्तर–यद्यपि चैतन्यपूर्ण ढंग में नहीं–कुछ इन्द्रियातीत प्रयोजनों की सिद्धि होती है। प्रारम्भ में उसने सार्वभौमिक चर्च को वह कोश–कीट माना जिसमें से सभ्यता का उद्भव होता है; आगे चलकर उसने "भूमिकाओं के परिवर्तन" के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह मत अभिव्यक्त किया है कि सभ्यता वह कोश–कीट है जिसमें से इस प्रकार के सार्वभौमिक धर्म का उद्भव होता है। सभ्यता के विघटन के परिणामस्वरूप उत्पन्न कष्ट तथा दुःख के माध्यम से ही मनुष्य ईश्वर–ज्ञान की प्राप्ति–प्रक्रिया में विकास करता है। टायनबी की भविष्य के प्रति आशा इस विश्वास में निहित प्रतीत होती है कि चार सार्वभौमिक धर्म–जिसकी समानताओं की वह अतिशयोक्ति करता प्रतीत होता है–साथ साथ अथवा एक में मिश्रित होकर पृथ्वी पर स्वर्गीय संगीत उत्पन्न कर सकेंगे। इस बात को ध्यान में रखते हुए वह एक प्रकार से पश्चिमी सभ्यता के विकास–क्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की निरर्थकता पर खेद सा प्रकट करता है। संप्रति दिए गए चयन में टायनबी के इसी मूल कथानक का विवरण वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास है।]

पश्चिम द्वारा पूर्वी देशों पर दो अवस्थाओं में प्रहार हुआ। पहले तो पश्चिम ने इन सुदूर पूर्वी देशों के लोगों पर पश्चिमी जीवन–विधा को इसकी संपूर्णता में-जिसमें विज्ञान एवं धर्म सभी सम्मिलित थे–आरोपित करना चाहा। किन्तु इनका यह प्रयोग असफल रहा। फिर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का धर्म–निरपेक्ष रूप प्रस्तुत किया जिसमें केवल विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान था, और पश्चिमोत्तर देशों में यह ग्रहण किया गया। प्रायः मनुष्य प्रारम्भ में विदेश की कुछ बातों को अनिच्छा से स्वीकार करता है किन्तु इस प्रक्रिया में उसे धीरे धीरे सब कुछ अपना लेने को वाध्य होना पड़ता है। उसमें आश्चर्य नही है कि एक आक्रमक विदेशी संस्कृति के प्रति सामान्य दृष्टिकोण विरोध तथा शत्रुता का होता है। किसी विदेशी सभ्यता का ग्रहण एक दुःखमय कार्य होता है तथा अपनी परम्परागत जीवन-विधा के लिए संकटरूप नवीनताओं के प्रति स्वाभाविक विरोध से यह अनुभव और भी दुःखमय बन जाता हैं। पश्चिमोत्तर देशों में कुछ राजनीतिज्ञों ने इस दुर्लभ दूरदर्शिता का परिचय दिया कि कोई भी समाज जो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी संस्कृति के प्रभाव का विषय है उसे या तो इस विदेशी जीवत-विधा को संपूर्णतः सीख लेना चाहिए अथवा इसे विनष्ट हो जाना होगा। पीटर महान्, महमूद द्वितीय, मुहम्मद अली मुस्तफा कमाल इसी प्रकार के व्यक्तित्व थे। विदेशी आक्रमण की चुनौती को इस रूप में स्वीकार कर लेना महान राजनीतिज्ञता का परिचायक है क्योंकि यह सहज प्रवृत्तियों पर विजय है। सहज प्रतिक्रिया सामान्यतया कच्छप के समान अपने सिर को अन्दर कर लेने के समान नकारात्मक प्रकार की होती है। किन्तु, ऊपर उल्लिखित व्यक्तियों द्वारा विदेशी जीवन-विधा को सम्पूर्णतया अपना लेने का कार्य परम्परा-प्रेमी लोगों में भ्रम उत्पन्न कर सकता है। क्या इस प्रकार के लोग किले की सुरक्षा को अत्यधिक मजबूत करने के प्रयास में किले को ही नहीं बेच दे रहे हैं? रूस में एक वर्ग द्वारा इस प्रकार की प्रतिक्रिया हुई; मुस्लिम जगत में बहावियों, सुनिसियों इद्रिसियों एवं महदियों द्वारा इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की गई जिन्होंने उपरोक्त प्रकार के लोगों पर इस्लाम के विरुद्ध जाने का आरोप लगाया।

किन्तु विदेशी प्रभाव की चुनौती का सामना करने में विदेशी विधा को संपूर्णतः अपना लेने अथवा परम्परागत विधा को सुरक्षित रखने में से कोई भी अन्तिम समाधान नहीं है। इस अन्तिम समाधान को हमें शेष विश्व का पश्चिम के साथ संबंध की कथा के अगले अध्याय में ढूंढ़ना चाहिए जो भविष्य में छिपा हुआ है। इस अनुपलब्ध अध्याय की पूर्ति हम अतीत में विश्व का यूनानियों तथा रोमनो के साथ समागम के आधार पर कर सकते हैं; क्योंकि इस घटना के लेखन में पहले ही इतिहास-पत्रिका प्रारम्भ से लेकर अन्त तक खुली हुई है, जिससे इस प्राचीन पुस्तक का सम्पूर्ण परीक्षण के लिए खुला हुआ है। इस यूनानी-रोमन अतीत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में सम्भवतः हमारेविश्व को पढ़ा जा सकता है। यह देखा जाय कि इस यूनानी-रोमन लेख का क्याउपयोगहो सकता है ।

यहां मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि यूनानी-रोमन इतिहास के पर्यवेक्षण से हम अपने भविष्य की जन्म-पत्रिका खींच सकते हैं। इतिहास अनायास अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता; तथा इस पर्यवेक्षण से अधिक से अधिक यह हो सकता है कि हमें अपने नाटक की भावी घटनाओं के विषय में कई संभव विकल्प प्राप्त हो सके। हमारे दृष्टान्त में कथानक यूनानी-रोमन निष्कर्ष के विपरीत प्रवर्तित हो सकता है। वस्तुतः भविष्य में देखना अन्धकार में देखना है एवं आगे के मार्ग को देखने के लिए हमें बड़ी सावधानी बरतनी होगी। किन्तु, जो भी प्रकाश-किरण उपलब्ध है, उनका उपयोग न करना बड़ी मूर्खता होगी; तथा, यूनानी-रोमन इतिहास से प्राप्त प्रकाश-किरण निश्चितरूपेण प्राप्य प्रकाश-किरणों में सर्वाधिक प्रकाशकारी है ।

हम यूनानी-रोमन इतिहास के पन्नों को उलटना प्रारम्भ करें तथा ईसा के डेढ़ सौ वर्षों बाद यूनानी-रोमन विश्व का जो चित्र प्राप्त होता है वहां रुकें। इस विश्व का लगभग दो सौ वर्ष पूर्व के विश्व से तुलना करने पर हमें तुरन्त दिखाई पड़ेगा कि इस अवधि में कितनी उन्नति हुई है। पूर्ववर्ती शताब्दी में यूनानी-रोमन विश्व युद्धों, कलहों हिंसात्मक घटनाओं से उतना ही भरपूर था जितना कि आज का पश्चिमी जगत् । किन्तु द्वितीय शताब्दी में गंगा से लेकर टाइन तक पूर्ण शांति प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। ब्रिटेन से लेकर भारत तक—जिस प्रदेश में यूनानी-रोमन सभ्यता का प्रचार हुआ था—समस्त भू क्षेत्र केवल तीन बड़े साम्राज्यों में विभक्त है : भूमध्यसागर के तट के चतुर्दिक रोमन साम्राज्य, ईराक तथा ईरान में पार्थियन साम्राज्य, एवं मध्यएशिया, अफगानिस्तान एवं हिन्दुस्तान में कुषाण साम्राज्य। इन सभी साम्राज्यों के निर्माता तथा शासक यूनानी नहीं है किन्तु वे सभी यूनानी जीवन-विधा तथा संस्कृत के प्रेमी हैं। इन साम्राज्यों से इस भूक्षेत्र में शांति आई; सामाजिक जीवन स्थिर हुआ। जीवन अब अधिक सुरक्षापूर्ण था किन्तु इसी कारण यह नीरस भी था। जनहितकारी, योग्य तथा निरंकुश शासनतन्त्रों ने अनजान में मानव-हृदयों में एक आध्यात्मिक शून्यता उत्पन्न कर दी थी। इस शून्यता को कैसे भरा जाय ? द्वितीय शताब्दी ईसवी में यह यूनानी-रोमन विश्व के सामने एक बड़ी गंभीर समस्या थी, यद्यपि शासनाधिकारी तथा दार्शनिक इस प्रश्न के प्रति सचेत नहीं थे। जनसामान्य ही इस प्रश्न के समाधान में तत्पर था और उसी के उपक्रम के परिणामस्वरूप आधे दर्जन पूर्वात्य धर्मों का उद्भव हुआ। हम पाते हैं कि इन धर्मों ने नेतृत्व को यूनानी-रोमन विश्व से छीन लिया है। यूनानी-रोमन जगत् की आक्रमकता की शक्ति चुक गई थी एवं प्रत्याक्रमण अपने जोर पर था। यूनानी-रोमन जगत् का प्रहार सामरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्वरूप का था, किन्तु शेष जगत् के प्रतिप्रहार का स्वरूप धार्मिक था। इस समय संस्कृतियों के संघर्ष की थकान स्पष्ट थी और जनसामान्य द्वारा इन धर्मों के स्वीकरण का मार्ग प्रशस्त था। धार्मिक समाज सब के लिए खुला था और इससे मानव एकता की भावनाजन्मी तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृतियों के विभेद की भावना का विनाश हुआ। थके तथा बोझिल हृदय वाले यूनानी-रोमन विश्व पर इन नए धर्मों का व्यापक प्रभाव पड़ा। यहां यह जिज्ञासा आवश्यक है कि यूनानी-रोमन विश्व के उस प्रभावी अल्पसंख्यक वर्ग की अनुभूति क्या थी जिसने कि इस समस्त भूक्षेत्र को जीता एवं लूटा था और अब इसके ध्वंसावशेषों पर आत्मनियुक्त प्रहरियों के समान विचर रहे थे। वस्तुतः उनमें भी वही आध्यात्मिक क्षुधा व्याप्त थी जिसने कि बहुसंख्यक वर्ग को पीड़ित कर रखा था। किन्तु नए धर्म की गोली ऐसे लोगों को कड़वी न लगे इस उद्देश्य से नये धर्मों ने अपने ऊपर यूनानी परिधान के विविध प्रकार धारण कर लिए थे। बौद्ध धर्म से लेकर ईसाई धर्म तक सभी ने अपने को यूनानी कला-शैली में प्रस्तुत किया और ईसाई धर्म ने आगे भी अपने बौद्धिक स्वरूप को यूनानी दर्शन के ढंग में प्रस्तुत किया।

यूनानियों तथा रोमनों के साथ इतर विश्व के सम्बन्धों के इतिहास में यह अन्तिम अध्याय था। शक्ति द्वारा विश्व पर यूनानियों तथा रोमनों की प्रभुत्व-स्थापना के पश्चात् इस इतर विश्व ने उन्हें अपने धर्मों में धर्मान्तरित करके उन्हें अपना बन्दी बना लिया; इन धर्मों ने विजेता तथा विजित, शासक तथा शासित यूनानी तथा गैर यूनानी का विभेद किए बिना सभी को अपना संदेश दिया। शेष विश्व का पश्चिम के साथ संबंधों में क्या इसी प्रकार की कोई बात होने वाली है? हम कुछ कह नहीं सकते क्योंकि भविष्य को बता सकना कठिन है। हम केवल यह देख सकते हैं कि इतिहास के एक भिन्न कथानक में एक बार जो हो चुका है वह भी हमारे भविष्य के संदर्भ में विविध संभावनाओं में एक हो सकती है।

पीटर गेल : 'इतिहासकारों के साथ परिसंवाद'

[डच इतिहासकार पीटर गेल की एक प्रमुख रचना **नेपोलियन के पक्ष तथ विपक्ष में** है। (मूल से अंग्रेजी भाषा में **नेपोलियन फार एण्ड अगेन्स्ट** शीर्षक से अनूदित है)। इसमें उनसे यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि किसी भी समाज के स्वरूप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्देशक उस समाज द्वारा किया गया इतिहास-लेखन होता है, क्योंकि, किसी भी अन्य मनुष्य के समान, इतिहासकारों का विचार भी अपने समय तथा स्थान के परिवेश से प्रभावित होता है।

उसकी दूसरी प्रमुख कृति **डिबेट्स विद हिस्टोरियन्स** है जिसके तीन अध्याय (५–८) टायनबी की आलोचना पर हैं; टायनबी के अध्ययन की समीक्षा ने गेल को 'टायनबी-विरोधी' की उपाधि प्रदान की है। टायनबी की परीक्षासिद्ध उपयुक्तता पर पर्याप्त विवाद रहा है। वस्तुतः किसी भी ऐतिहासिक विशेषज्ञ के लिए, जिसके भी क्षेत्र में टायनबी ने प्रवेश किया है, वह एक उपयुक्त लक्ष्य है। सभ्यता के उद्भव, विकास तथा पतन के विषय में उसका एक विशिष्ट सिद्धांत है और इस कारण प्रत्येक सभ्यता के विवेचन में वह यह प्रदर्शित करने को बाध्य है कि इसकी जीवन-यात्रा उसके इस सिद्धान्त के साथसंगत है; किन्तु उसका विशद ज्ञान भी उसके द्वारा किए

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गए सामान्यीकरण के भार को सहन नहीं कर पाता। गेल ने यह दिखाने की चेष्टा की है। टायनबी के निष्कर्ष साक्ष्यों के निष्पक्ष अध्ययन पर आधारित न हो कर इस प्रयास से नियंत्रित प्रतीत होते हैं कि वे उसके सिद्धान्त से संगत हों; अपनी पुस्तक में गेल ने टायनबी की पुस्तक से ऐसे दृष्टान्तों का उल्लेख किया है। वस्तुत: जब कोई योजना अथवा व्यवस्था पन्थ अथवा वाद का स्वरूप ग्रहण कर लेती है तो इतिहास केवल इस योजना के समर्थन के उद्देश्य से वरित अथवा विकृत किये गए दृष्टान्तों का संग्रह मात्र रह जाता है और इस प्रकार इतिहास का अध्ययन सर्वथा रुद्ध हो जाता है। यह खतरा उस समय और भी अधिक होता है जब यह योजना इतिहास के अध्ययन पर आधारित होने का दावा करती है। टायनबी का दावा इसी प्रकार का है; एवं मार्क्सवादी विचारधारा भी मानव इतिहास तथा व्यवहार का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने का दावा करती है। वस्तुत: वैज्ञानिक तो किसी इस प्रकार की योजना में बंधे बिना काम कर ही नहीं सकता क्योंकि वहसामान्यीकरण की कसौटी पर विशिष्ट घटनाओं की परख तथा मूल्याँकन करता है; किन्तु इतिहासकार के लिए प्रत्येक विशिष्ट महत्वपूर्ण है और उसे किसी सामान्य सिद्धान्त में बंध कर काम करने वाला बताना उसके लिए गाली से कम नहीं है। गेल ने संप्रति दिए गए चयन में इन्हीं तथ्यों पर बल दिया है।]

इतिहास को इसकी संपूर्णता में सर्वेक्षण करने एवं इसके विकास में प्रवृत्तियों को खोजने के प्रयास का कार्य केवल प्रोफेसर टायनबी ने ही नहीं किया। उनके पूर्व सेंट आगस्टिन, बोसुए, कोंदरसे, हीगल, मार्क्स, बकल, वेल्स, स्पेंग्लर ने भी यह प्रयास किया है : न ही टायनबी इस शृंखला के अंतिम व्यक्ति हैं। उनकी कृति का आशय विभिन्न सभ्यताओं का एक तुलनात्मक अध्ययन है जिसके आधार पर इतिहास के विषय में सामान्य अवधारणाएं बनाई जा सकें। उनके अनुसार इतिहास की वास्तविक इकाइयां राज्य न हो कर सभ्यताएं हैं। **'ए स्टडी आफ हिस्टरी'** को पढ़ने पर मुझे ऐसा लगता है कि लेखक द्वारा विकसित वाद अर्थात् सभ्यताओं के विकास के लिए उसने जिन नियमों को उत्तरदायी बताया है तथा उन नियमों की जिस रूप में परिभाषा की है वे तथ्यों —वैज्ञानिक रूप में दृष्ट तथा परस्पर संबद्ध तथ्यों—से समर्थित नहीं हैं। मेरी धारणा है कि ऐतिहासिक तथ्य के स्वरूप के विषय में टायनबी की अवधारणा के प्रति कई गंभीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। टायनबी पेशेवर इतिहासकारों को पसन्द नहीं करते एवं उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण तथा सदैव शंकालु मन के प्रति अधीर दिखाई पड़ते हैं। किन्तु मेरे विचार से इतिहासकार के लिए अपने विषय के नियमों तथा सीमाओं का अभिज्ञान तथा उपयोग आवश्यक है तथा उससे यह अपेक्षित है कि आकर्षक सामान्यीकरणों की अपेक्षा वह अपने अज्ञान तथा संदेह को प्रकट करना अधिक पसन्द करे। मेरा यह आशय नहीं कि इतिहासकार तथ्यों से चिपका रहे, किन्तु साथ ही उसे यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि विवरण में आधारहीन एवं अनावश्यक वैयक्तिकता का अनुप्रवेश न हो जाय। यह इतिहासकार का एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पवित्र कर्त्तव्य है तथा उसकी उपयोगिता की एक आवश्यक अपेक्षा है। टायनवी ने विभिन्न व्यक्तियों, प्रवृत्तियों, विचार-विधाओं, सामाजिक परिस्थितियों युद्धों तथा सभी देशों एवं सभी समयों की प्रथाओं के दृष्टान्तों पर चर्चा की है। किन्तु समीक्षात्मक बुद्धि से युक्त पाठक यह सोचने को विवश हो जाता है कि इनमें से प्रत्येक विवाद का विषय हो सकता है तथा इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे इनके द्वारा टायनबी के मत का समर्थन नहीं किया जा सकता। ये तथ्य नहीं है अपितु तथ्यों के सर्वथा वैयक्तिक निरूपण हैं, तथ्यों की व्याख्याएं हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास के ये विशद संश्लेषण एक गंभीर दोष से ग्रस्त हैं : मनुष्य के जीवन के विविध आयाम हैं, विभिन्न प्रकार की जटिलताएं हैं, विविध पक्ष हैं और वस्तुतः इतिहास-विषय का निर्माण इन्हीं से होता है। इन संश्लेषणों में इस बात को दृष्टि में नहीं रखा गया है।

हुइजिंगा ने कहा है कि किसी सभ्यता की उत्कृष्टता का मापन संभव नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि सभ्यताओं का उच्च तथा हीन के रूप में निश्चित विभाजन संभव नहीं। विकास की अवस्था तथा पुनः उसके पश्चात् विघटन का युग इस रूप में टायनबी का एक ही सभ्यता के विभिन्न अनुक्रमिक अवस्थाओं का कठोर वर्गीकरण समझ से परे है। हम प्रायः स्वर्ण युग की अथवा पतन की अवस्था की चर्चा करते हैं। वस्तुतः जब हम किसी स्वर्ण युग के विषय में विस्तृत अध्ययन करते हैं तो उसमें ऐसे कई दोष तथा दुर्बलताएं दिखाई पड़ती हैं जो हमारी आधुनिक कमियों से कम नहीं हैं; दूसरी ओर पतनशील अवस्था में भी कुछ सुन्दर तत्वों का दर्शन होता है। किन्तु किसी एक के विरोध में दूसरे का मूल्यांकन इतिहासकार कभी भी निश्चितता के साथ नहीं कर सकता। मैं यह नहीं कहना चाहता कि वर्तमान के लिए इतिहास का कोई मूल्य नहीं है। बर्कहार्ट के समान मेरा भी यह विश्वास है कि यद्यपि यह तात्कालिक अवसरों के लिए शिक्षाएं नहीं प्रदान करता तथापि इसके अध्ययन से हम अधिक विवेकपूर्ण बनते हैं; हम से मेरा तात्पर्य केवल पेशेवर इतिहासकारों से न हो कर उस समुदाय से है जिसमें इतिहास का अध्ययन तथा लेखन निरन्तर हो रहा है। मैं किसी भी सभ्य समाज के लिए ऐतिहासिक दृष्टि के अनिवार्य मूल्य में विश्वास करता हूं; लेकिन हमें इतिहास से उस चीज की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए जो यह हमें निश्चितरूपेण नहीं प्रदान कर सकता। मैं टायनबी की कल्पना का प्रशंसक हूं, उनके निष्कर्षों से सहमत न हो सकने पर भी मेरे अन्दर उनके उत्साह की सराहना का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु जब इस कृति को वे वैज्ञानिक अनुसंधान पर आधारित बताते हैं तो मैं सहमत नहीं हो पाता। धर्मदूत तथा कवि के रूप में टायनबी का कार्य सराहनीय है, किन्तु वैज्ञानिक ऐतिहासिक गवेषक के रूप में नहीं। इसलिए और भी कि यह एक ऐसे निष्कर्ष की ओर ले चलता है जो मुझे खतरनाक लगता है। टायनबी हमारे सामने दो विकल्प रखते हैं : धर्मान्तरण अथवा विनाश, और वे यह इस प्रकार कहते हैं मानों उन्हें इतिहास का समर्थन हो। किन्तु, स्वयं इतिहास इस प्रकार का कोई असमंजस नहीं उपलक्षित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करता। कोई रहस्यवादी चिन्तक ही इसमें रहस्यात्मक मुक्ति का आश्वासन देखेगा। शेष लोगों के लिए यह किसी नैराश्य का संदेश नहीं देता।

टायनबी द्वारा प्रस्तुत वाद के राजनीतिक निहितार्थ स्पेंग्लर द्वारा प्रस्तुत वाद के समान अप्रिय नहीं हो सकते, किन्तु यह उससे कम तर्कशून्य तथा पूर्वसिद्ध-भावी नहीं है। इसे वैज्ञानिक विधा तथा प्रत्यक्षवादिता के परिधान में प्रस्तुत करते हुए वह न केवल मेरे अन्दर निहित विषय-ज्ञाता को उद्वेलित करता है अपितु इसे प्रतिवाद के लिए प्रेरित करता है क्योंकि आज के युग की प्रथम आवश्यकता स्पष्ट चिन्तन है। जब कोई व्यक्ति व्यापक तथा संवेगात्मक शक्ति से संपन्न अन्तर्दृष्टि, सिद्धान्त, मताग्रह को लेकर, अथवा ऐसी व्यवस्था को लेकर जिसके कारण उसे इतिहास के विविध पक्षीय विकास को किसी एक ईश्वर-प्रेरित सिद्धान्त में बांधना होता है, लिखना प्रारम्भ करता है, तो वह व्यक्ति विश्वास तथा प्रखरता से विभूषित मनोरंजक तथा ध्यानाकर्षक सिद्धान्तों से संपन्न कृति की रचना कर सकता है, किन्तु वह इतिहास नहीं लिख सकता। **'इतिहास का अध्ययन'** इतिहास नहीं है। इतिहास के विद्यार्थी को—जैसा कि टायनबी ने स्वयं को कहा है—मैं जितना कभी भी जान पाऊंगा उन्हें उससे अधिक इतिहास का ज्ञान हो सकता है, किन्तु वह इतिहासकार नहीं हैं। वह एक धर्मदूत हैं।

नैतिकता तथा इतिहास

[हमारे समय में इतिहास में अर्थान्वेषण सामान्यतः त्याग किया गया है; कारण ऊपर दिए जा चुके हैं। यह उल्लेखनीय है कि अन्वेष्य अर्थ सदैव—स्पष्ट अथवा प्रच्छन्न रूप में—नैतिक था। तदनुसार, क्या हम यह घोषित करते हैं कि इतिहास नैतिकताविहीन है? कार्ल आर० पापर का उत्तर स्वीकारात्मक है सिवाय इसके जो कि हमने—हमसे पूर्व हुए अन्यों के समान—इसे प्रदान किया है। तब क्या इतिहास में नैतिक निर्णयों की संभावना नहीं है? यहां विविध प्रकार के उत्तर मिलते हैं। यदि, सामाजिक समीक्षा के समान, इतिहास स्वयं हमारे द्वारा पूछे गए प्रश्नों पर आधारित होता है तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि ऐतिहासिक निर्णयों को बनाने में हमारे मूल्यों की प्रमुख भूमिका होती है। टाल्सटाय को इतिहास में नैतिकता की खोज में निराशा हाथ लगी। परम्परागत ईसाई धर्म की सत्यता में विश्वासी लोग इतिहास में ईश्वर की अपनी नैतिकता अभिव्यक्त पाएंगे; वे यद्यपि यह आग्रह कर सकते हैं कि चूंकि हम सभी पापी है अतः दूसरों पर निर्णय देने का हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार के किसी ईसाई अथवा गैर ईसाई नियतिवाद के लिए इसाइया बरलिन द्वारा उत्तर दिया गया है। पहले उन्होंने यह आग्रह किया है कि इतिहास जीवन है जिस रूप में कि हम सामान्यतः इसे जानते हैं; वहां उनका कहना है कि जीवन की सामान्य परिस्थितियों में हमें निर्णय देना होता है। इसी प्रकार अतीत-कालिक घटनाओं तथा व्यक्तियों पर निर्णय देने का न केवल हमें अधिकार है अपितु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम ऐसा करने को बाध्य होते हैं। नैतिकता के विषय में, जिस प्रकार हम सामान्यत: व्यक्तियों के कार्यों को अच्छा अथवा बुरा कह कर वर्णित करते हैं, इतिहास भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मृत व्यक्तियों के व्यवहार के विषय में निर्णय देते हुए हम उनके विषय में उसी प्रकार के प्रश्न करते हैं जिस प्रकार जीवित व्यक्तियों के विषय में।

वरलिन तथा वर्कहार्ट के तर्कों में सूक्ष्म विभेद है। जबकि बरलिन के अनुसार इतिहास पर आरोपित निर्णय परम्परया ज्ञात निर्णय हैं, वर्कहार्ट का निष्कर्ष यह है कि हमारे नैतिक निर्णयों का निर्माण भी इतिहास द्वारा होता है तथा यह कि इतिहास का अध्ययन इनमें परिष्कार करता है; जैसा कि आरटेगा ने कहा है "मनुष्य का कोई स्वभाव नहीं होता; उसका इतिहास होता है।" यह अभिज्ञान होते ही कि हम नैतिक ज्ञान इतिहास-अध्ययन द्वारा पाते हैं, नैतिक निर्णय का प्रश्न अप्रासंगिक हो जाता है। इतिहास को नैतिक अर्थ-संसार में सर्वव्याप्त अथवा अनुभवातीत-प्रदान करने के प्रयास का वहुतेरे इतिहासकारों द्वारा इस अभिनिश्चयन से प्रत्याख्यान किया जाता है कि स्वयं अपने को एक अर्थ प्रदान करके इतिहास को अर्थ हम ही प्रदान करते हैं, और अपने लिए अर्थ की रचना हम मुख्यत: इतिहास के अध्ययन द्वारा करते हैं।]

कार्ल आर० पापर : 'क्या इतिहास में कोई अर्थ है ?'

[पापर की गणना प्रमुख आधुनिक इतिहास-विचारकों में की जाती है। वे इस मत के महान समर्थक हैं कि इतिहास विज्ञान नहीं है। उनकी प्रमुख कृति **पावर्टी आफ हिस्टारिसिज्म** है; इसमें उन्होंने उन विविध तर्कों को दिया है जो इतिहास को विज्ञान से पृथक् करते हैं : परीक्षण तथा अनुमान कर सकने की असंभावना; नवीनता, जटिलता, भविष्यवाणी की सामर्थ्यहीनता; प्रस्तुति की अपरिहार्य चयनात्मकता; कारणात्मक व्याख्या की अपर्याप्तता इत्यादि। **दी ओपेन सोसायटी एण्ड इट्स एनेमीज** पापर की दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें उसने इतिहास के नितान्तत: वस्तुनिष्ठात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, संपूर्ण मानव जाति का कोई सार्वभौमिक इतिहास नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार का कोई इतिहास होना है तो इसे सभी मनुष्यों का इतिहास होना चाहिए; इसे सभी मानव-आशाओं, संघर्षों तथा दु:खानुभूतियों का इतिहास होना चाहिए। "क्योंकि कोई भी एक मनुष्य किसी दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।" इतिहास लेखन में हम कुछ को छोड़ते हैं, कुछ का चयन करते हैं और ऐसा करते हुए हम अतीत के विभिन्न वर्गों का इतिहस लिखते हैं और इसे ही मानव-जाति के इतिहास की संज्ञा प्रदान करते हैं। यह इतिहास वस्तुत: राजनीतिक शक्ति मात्र का इतिहास होता है जो भारी पैमाने पर हुई हत्याओं तथा अपराधों के इतिहास से भिन्न नहीं है। और इस प्रकार, पापर की यह मान्यता है, इतिहास में कोई अर्थ नहीं है।

पापर की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य नामक जीव विभिन्न मनुष्यों की समष्टि से अधिक होता है; एक राष्ट्र अपने सदस्यों की सामू-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिकता से बढ़ कर होता है: इसी प्रकार एक सभ्यता का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, यह केवल सामान्यग्रहण नहीं होती। अतएव इस प्रकार की राष्ट्रीय तथा सभ्यतागत सत्ता के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि "कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता।" कुछ मनुष्य दूसरों की अपेक्षा निश्चतरूपेण अधिक महत्वपूर्ण होते है—उदाहरणार्थ न्यूटन तथा आइन्स्टीन निःसंदेह वर्तमान तथा अतीत के विविध भौतिकशास्त्रियों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार जब हम मानव जाति के इतिहास का अध्ययन करते हैं तब कुछ युग, कुछ घटनाएं, कुछ व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावी तथा महत्वपूर्ण होते हैं और इस कारण वे तत्कालीन घटनाओं के केन्द्र बनते हैं। वस्तुतः लोगों के, देशों के महत्व अधिक एवं कम होते रहते हैं। कभी एक प्रकार के कार्यव्यापार तथा अभिरुचि का जोर होता है कभी दूसरे प्रकार का। पापर द्वारा प्रस्तुत विभिन्न आपत्तियों के बावजूद, मानव, इतिहास में एक व्यवस्था का दर्शन होता है और जहां व्यवस्था है, वहां अर्थ का अनस्तित्व नहीं हो सकता। (द्र०, एरिख काहलर, **द मीनिंग ऑफ हिस्टरी,** चैपमैन एण्ड हाल, लन्दन, १९६५, पृ० १८९–१९३)।]

मेरी मान्यता है कि इतिहास में कोई अर्थ नहीं है। किन्तु, यद्यपि इतिहास का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं हैं, हम अपने लक्ष्यों को इस पर आरोपित कर सकते हैं; तथा, यद्यपि इतिहास का अपना कोई अर्थ नहीं, हम इसे अर्थ प्रदान कर सकते है। न तो प्रकृति और न ही इतिहास हमें यह बता सकता है कि हमें क्या करना चाहिए। चाहे प्राकृतिक तथ्य हों या ऐतिहासिक तथ्य, वे हमारे लिए निर्णय नहीं ले सकते, वे हमारे द्वारा चुने जाने वाले लक्ष्यों का निर्धारण नहीं कर सकते। प्रकृति तथा इतिहास दोनों में ही उद्देश्य तथा अर्थ का आरोपण हमारे द्वारा ही होता है। मनुष्य समान नहीं होते किन्तु हम समान अधिकारों के लिए लड़ने का निश्चय कर सकते हैं। राज्य जैसी मानवीय संस्थाएं तर्कशील नहीं होती किन्तु हम उन्हें तर्कशील बनाने के लिए संघर्ष करने को सोच सकते हैं। स्वयं इतिहास में न तो कोई लक्ष्य है और न कोई अर्थ, किन्तु हम इसे दोनों ही बातें देने का निश्चय कर सकते हैं। अन्ततः यही बात 'जीवन के अर्थ' पर लागू होती है। यह निर्णय लेना हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हमारे जीवन का उद्देश्य क्या होगा।

मेरे विचार से तथ्यों तथा निश्चयों की यह द्वैधता मौलिक है। स्वयं तथ्यों में कोई अर्थ नहीं होता; वे हमारे निश्चयों के माध्यम से अर्थ प्रदान कर सकते हैं। इतिहासवाद वस्तुतः इस द्वैधता के समाधान के विविध प्रयासों में एक है; किन्तु यह इस अभिज्ञान से कतराता है कि हम जिन प्रतिमानों को चुनते हैं उनका भी उत्तरदायित्व हमारे ही ऊपर होता है। यह मान कर चलता है कि जहां हमने नहीं बोया है, वहां भी काट सकते है; यह हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि यदि हम केवल इतिहास के साथ चरण मिला कर चलें तो सभी कुछ ठीक हो जाएगा तथा यह कि हमारे लिए कोई निश्चय लेना आवश्यक नहीं होगा; यह हमारे उत्तरदायित्व का बोझ इतिहास पर डाल देने का प्रयास करता है। जुए की तरह इतिहासवाद हमारे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मों की तर्कशीलता तथा उत्तरदायित्व में निराशा से उद्‌भूत हुआ है। यह एक दूषित आशा तथा श्रद्धा है, यह एक मिथ्या विज्ञान से उद्‌भूत निश्चितता द्वारा हमारे नैतिक उत्साह तथा सफ़लता के प्रति घृणा से उद्‌भूत आशा तथा श्रद्धा के प्रतिस्थापन का प्रयास है—यह मिथ्या विज्ञान ग्रहों का हो, 'मानव-स्वभाव' का अथवा ऐतिहासिक नियति का।

इतिहास न केवल तर्कबुद्धि के आधार पर आधारणीय है, यह अन्तरात्मा के महत्व की शिक्षा प्रदान करने वाले किसी भी धर्म के विरोध में है। क्योंकि इस प्रकार का कोई भी धर्म इतिहास के विषय में इस तर्कशील दृष्टिकोण से सहमत होगा कि अपने कर्मों के लिए इतिहास के मार्ग पर उनके प्रभावों के लिए हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं। यह सच है कि हमें आशा चाहिए, बिना इसके हमारी शक्ति जवाब दे जाएगी; किन्तु हमें कुछ अधिक नहीं चाहिए और न ही हमें कुछ अधिक मिलना चाहिए। हमें निश्चितता नहीं चाहिए। धर्म में इतिहासवादी तत्व प्रतिमो-पासना का, अन्धविश्वास का तत्व है।

तथ्यों तथा निश्चयों की द्वैधता पर बल 'प्रगति' जैसी अवधारणाओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण को भी निर्धारित करता है। यदि हम यह मानते हैं कि इतिहास प्रगति करता है अथवा यह कि हम प्रगति से बंधे हैं, तो हम उन लोगों की तरह उसी प्रकार की गलती करते हैं जो यह मानते हैं कि इतिहास में एक अन्वेष्य अर्थ होता है जिसके लिए यह आवश्यक नहीं कि हम इसे प्रदान करें। क्योंकि प्रगति का अर्थ होता है किसी लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना। एक ऐसा लक्ष्य जिसका मनुष्यों के रूप में हमारे लिए अस्तित्व है। इतिहास यह नहीं कर सकता; केवल हम मनुष्य ही यह कर सकते हैं; हम यह उन प्रजातांत्रिक संस्थाओं की सुरक्षा द्वारा तथा उसे शक्तिशाली बना कर कर सकते हैं जिन पर स्वतंत्रता, एवं इसके साथ प्रगति, निर्भर होती है। और तब हम इसे और भी ठीक से कर सकेंगे जब हम इस तथ्य से और अधिक अभिज्ञ होंगे कि प्रगति हमारे ऊपर, हमारी सजगता, हमारे प्रयासों, अपने लक्ष्यों की अवधारणाओं के प्रति हमारी स्पष्टता, तथा उनके चयन की वास्तविकता पर निर्भर है।

धर्मदूत बनने के स्थान पर हमें अपने भाग्य का निर्माता बनना चाहिए। हमें यथासंभव अपने कार्य को ठीक से करना चाहिए तथा अपनी भूलों को समझना चाहिए। तथा जब हम इस विचार से मुक्त हो जाएंगे कि शक्ति का इतिहास हमारा निर्णायक होगा, जब हम इसकी चिन्ता छोड़ देंगे कि इतिहास हमारा औचित्य-स्थापन करेगा अथवा नहीं, तब संभवतः एक दिन हम शक्ति पर नियंत्रण पा सकने में सफल हो सकते हैं। इस प्रकार हम इतिहास का भी औचित्य-स्थापन कर सकते हैं। इसे बुरी तरह औचित्य-स्थापन की अपेक्षा है।

इसाइया बरलिन : 'ऐतिहासिक अवश्यम्भाविता'

इतिहास में प्रशंसा अथवा दोषारोपण की समीचीनता है अथवा नहीं, इस वषिय पर पर्याप्त विवाद रहा है और विभिन्न प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वर्तमानकालीन मूल्यों को अतीत पर लागू करना कहां तक उचित होगा, अथवा किसी अन्य वर्ग का मूल्यांकन हम अपने मूल्यों के आधार पर कैसे कर सकते हैं— ये प्रश्न स्वभावतः उठते है। कुछ लोग जो मनुष्य को इतिहास-प्रवाह अथवा मानव-नियति के समक्ष नगण्य तथा असहाय मानते हैं, वे मनुष्य को उसकी किसी असफलता के लिए कदापि उत्तरदायी ठहराने के पक्ष में नहीं हैं। इतिहास की अपनी निश्चित दिशा है। जिस ओर वह अग्रसर हो रहा है, इसे समझना सरल नहीं। किन्तु इस प्रकार की सभी व्याख्याएं विवादास्पद हैं।

यहां इस विषय पर जनसामान्य के सामान्य विचारों को समझना उचित होगा। सामान्य परिस्थितियों में हम जब क्रामवेल की प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं अथवा जब हिटलर की चर्चा करते हैं, तब हम अपने वक्तव्य में कुछ भी संकटास्पद अथवा आपत्तिजनक नहीं देखते। न ही हम यह अनुभव करते हैं कि, यह कहने में कि श्री बेलाक अथवा मेकाले में रांके अथवा हालेवी की तुलना में निर्वैयक्तिक सत्यता का अभाव था, हम कोई आश्चर्यजनक बात कह रहे हैं। ऐसा कहते हुए हम क्या निश्चित करना चाह रहे हैं? क्या हम केवल यह कह रहे हैं कि बेलाक अथवा मेकाले की तुलना में हमें रांके के निष्कर्ष अथवा हालेवी का सामान्य स्वर अधिक रुचिकर लगता है? किन्तु क्या क्रामवेल की नीतियों अथवा बेलाक द्वारा उन नीतियों के विवरण के हमारे मूल्यांकन इस बात का समर्थन नहीं करते, कि हमारे नैतिक तथा बौद्धिक आदर्श उनके आदर्शों से भिन्न हैं? क्या इसमें यह संकेत नहीं निहित है कि हम यह सोचते हैं कि वे अन्य रूप में कार्य कर सकते थे और यही नहीं उन्हें अन्य रूप में कार्य करना चाहिए था? और जब हम यह मानते हैं कि उनका व्यवहार भिन्न प्रकार का हो सकता था अथवा होना चाहिए था, तो क्या यह हमारे द्वारा यह न समझ सकने की मनोवैज्ञानिक अयोग्यता का लक्षण है कि वे भिन्न प्रकार से (क्योंकि कोई भी नहीं कर सकता) व्यवहार नहीं कर सकते थे? इस प्रकार के विचार का अभिप्राय यह होगा कि हमारे लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम इस प्रकार की बात न कहें और यह याद रखें कि हम सभी समानरूपेण मोहग्रस्त हैं, तथा यह याद रखें कि नैतिक उत्तरदायित्व एक कल्पना है, कि ज्ञान की तथा भाषा के सम्यक् उपयोग की वृद्धि के साथ इस प्रकार की अर्ध-नैतिक अभिव्यक्तियां तथा उनके आधाररूप मानव स्वतंत्रता की मिथ्या अवधारणा सभ्य मनुष्यों के शब्दकोश से सर्वथा विलुप्त हो जाएंगी।

इसी चिन्तन-प्रवृत्ति का एक भाग यह आग्रह है कि यद्यपि विश्व में नैतिकता की विचारणा से पूर्णतया मुक्ति संभव नहीं है, तथापि इतिहासकार को ऐसी प्रवृत्तियों का शमन करना चाहिए। इतिहासकार के रूप में हमारा कार्य विवरण देना तथा व्याख्या करना है, निर्णय देना नहीं। यह कहा जाता है कि इतिहासकार निर्णायक नहीं अपितु अन्वेषी है; उसका कार्य साक्ष्य प्रदान करना है तथा पाठक अपनी इच्छानुसार नैतिक निष्कर्षों की प्राप्ति कर सकता है।

इस प्रकार की अवधारणा इतिहास की यथातथ्य भौतिक विज्ञानों में से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ के साथ समानता के विश्वास पर आधारित है। इन विज्ञानों में निर्वैयक्तिकता का एक विशिष्ट अर्थ होता है। इतिहास निश्चितरूपेण उस अर्थ में विज्ञान नहीं। यह कुछ ऐसी अवधारणाओं तथा कोटियों का प्रयोग करता है जो इसमें ही द्रष्टव्य होते हैं, किन्तु ये सभी सामान्य ज्ञान से संबद्ध होती हैं। यद्यपि विशेषीकृत इतिहास लेखनों में कुछ पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार वे भौतिक विज्ञानों का कुछ-कुछ स्वरूप धारण करते हैं, किन्तु सामान्य इतिहास—सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक—में हम सामान्य जीवन के अनुभवों के आधार पर ही अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। अतीतकालिक किसी पात्र—नेपोलियन अथवा टेलीरां—के निरूपण में हम अपने समसामयिक व्यक्तियों तथा घटनाओं के अवबोध को ही आधार बनाते हैं। जिस प्रकार हम अपने दैनिक व्यवहार में करते हैं, उसी प्रकार हम इतिहासकारों पर पूर्वाग्रह, मूर्खता, असत्यता का दोषारोप कर सकते हैं; और इसमें समान प्रकार का न्याय तथा तर्कशीलता होगी। केवल यह मानने पर ही कि इतिहास द्वारा मनुष्यों को भौतिक वस्तुओं के रूप में ही लिया जाना चाहिए, इसकी कार्यविधा को भौतिक विज्ञान के प्रतिमान में सन्निविष्ट किया जा सकता है। मनुष्य पर उद्देश्यों तथा प्रेरणाओं से युक्त प्राणी के रूप में विचार एक नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन की अपेक्षा रखता है; और इतिहासकार मनुष्यों के कार्यव्यापारों की चर्चा करता है। इतिहासकारों से इस प्रकार के मूल्यांकन से बचने का आह्वान मानवीय अध्ययनों के उद्देश्यों तथा कार्यविधियों को प्राकृतिक विज्ञान के उद्देश्यों तथा कार्यविधियों के समान समझने के भ्रम पर आधारित है। यह पिछले वर्षों की महानतम तथा सर्वाधिक विनाशकारी मिथ्या धारणाओं में से है।

[ऊपर के लेख में बरलिन का प्रमुखतम आग्रह यह है कि इतिहास का अध्ययन-विषय ही मूल्य-संपृक्त है। इस प्रकार वह एक ज्ञानसापेक्षवादी विचार के रूप में प्रतिष्ठित होता है। वह यह तो स्वीकार करता है कि इतिहासकार को छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से बचना चाहिए किन्तु वह उस न्यूनतम नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन से बचने की आशा नहीं कर सकता जो मनुष्य को प्रयोजनों तथा अभिप्रायों से युक्त प्राणी के रूप में देखने में अपरिहार्यरूपेण सन्निविष्ट है। बरलिन ने यह कहा है कि इतिहास कोई, अपनी विशेषरूपेण निर्मित पारिभाषिक शब्दकोश से युक्त, नियमनिष्ठ शास्त्र नहीं है। यह अतीत को उसी रूप में समझने का एक प्रयास है जिस रूप में साधारण मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र के अधिष्ठान वर्तमान को समझने का प्रयास करता है। उसके विचारानुसार, जनसामान्य की भाषा का प्रयोग करते ही इतिहासकार को विवश होकर–वह चाहे अथवा नहीं, उसे इस बात का अभिज्ञान हो अथवा नहीं–अपने अध्ययन-विषय की मूल्य-संपृक्त चर्चा करनी होती है; क्योंकि 'विजय', 'षडयन्त्र', 'व्यवस्था', 'राजनीतिक विवेक' जैसे शब्द, जो इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त सामान्य शब्द हैं, केवल विवरणात्मक शब्द नहीं हैं। अपनी पुस्तक **नेचुरल राइट एण्ड हिस्टरी** (शिकागो, १९५३, पृ० ५०-५१, ५६-५७)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में लीग्रो स्ट्रास इसी निष्कर्ष पर एक दूसरे ढंग से पहुंचा है। उसका आग्रह है कि कला के इतिहास में किसी चित्रविशेष का विवरण सौंदर्यशास्त्रीय मानदण्डों के व्यवहार के बिना कैसे हो सकता है? : इसी प्रकार धर्म के इतिहास में धार्मिक निर्णयों का व्यवहार तथा युद्ध के इतिहास में विविध सेनाध्यक्षों के व्यूह-नैपुण्य का मूल्यांकन अपरिहार्य है; इतिहासकार किसी वस्तु के विषय में इसके स्वरूप को जाने बिना नहीं लिख सकता, तथा बिना मूल्यारोपण किए हुए वह अध्ययन के एतद्रूप विषयों को कैसे जान सकता है ?

ज्ञानसापेक्षवादियों के आलोचकों का यह कहना है कि इसका कोई भी प्रत्याख्यान नहीं करेगा कि अपने तथा दूसरे के कार्यों की चर्चा में हम अवश्य ही नैतिक, सौंदर्यशास्त्रीय एवं अन्य प्रकार के मानदण्डों का व्यवहार करते हैं, और एक अर्थ में ये निश्चितरूपेण हमारे मूल्यांकन की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के मूल्य-निर्धारण को ऐतिहासिक जिज्ञासा का आवश्यक लक्षण माना जाय। अर्नेस्ट नेगेल का उत्तर नकारात्मक है; उसका तर्क है कि यह मानना भयंकर भूल होगी कि एक मोटा गोरक्षक ही मोटी गायों को हांक सकता है; उसी प्रकार की भूल यह माननी होगी कि कोई व्यक्ति नैतिक अथवा सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य-निर्धारणों में पड़े बिना मूल्यों तथा मूल्यांकनों की परिस्थितियों एव उनके परिणामों के प्रति जिज्ञासा नहीं कर सकता (द्र०, मायरहाफ संपादित **द फिलासफी ऑफ हिस्टरी इन आवर टाइम** में 'द लाजिक ऑफ हिस्टारिकल एनलिसस' शीर्षक लेख)। इसी प्रकार, बटरफील्ड ने कहा है कि यद्यपि जीवन का प्रत्येक अंश नैतिकता से संबद्ध है किन्तु—इतिहासकार के रूप में इतिहासकार का कार्य नैतिक निष्कर्षों का निर्धारण नहीं है; उसका वास्तविक दायित्व 'घटनाओं की दर्शनीय अन्तर्संबद्धताओं' का अध्ययन है; इस प्रकार की गवेषणा में नैतिक निर्धारण 'स्वभावतः अप्रासंगिक है।'; वह वस्तुतः इसके 'बौद्धिक क्षेत्र' के बाहर है। (द्र०, मायरहाफ संपादित ऊपर लिखित पुस्तक में 'मारल जजमेन्ट इन हिस्टरी' शीर्षक लेख।]

जेकब बर्कहार्ट, 'इतिहास में भाग्य तथा दुर्भाग्य'

[१८७९ में अपनी मृत्यु के समय बर्कहार्ट को एक गौण इतिहासकार के रूप में—विशेषरूपेण कला के इतिहासकार के रूप में—जाना जाता था। आज उसकी गणना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख दार्शनिक इतिहासकारों में की जाती है। वह स्विटजरलैंड का निवासी था किन्तु उसकी शिक्षा जर्मनी में हुई। रांके उसका शिक्षक था। रांके ने इतिहास को तथ्यात्मक इतिहास के रूप में प्रतिष्ठित करने पर बल दिया; किन्तु बर्कहार्ट का इतिहास अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत एवं अधिक वैयक्तिक है। उसने मनुष्य के सृजनात्मक एवं राजनैतिक कार्यव्यापारों में विभेद नहीं किया। उसके लिए इतिहास सभ्यता का इतिहास था एवं उसके अनुसार, सभ्यता का इतिहास सभी कुछ को—धर्म, कला, साहित्य—साथ लेकर चलता है। वस्तुसामग्रियों का इसका चयन इसके आभ्यन्तर सिद्धांत का अनुसरण करता है। यह उल्लेखनीय है कि जहां

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रांके का 'वैज्ञानिक' एवं 'तथ्यात्मक इतिहास अब उतना लोकप्रिय नहीं रह गया है, बर्कहार्ट का अवैज्ञानिक 'सांस्कृतिक' इतिहास अब भी हमें उद्वेलित करता है।

बर्कहार्ट ने मानव सभ्यता को सर्वाधिक मूल्य प्रदान किया है; उसके अनुसार, यह एक नाजुक वस्तु है और संख्या की दृष्टि से शक्तिशाली, भौतिकवादिता से संपन्न एवं स्वातंत्र्य के प्रति उदासीन जन समूह के विद्रोह से इसकी रक्षा ठीक प्रकार से केवल एक शिक्षित शासक वर्ग ही कर सकता है। उसके 'उदारवादी' समसामयिकों ने १८४८ के विद्रोहों का स्वागत किया था; उनके अनुसार, वे 'प्रगति' की दिशा में मनुष्य की यात्रा में एक और महत्त्वपूर्ण चरण के परिचायक थे। किंतु बर्कहार्ट इस प्रकार के छिछले तर्कों से सन्तुष्ट नहीं था; अपने इन समसामयिकों के समान उसे 'अनन्त प्रगति' में विश्वास नहीं था। वह इस प्रकार के तर्कों को घृणापूर्ण समझता था, क्योंकि इनमें उन मौतों तथा उस कीमत की ओर ध्यान नहीं दिया गया था जो इनमें सन्निविष्ट थीं–इनसे सरलता पूर्वक बचा जा सकता था। बर्कहार्ट ने बार-बार इस बात पर बल दिया है। जहां उदारवादी इतिहासकार अतीत की केवल उन शक्तियों एवं घटकों की चर्चा करते हैं जिनसे वर्तमान निर्मित हुआ है, बर्कहार्ट ने बार-बार यह याद दिलाया है कि वर्तमान में बैठकर किसी अतीतकालिक युग का मूल्यांकन करना समीचीन नहीं है एवं किसी भी विजय अथवा आन्दोलन की केवल इस कारण प्रशंसा नहीं की जानी चाहिए कि इससे आधुनिकता का उद्भव हुआ हैं : 'इस प्रकार के दृष्टिकोण में कितनी निर्मम हृदयहीनता है, संपूर्ण विनष्ट लोगों के मौनकृत रुदनों के प्रति कैसी उपेक्षा है।' उसका प्रच्छन्न तर्क यह था कि यदि इसके लिए जो कीमत देनी पड़ी उसके बावजूद भी १८४८ का विद्रोह एक महिमावान विद्रोह था तो इसके समर्थकों का यह कर्त्तव्य है कि वे यह बतावें कि यह क्या परिणाम प्रदान करेगा। अपनी प्रगतिविषयक अवधारणा के आधार पर उनका विश्वास था कि यह उन्हें अपरिहार्यरूपेण स्वर्ग की ओर ले जारहा है; बर्कहार्ट का विश्वास था कि वह इतिहास के आधार पर इस धारणा की अनुपयुक्तता सिद्ध कर सकता हैं।

अन्य "सार्वभौमिक इतिहासकारों" के विपरीत बर्कहार्ट ने नई संभावनाओं के प्रति अपने मस्तिष्क के द्वार को कभी भी बन्द नहीं किया। वह इतिहास पर कोई योजना लादने के सर्वथा विरुद्ध दिखाई पड़ता है; इस प्रकार वह सभी 'इतिहास-दर्शनों' का प्रत्याख्यान करता है जिनमें–जैसा कि वह 'इतिहास दर्शन' शब्द को समझता था—मानव-इतिहास को एक समष्टि के रूप में देखने का प्रयास किया जाता था। प्राचीन परम्पराओं तथा मूल्यों के प्रति अपने दृढ़ विश्वास तथा गंभीर ऐतिहासिक ज्ञान के कारण वह विज्ञान के अन्धानुकरण में नहीं प्रवृत्त हुआ और न ही इस प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत करने का प्रयास किया। वह सही अर्थ में उदारवादियों के समान मानव इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। प्राचीन सभ्यता से उसे प्रेम था एवं उसका आग्रह था कि जब तक कि हम फिर से असभ्य नहीं बन जाते, अतीत से मुक्ति नहीं हो सकती।]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ विशेष परिस्थितियों की स्थिरता में निहित सुख की अवधारणा स्वभावतः दोषमय है। मनुष्य की आदि अर्थात् प्राकृतिक अवस्था को छोड़कर, जिसमें कि प्रत्येक दिन तथा प्रत्येक शताब्दी दूसरे अन्य दिनों तथा शताब्दियों के समान होती है, जब से किसी भी संयोग से ऐतिहासिक जीवन प्रारम्भ होता है, स्थिरता का अर्थ जड़ता तथा मृत्यु होगा। अपने सभी कष्टों से संयुक्त गति में ही जीवन है। सुख दुख का अभावमात्र हैं, जो कि, अधिक से अधिक, विकास की धूमिल अवधारणा के साथ संबद्ध होता है। यह सच है कि ऐसे समाज हुए हैं जो शताब्दियों तक जीवन के उसी सामान्य चित्रण को प्रस्तुत करते हैं तथा अपनी नियति के प्रति सन्तोष का भाव प्रकट करते हैं। यह एक प्रकार की निरंकुशता का परिचायक है जो उस समय उत्पन्न होती है जबकि राज्य तथा समाज एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकता है एवं विरोधी शक्तियों से इसकी सुरक्षा करनी होती है। यह सच हैं कि इस समाज की पहली पीढ़ी अप्रसन्न रही होगी किन्तु बाद की पीढ़ियां विचारों के इस विशिष्ट ढांचे में ढलती हैं और अन्ततः इसे पवित्र मान लेती हैं एवं किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहतीं। दूसरी ओर ऐसे समाज, युग तथा व्यक्ति होते हैं जिनके द्वारा तीव्र गति में शक्ति व्यय किया जाता है। उनका महत्व पुराने के विनाश तथा नए के लिए मार्ग प्रशस्त करने में निहित होता है।

पृथ्वी पर दुष्कर्म निश्चितरूपेण विश्व-इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग है। अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष में शक्ति अथवा दुर्बल पर शक्ति सम्पन्न का अधिकार पशु-जगत तथा वनिस्पत-जगत में सर्वत्र दिखाई पड़ता है, एवं मानवता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यही बात हत्या, डकती, दुर्बल एवं पराजित जातियों के अथवा उसी जाति अथवा समाज में दुर्बल व्यक्तियों के अलावा दुर्बल राज्यों के उन्मूलन अथवा दासत्व भाव में रूपान्तरण द्वारा प्रकाशित होती है। तथापि, अधिक शक्ति सम्पन्न अधिक उत्कृष्ट से सर्वथा भिन्न है। वनस्पति-जगत में हम हीन कोटि के तथा सबल जाति के पौधे को यहां वहां विस्तृत होते देखते है। इतिहास में केवल अल्पवर्ग में होने के कारण श्रेष्ठ वर्ग का पराभव एक गंभीर खतरा है। संभवतः पराभूत शक्तियां अधिक श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट थीं किंतु विजयी शक्तियां—यद्यपि वे केवल महत्वाकांक्षा से प्रेरित थीं—एक ऐसे भविष्य का उद्घाटन करती है जिनके विषय में उन्हें लेश मात्र भी भाव नहीं होता। इसका सबसे बड़ा दृष्टांत रोमन साम्राज्य से प्राप्त होता है। यह भयानक युद्धों के पश्चात् अस्तित्व में आया तथा विभिन्न भूक्षेत्र रोमांचकारी रक्तपात की लपेट में आए। यहां एक बड़े पैमाने पर हम एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रयोजन देख सकते हैं जो एकदम स्पष्ट है : अर्थात् एक विश्व-सभ्यता की सृष्टि जिसने एक विश्व-धर्म के प्रचार को संभव बनाया। तथापि इस तथ्यविशेष से कि शुभ अथवा श्रेष्ठ का उद्भव दुष्कृति से हुआ, हम यह कदापि नहीं उपकल्पित कर सकते कि दुष्कृति तथा दुख प्रारम्भ में दुष्कृति तथा दुख नहीं थे। प्रत्येक सफल हिंसात्मक कर्म दुष्कर्म होता है तथा कम से कम एक खतरनाक आदर्श होता है। किंतु, जब उस कर्म से शक्ति की स्थापना हुई, लोगों द्वारा इसके पश्चात् अथक प्रयासों द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस शक्तिमात्र को नियम तथा व्यवस्था में रूपान्तरित किया गया। अपनी शक्ति से उन्होंने हिंसा की अवस्था को दूर करने का प्रयत्न किया। पुनः कभी कभी दुष्कर्म का साम्राज्य दीर्घकालीन होता है। ईसाई विश्वास के अनुसार, इस विश्व का शासक शैतान है; दुष्कर्म इस प्रकार अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका अस्तित्व स्वार्थ-विहीन सद्गुण की पहली अपेक्षा है। यह एक भयानक दृश्य होगा यदि निरन्तरया अच्छाई के पुरस्कृत तथा दुष्कर्म के दण्डित होने के परिणामस्वरूप सभी लोग एक प्रच्छन्न प्रयोजन रखते हुए भी सद्व्यवहार करना प्रारम्भ कर दें, क्योंकि वे दुष्कर्मी व्यक्ति ही रहेंगे तथा उनके हृदय में दुष्कर्म का अस्तित्व बना रहेगा; ऐसा समय भी आ सकता है जब मनुष्य–केवल एक बार पुनः उनके वास्तविक स्वभाव को देखने के उद्देश्य से–भगवान् से उनके अपराधों के लिए थोड़ी सी क्षमा करने की प्रार्थना करने लगेंगे। विश्व में वैसे ही पर्याप्त पाखण्ड है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक विनाश के पश्चात् नई सृष्टि का उद्भव नहीं होता। जिस प्रकार वनस्पति के विनाश से कोई भूक्षेत्र सदैव के लिए उर्वरता-विहीन भूमिखण्ड बन जाता है, उसी प्रकार नृशंसतापूर्वक दमित जनसमुदाय भी पुनः नहीं उठ पाता। उदाहरणार्थ, एशिया की तात्विक शक्ति दो अनुक्रमिक मंगोल प्रभुत्व-कालों द्वारा सर्वथा विनष्ट हो गई जान पड़ती है। तिमूर की नृशंसता विशेष रूप से उल्लेखनीय है; उसकी ध्वंसात्मक प्रवृत्ति तथा विनाश लीला के शिकार हुए देशों में लोग सही तथा मानवीय दया-भावना में विश्वास खो देंगे। तथापि, उसने संभवतः योरोप को ओस्मानलियों से बचाया। उसके बिना इतिहास की कल्पना करके देखें, जबकि बाजाजेत तथा हुस्साइट लोगों ने एक साथ जर्मनी तथा इटली को सर्वथा अभिभूत कर दिया होता। इसी प्रकार बड़े साम्राज्यों की स्थापना भी भयानक नैराश्य तथा दुःख की भित्ति पर होती है। उदाहरण के लिए, सिकन्दर की महत्वाकांक्षा में कितने जनसमुदायों को संघर्ष करते हुए विनष्ट होना पड़ा होगा। क्या उनका संघर्ष निरर्थक था ? इस प्रकार के संघर्ष में रत जिन लोगों के अन्तिम विनाश से हम परिचित हैं, उनके विषय में हम सर्वथा भिन्न प्रकार से सोचते हैं; उन्हें मानव जाति के प्रति एक महान् शिक्षा प्रदान करने वाला माना जाता है—यह कि संपूर्ण के लिए सभी कुछ उत्सर्ग कर देना चाहिए तथा यह कि व्यक्ति का जीवन सर्वोपरि नहीं है; और इस प्रकार उनकी निराशा से विश्व के लिए–एक कठोर किन्तु उदात्त–सुख तथा प्रसन्नता का जन्म होता है।

सभी बड़े विध्वंशों के विषय में एक बात अवश्य कही जानी चाहिए : चूंकि इतिहास की अर्थ व्यवस्था से हम अनभिज्ञ है अतः हम यह नहीं जानते कि उस समय क्या हुआ होता यदि कोई घटनाविशेष–चाहे वह कितनी भी भयानक रही हो–नहीं घटी होती। इतिहास की एक घटना- जिसे कि हम जानते है- के स्थान पर संभवतः दूसरी--जिसे हम नहीं जानते--घटी होती; एक दुष्कर्मी दमनकारी के स्थान पर संभवः कोई उससे भी बुरा उद्भूत हुआ होता। तथापि किसी भी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह अपने दोषविमोचन के लिए यह तर्क प्रस्तुत कर

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

सकता है : 'यदि हम यह नहीं करते तो कोई और करेगा' क्योंकि इससे किसी भी अपराध को उचित ठहराया जा सकेगा। यह भी हो सकता है कि विनष्ट वर्ग यदि कुछ दिन और अधिक रहा होता तो संभवतः वह हमारी सहानुभूति का पात्र नहीं रह जाता; और अधिक दिन रहने पर संभवतः वह उतना सुखी, सभ्य एवं दोषविमुक्त नहीं रह जाता जबकि इस प्रकार के गरिमापूर्ण संघर्ष में विनष्ट हो जाने के कारण हम संप्रति उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं। एक दूसरी दिशा से सांत्वना की प्राप्ति क्षतिपूर्ति के रहस्यपूर्ण नियम द्वारा होती है—जो कम से कम इस दृष्टान्त में प्रकट होती है कि प्रत्येक महान् रोग तथा युद्ध के पश्चात् जनसंख्या में असाधारण वृद्धि होती है। कभी-कभी यह क्षतिपूर्ति अवश्यंभावी प्रतीत होने वाली घटना के भविष्य में किसी समय के लिए स्थगित हो जाने से होती है; कभी-कभी यह घटना नहीं घटती क्योंकि भविष्य में उसे और भी परिष्कृत ढंग से घटना होता है। उदाहरणार्थ, तीस वर्षों के युद्ध में दो बार जर्मनी की एकता स्थापित होने होते बची—एक बार १६२९ में वालेन्स्टाइन द्वारा, दूसरी बार १६३१ में गुस्तावस एलोल्फस द्वारा। किन्तु दोनों ही समयों में एक भारी बिलगाव शेष रह गया होता। २४० वर्षों तक यह एकता स्थगित रही किन्तु जब यह प्राप्त हुई तब इस समय वह बिलगाव सर्वथा समाप्त हो गया था। कभी-कभी संस्कृति की एक शाखा के विनाश पर दूसरी शाखा का पुर्नस्थापन होना होता है; उदाहरणार्थ १८ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में जब कविता उपेक्षित थी तथा चित्रकला अर्धमृत सी थी, उस समय संगीत अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया।

ऊपर की चर्चा में हमारा विवेचन अव्यक्त रूप में शुभ तथा अशुभ भाग्य से हट कर मानव चेतना की अतिजीविता पर मुड़ गया है, जो अन्त में हमारे प्रति स्वयं को एक व्यक्ति के जीवन के रूप में प्रस्तुत करती है। वह जीवन--जैसे जैसे यह इतिहास में तथा इतिहास के माध्यम से आत्म-चैतन्य बनता है—चिन्तनशील व्यक्ति की दृष्टि को तथा उसकी शक्ति को इस प्रकार अपने प्रति आकर्षित तथा केन्द्रित करता हैं कि भाग्य तथा दुर्भाग्य की अवधारणाएं अनिवार्यतः मलिन हो जाती हैं। "परिपक्वता ही सब कुछ है।" कुशल मस्तिष्क सुख के स्थान पर ज्ञान को अपना लक्ष्य बनाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११

ऐतिहासिक ज्ञान का स्वरूप, विषयवस्तु और पद्धति

'साइंस' शब्द का पुराना अर्थ सैद्धान्तिक ज्ञान था। इतिहास-लेखन उस समय प्रायः साहित्य के अन्दर रखा जाता था। सत्रहवीं शताब्दी से क्रमशः विज्ञान की आधुनिक परिभाषा स्पष्ट हुई है। इस परिभाषा के अनुसार, विज्ञान की विशेषता उसकी विषय-वस्तु में न होकर उसकी पद्धति में है। विज्ञान की पुरानी पद्धति विशुद्ध तर्कात्मक थी। स्वतः-सिद्ध अथवा बुद्धि-सिद्ध अभ्युपगमों के आधार पर अनुमान के द्वारा जिस प्रकार गणित-विद्या का प्रतिपादन होता है, उसी प्रकार सब विज्ञान की विधाओं का होना चाहिए, ऐसी मान्यता प्लेटो और अरस्तू से सत्रहवीं शताब्दी में देकार्त और स्पिनोजा तक प्रचलित रही। देकार्त ने दर्शनशास्त्र को एवं स्पिनोजा ने आचारशास्त्र को गणित के समान तार्किक रूप देने की चेष्टा की। किन्तु, इसी युग में बेकन एवं अन्य प्रत्यक्षवादी अंग्रेज विचारकों ने विज्ञान के विकास को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित बताया। तब से प्रत्यक्ष और अनुमान, अनुभव और तर्क इन दोनों को समन्वित रूप में विज्ञान की पद्धति स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक पहले एक परिकल्पना प्रस्तुत करता है, फिर प्रयोग के द्वारा उसकी अनुभव से संगति निर्धारित करता है। इस प्रकार, प्रत्यक्ष का उपयोग विज्ञान में बौद्धिक कल्पनाओं के उपपादन एवं समर्थन में होता है। प्रत्यक्ष मात्र से सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होता और न तर्क मात्र से व्यवहारोपयोगी सिद्धान्त का समर्थन हो पाता है। दोनों का ही समवेत प्रयोग विज्ञान को जन्म देता है। कल्पना और सत्यापन की इस परस्परोपकारी प्रक्रिया के आधार पर विज्ञान निरन्तर प्रगति करता है। उसके वाक्य नियम-वाक्य होते हैं जो कि भविष्योक्ति का आधार बनते हैं। वैज्ञानिक भविष्योक्ति एक सोपाधिक या शर्तबन्द और संभावनात्मक वचन होता है। उदाहरण के लिए, "इस वातावरणिक दबाव में यदि तापमान १००' हो तो पानी उबलने लगेगा।"—यहां भविष्यवचन निरपेक्ष नहीं है बल्कि वह एक कार्य-कारण-नियम के दो पक्षों का सम्बन्ध व्यक्त करता है। वैज्ञानिक नियमों की सम्भावनात्मकता या प्रायिकता (probabilistic) का स्वीकार अपेक्षाकृत एक नया विकास है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इसके विपरीत, इतिहास में न इस प्रकार की भविष्योक्ति संभव है न सार्वभौम नियमों की उपलब्धि। न उसमें प्रयोगात्मकता का कोई स्थान है, न विशुद्ध कल्पना का। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वैज्ञानिक भविष्य-कथन कार्य-कारण-नियम पर आधारित होता है और सापेक्ष-वचन या हेतुहेतुमद्भाव में व्यक्त होता है। मानव-जीवन में व्यापक और महत्वपूर्ण कार्य-कारण-नियमों की उद्भावना का प्रयत्न मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों से निरन्तर करते रहे हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि उनके प्रयासों ने आशानुरूप सफलता पाई है। मनुष्य व्यक्तित्वसंपन्न प्राणी है और व्यक्तित्व वैशिष्ट्य और स्वातंत्र्य का द्योतन करता है। जड़-जगत में और पशु-जगत में स्वातंत्र्य अथवा व्यक्तित्व उपलब्ध नहीं होता। जैसे एक कौए का जीवन है वैसे ही शेष सब कौओं का। सभी सामान्य निरूपण के अनुसार समझे जा सकते हैं। किन्तु, मनुष्यों में प्रत्येक का निराला चरित्र होता है और परिचित चरित्र वाले व्यक्तियों में भी प्रत्येक अतर्क्य स्वातंत्र्य से संयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में यह विस्मयकारी नहीं है कि मनोविज्ञान के नियम जहाँ अपूर्व और मात्रासम्मत होते हैं वहाँ वे प्रायः आधिभौतिक या शारीरिक सिद्ध होते हैं। मनुष्य के स्वभाव का वैचित्र्य और स्वातंत्र्य साहित्यकारों के लिए सतत आकर्षण का विषय रहा है और इतिहासकार उसे वैज्ञानिक नियमों के द्वारा सुबोध घटनावली के रूप में कभी समझ सकेंगे, यह अत्यन्त संदिग्ध है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि इतिहास का विषय व्यक्ति-जीवन नहीं किन्तु समाज का जीवन है। समाज के जीवन में व्यक्तियों की विचित्रताएँ पारस्परिक विरोधों से रद्द हो जाती हैं। इसीलिए जहाँ व्यक्ति-जीवन के इतिहास में नियम न भी दिखाई दे वहाँ सामुदायिक जीवन में उसका प्रमाण अनायास उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं कह सकते कि अमुक व्यक्ति कब विवाह करेगा या आत्महत्या करेगा किन्तु हम यह संभावनात्मक रूप में कह सकते हैं कि इस नगर में अगले वर्ष प्रायः कितने व्यक्ति विवाह करेंगे अथवा आत्मघात करेंगे। व्यक्ति-जीवन के स्वतन्त्र होते हुए भी सामुदायिक जीवन सांख्यिकीय और संभावनात्मक नियमों से परिचालित होता है। ये नियम ही समाजविज्ञान का आधार हैं। इतिहास भी समाज-विज्ञान के रूप में इसी प्रकार के नियमों का उपयोग कर सकता है। किन्तु इस निरूपण में यह भुला दिया गया है कि इतिहास का विषयभूत सामाजिक मानव एकरस और अपरिवर्तनीय सत्ता नहीं है। सामाजिक संस्थाएँ, रचनाएँ और मान्यताएँ निरन्तर बदलते रहते हैं और इस परिवर्तन के साथ ही उनके तात्कालिक संभावनात्मक नियम भी अपरिवर्तित नहीं होते। दूसरे, इतिहास का आग्रह आवृत्तिशील सामान्य घटनाओं पर न हो कर उन घटनाओं पर होता है जो कि अपूर्व और अद्वितीय होती हैं। इतिहासकार उन सामान्य बातों से संतुष्ट नहीं होता जो कि क्रान्तिमात्र अथवा युद्धमात्र की व्याख्या में बहुधा कही जा सकती हैं। वह यह जानना चाहता है कि १७८९ में प्रारम्भ फ्रांस की क्रान्ति अथवा १९१७ में प्रारम्भ रूस की क्रान्ति के क्या विशिष्ट कारण थे। इस तरह के व्याख्यात्मक ज्ञान को सामान्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियमावली का रूप नहीं दिया जा सकता। इतिहासकार सामान्य नियमों का उपयोग कर सकता है किन्तु वह स्वयं उन नियमों का प्रयोग कर विशिष्ट घटनाओं को समझना चाहता है। इतिहास की विषय-वस्तु विशेषात्मक होती है न कि सामान्यात्मक।

वस्तुत: क्रान्ति, युद्ध आदि के सामान्य नियम खोजना भी असम्भव है। क्रान्ति, युद्ध आदि कोई एक घटना नहीं हैं बल्कि असंख्य विभिन्न घटनाओं के अतर्कित समूह हैं। प्रत्येक क्रान्ति में ये असंख्य घटक एक निराले ढंग से समायोजित होते हैं। यदि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा इस घटनासमूह के अन्दर से समूची क्रान्ति आदि के कारण खोजे जायं तो क्रान्ति के जितने दृष्टान्त अपेक्षित होंगे उतने इतिहासकार को उपलब्ध नहीं होते। किसी युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व उससे न्यूनाधिक रूप से संबद्ध घटनाएँ और उनके परस्पर सम्बन्ध इतने अधिक होते हैं कि उनमें यह विवेक कर पाना कि कौन से तत्त्व आवश्यक या नियत पूर्ववर्ती हैं और कौन से आगंतुक या अन्यथा–सिद्ध, यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि उसी प्रकार के अनेक अन्य दृष्टान्त उपलब्ध न हों।

इन घटनाओं के ऐतिहासिक विश्लेषण की प्रचलित परम्परा को हम देखें तो एक दूसरी बात सामने आती है। घटनाओं के कारण खोजने और बताने में इतिहासकार घटनाओं का ही क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'क्यों ?' के प्रश्न का उत्तर देने के स्थान पर वे 'कैसे ?' का उत्तर देते हैं मानों वे यह मान कर चलते हैं कि इस संदर्भ में सामान्य कारण-नियम अप्रासंगिक हैं। जो प्रासंगिक है वह है प्रदत्त देश-काल में सुविदित कारणों का व्यापार और उनका एक दूसरे पर प्रभाव डालना। मनुष्य का सार्वभौम स्वभाव सामाजिक जीवन की नाना अणु-प्रक्रियाओं (micro-processes) में व्यक्त होता है और इसी अणु स्तर पर उसके संभावनात्मक नियम विदित होते हैं। उदाहरण के लिए, वैर में मनुष्य कैसा आचरण करते हैं, सहयोगिता की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्या है, मतदान या बाजार में क्रय-विक्रय का व्यवहार कैसे प्रवृत्त होता है, इत्यादि प्रक्रियाएँ आवृत्तिशील और न्यूनाधिक मात्रा में नियमवर्ती होती हैं। इस प्रकार के न्यूनाधिक मात्रा में नियत सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाले व्यवहार खण्डों से संस्थाओं का निर्माण होता है, जैसे चापों से वृत्त का। अणु-प्रक्रियाओं के ज्ञान के रूप में इस प्रकार के खण्डज्ञान ही समस्त मानव समाज के प्रतिभास को समझने के प्रसंग में इतिहासकार को उपलब्ध होते हैं। उसकी वैज्ञानिक के रूप में सहज प्रवृत्ति होती है वृहदाकार सामुदायिक घटनाओं को इस प्रकार ही आणविक घटनाओं में विश्लेषित कर समझने की। वह इतिहास के अनावृत्तशील घटना-समुच्चयों अथवा संघटनाओं के अपने महत्तरस्तरीय (macro-level) नियमों की खोज न कर इन बड़ी घटनाओं को छोटी घटनाओं के माध्यम से समझना चाहता है। इसमें एक विशेष कारण उसको अवार्य रूप में प्रेरित करता है और वह है ऐतिहासिक साक्ष्य का स्वरूप जिसके विषय में नीचे चर्चा की जाएगी। किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की विश्लेषण-पद्धति एक प्रकार के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अवह्रासन या अवमूल्यन की प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक व्यापारों के प्रतीतिसिद्ध रूपों की विशेषता खो जाती है। इस प्रक्रिया में विश्वयुद्ध बहुत से व्यक्तिगत कलहों का जोड़ बन जाएगा।*

अनावृत्तिशील सामुदायिक घटनाओं को अपना विषय बनाने के कारण इतिहास जिन नियमों के परिज्ञान से वैशद्यलाभ कर सकता है, वे महत्‌स्तरीय होंगे। ऊपर यह तर्क किया गया है कि अणुस्तरीय (micro-level) नियमों के संश्लेषण से महत्‌स्तरीय (macro-level) घटनाओं की व्यवस्था बोधगम्य नहीं होती है। यदि किसी समुदाय में आत्महत्या अथवा विवाह के घटने में नियम ढूंढना है तो वह तत्संबंधी सामाजिक आंकड़ों के द्वारा ही सम्भव है। आत्महत्या के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारणों का ज्ञान आत्महत्या के घटित होने का कोई मात्रिक नियम नहीं दे सकता। भीड़ में उसके अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों के मन का परिज्ञान यह नहीं बताएगा कि भीड़ कैसे संचालित होगी। महत्‌स्तरीय आवृत्तिशील सामाजिक घटनाओं के नियम कदाचित् सामाजिक आंकड़ों से सांख्यिकीय नियमों के अनुसार निकाले जा सकें। ये ही समाजवैज्ञानिक नियम होंगे। इस सन्दर्भ में व्यक्ति का आचरण अणुस्तरीय होगा। इतिहास में जो अनावृत्तिशील घटना-ग्रंथियां परिशीलित होती हैं उनके अणुस्तरीय घटक की कोटि में आवृत्तिशील घटनाएँ—वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों ही—रखी जा सकती हैं। व्यक्ति धन अथवा शक्ति के लोभ से कूट व्यवहार करते है। समाज में अपराधों के आंकड़े कुछ न कुछ नियम प्रदर्शित करते हैं, किन्तु इससे अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्लाइव और हेस्टिंग्ज के नेतृत्व में ईस्ट इंडिया कम्पनी का कूटनीतिक इतिहास पूरा समझा नहीं जा सकता। इन अणु घटकों पर ध्यान देते रहने से अंग्रेजी कूटनीति बहुत से असंबद्ध कारणों का एक जटिल संयोग मात्र सिद्ध होती है। इस अवस्था में कुछ इतिहासकारों का मत है कि ऐतिहासिक घटनाओं के अपने महत्‌स्तरीय नियम होते हैं। स्पेंगलर या कुछ हद तक टायनबी इसके दृष्टान्त हैं। इन्होंने समूची सभ्यताओं के जीवन-नियम निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। मार्क्सवादी एक ओर इतिहास के महत्‌स्तरीय विशिष्ट नियम मानते हैं जो उन्हें एक नियत युगानुपूर्वी का परिचय देते हैं किन्तु दूसरी ओर वे इन नियमों को आवृत्तिशील सामुदायिक आर्थिक व्यवहार का नियत कार्य मानते हैं। सोरोकिन ने ऐतिहासिक घटनाओं को सामान्य वर्गों में विभक्त कर उनके आंकड़ों की नियम-निर्धारण की दृष्टि से परीक्षा की थी। यदि दार्शनिक मतवाद छोड़ दें तो वैज्ञानिक दृष्टि से इन सभी दृष्टियों को असिद्ध मानना पड़ेगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये कल्पनाएँ सारहीन हैं। इस पर पीछे विचार किया जाएगा।

ऊपर के विवेचन से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इतिहास में विज्ञान की विशिष्ट प्रयोगात्मक सत्यापन की विधि का कोई स्थान नहीं है। इतिहासकार का उद्देश्य इतिहास लिखना होता है न कि इतिहास बनाना। साथ ही, यह भी स्पष्ट

---

* विभज्यवादी बुद्ध ने भी युद्ध आदि का कारण-निरूपण कुछ इसी प्रकार किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि इतिहास में गणितसिद्ध तर्क-प्रक्रिया का भी कोई स्थान नहीं है। कार्नप जैसे वैज्ञानिक और सेनियोबो जैसे इतिहासकार इस पर एकमत हैं कि इतिहास एक वर्णनात्मक विद्या है न कि निगमनात्मक अथवा प्रयोगात्मक। दूसरे इस पद्धति–भेद के साथ ही प्राकृतिक विज्ञानों और इतिहास में अपने विषय की ओर एक अन्य दृष्टिभेद भी है। विज्ञान नितान्त वस्तुपरक होता है, मूल्यपरक नहीं। उसकी दृष्टि अपने विषय की ओर सर्वथा तटस्थ या मूल्यनिरपेक्ष होती है। जैसा आगे प्रदर्शित किया जाएगा, इतिहास का ज्ञान मूल्य निरपेक्ष सामान्य नियमों में भले ही संगृहीत हो सके, मूल्यान्वेषी मनुष्य के सम्बन्धों और कार्यकलापों का विषयानुरूप वर्णन मूल्यनिरपेक्ष ढंग से नहीं हो सकता। नृशंस हत्याकांड और अशोक का परोपकार दोनों क्या एक ही तटस्थता से वर्णित किए जा सकते हैं ? कुछ इतिहासकारों का कहना है कि इतिहासकार को भी वैज्ञानिक के समान तटस्थ होकर मानव जीवन का अध्ययन करना चाहिए। जहां तक तटस्थता का अर्थ पक्षपातशून्यता और सत्य में आग्रह है वहां तक तो ठीक है। किन्तु, क्या नृशंसता और करुणा में मूल्य और अनर्थ का विवेक करना पक्षपात कहा जा सकता है ? वस्तुतः इस प्रकार का विवेक मूल्यबोध का ही नामान्तर है। मानव-मन सत्य-पक्षपाती होता है किन्तु सत्य तटस्थ वस्तुमात्र नहीं होता। सत्य में ऋत अथवा मूल्य भी संगृहीत होते हैं। मानव–इतिहास का मूल्य-निरपेक्ष, केवल कार्यकारणात्मक वर्णन केवल समय से रद्द की गई बातों का ढेर मात्र होगा। मूल्यों का इतिहास मनुष्य की आत्मचेतना का, उसकी आत्म साधना का इतिहास होगा। मूल्य का ज्ञान वस्तु के ज्ञान से इस बात में भिन्न नहीं होता कि एक कल्पनामात्र एवं दूसरा सत्य ज्ञान है बल्कि इस बात में कि मूल्य का ज्ञान किसी न किसी प्रकार के आत्मबोध की अपेक्षा रखता है, जबकि वस्तु का ज्ञान बोधमात्र की। दो इतिहासकार एक दृष्ट घटना का मौलिक विवरण तटस्थ और समान रूप से भले ही दे सकें, वे इस घटना के अन्तर्निहित मूल्यों के निरूपण में मूल्यांकन की प्रक्रिया को ताक पर नहीं रख सकते। जैसे वैज्ञानिक गणित के ज्ञान को लेकर प्रकृति के सम्मुख आता है, ऐसे ही इतिहासकार अपने अन्तर्निहित सांस्कृतिक मूल्यों की सहायता से ही अपनी विषयवस्तु में निहित मूल्यों के ग्रहण और विश्लेषण में समर्थ होता है। यह स्मरणीय है कि मूल्यबोध या विवेक संस्कार मात्र नहीं है। वे बुद्धि के परिष्कार का अंग हैं। इतिहासकार के द्वारा मूल्यसिद्धान्तों का उपयोग अनिवार्य भी है और विवेकात्मक भी है। यदि विज्ञान में तर्कमात्र का उपयोग होता है, विवेक का नहीं, तो यह विज्ञान के विषयवस्तु की जड़स्तरीय हीनता सूचित करता है, न कि उसकी पद्धति की बौद्धिकता की विशेषता। इतिहासकार की दृष्टि न सिर्फ तथ्य-निष्ठ होती है बल्कि सत्यनिष्ठ भी होती हैं। वह वस्तु के साथ-साथ मूल्य का अनुभव करता है, वह तर्क के साथ विवेक का उपयोग करता है और विवेक का यह उपयोग उसकी पद्धति की बौद्धिकता को चार चांद लगाता है।

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या इतिहास-लेखन विज्ञान के समान विषयनिष्ठ या विषयप्रधान हो सकता है। यह प्रश्न वास्तव में ऊपर विवेचित तथ्यों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के स्पष्ट ज्ञान के अभाव का परिणाम है। इतिहासकार अपनी मानवीय विषयवस्तु के विवेचन में अपने संस्कारों को सर्वथा छोड़ नहीं पाता किन्तु क्या वैज्ञानिक प्रकृति के विवेचन में मानवीय सहज संस्कारों को छोड़ पाता है? कार्य-कारण-सिद्धान्त को ही लीजिए। ह्यूम ने निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध किया है कि कार्य-कारण-सिद्धांत एक सहज संस्कार मात्र है। कांट का उत्तर इस संदर्भ में यही सिद्ध करता है कि इन संस्कारों से बने हुए मानवीय मन के लिए उसके द्वारा उपलब्ध वैज्ञानिक नियम व्यवहार में झूठे नहीं साबित होंगे। कांट का उत्तर यह भी सिद्ध कर देता है कि विज्ञान के नियम वस्तुनिष्ठ न होकर प्रतिभासनिष्ठ होते हैं। वस्तुतः सभी ज्ञान विभिन्न कल्पनाओं के अनुसार प्रतीतियों की योजना होते हैं। ज्ञान के विभिन्न संदर्भों में ये कल्पनाएं भिन्न होती हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आचारशास्त्रीय अथवा साहित्यशास्त्रीय चर्चा में उनकी अपनी-अपनी पूर्वावश्यकता से युक्त कल्पनाओं का प्रयोग उन चर्चाओं को कपोलकल्पना बना देता है। प्रत्येक क्षेत्र की प्रतीतियों से ज्ञान को मथने के लिए अलग-अलग मूल कल्पनाओं (categories) की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक वस्तु वैसे ही कल्पना है जैसे मूल्य। दोनों ही परमार्थ से बाहर प्रतीति–संलग्न हैं।

और फिर इतिहासकार संस्कारों को सर्वथा न छोड़ सके किन्तु सत्य के आग्रह से उनके ऊपर अवश्य उठना चाहता है। यदि संस्कार का अर्थ मानस की सार्वभौमिक और आवश्यक प्रवृत्तियां न हो, यदि संस्कार केवल इतिहासकार की निजी मनोवैज्ञानिक प्रेरणाएं हों, तो निश्चय ही बिना उनसे ऊपर विवेक के स्तर पर उठे इतिहासकार सही अर्थ में इतिहासकार नहीं बन सकता। उसके लिए यह प्रक्रिया वैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म कठिनाइयों से जड़ी हो सकती है क्योंकि उसका विषय मानवीय है। किन्तु, यह कठिनाई दोनों के लिए रहती हैं। विज्ञान का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अविवेचित संस्कारों का बल विज्ञान की प्रगति को भी निरन्तर रोकता रहा है। विवेक का उदय ही संस्कारों से मुक्ति दिलाता है और विवेकी इतिहासकार की दृष्टि को वैयक्तिक आग्रह की दृष्टि नहीं कहा जा सकता। यथार्थ के आग्रह में इतिहासकार वैज्ञानिक का समकक्ष है, वस्तुमात्र से ऊपर मूल्यात्मक सत्य के प्रतिवेध से वह वैज्ञानिक के ऊपर है।

वैज्ञानिक और इतिहासकार की मूल समानता दोनों का यथार्थता पर आग्रह है। ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ इसका निर्णय प्रमाणों से होता है। इतिहास भी विज्ञान के समान प्रमाणाश्रित ज्ञान है। यही इतिहास की वैज्ञानिकता है। किन्तु प्रमाण–प्रयोग के विस्तार में क्षेत्रिक भेद होना स्वाभाविक ही है।

समाज विज्ञान से इतिहास का क्या संबंध है? जहां पुराने युग में इतिहास को साहित्य की शाखा माना जाता था, आजकल अधिकांश इतिहासकार इसे एक समाजविज्ञान मानते हैं। समाजविज्ञान प्राकृतिक विज्ञान के अनुकरण में प्रत्यक्ष विध्रियों से सामान्य नियम निकालना चाहता है। जहां तक यह संभव है इस प्रकार के सामाजिक नियम इतिहास की सहायक सामग्री बन ही जाएंगे। किन्तु समाजविज्ञान का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह प्रयास कहां तक सफल हो सकता है यही संदिग्ध है। अर्थशास्त्र को छोड़ कर किसी और क्षेत्र में समाजविज्ञान की ऐसी प्रगति नहीं देखी जाती जिससे उसके प्रारम्भिक इश्तहारों को सच्चा माना जाय। और इसका एक यथार्थ कारण है। वह है मानव जीवन और स्वभाव की नितान्त और मौलिक ऐतिहासिकता। ऐसा नहीं है कि मनुष्यों का स्वभाव सदा एक सा और स्थिर है या कि उनके जीवन और संबंध सब देश काल में उन्हीं अच्छेद्य परमाणुओं के विश्लेष्य संघात हैं। समूचा मानव जीवन एक अन्तर्ग्रथित ऐतिहासिक सांस्कृतिक सूत्र से संचालित होता है। जैसे अब नवीनतर और निपुण आलोचक यह समझते हैं कि नाटकों के पात्रों के चरित्र उस नाटक में ही सिद्ध और विदित होते है, वे बाहर से नाटक के ढांचे के स्थिर स्तम्भ नहीं होते, ऐसे ही विको आदि ने यह स्पष्ट किया है कि मानव स्वभाव ही इतिहास-निर्मित होता है। प्रचलित समाजविज्ञान मानव जीवन और स्वभाव की अन्तर्नियामक ऐतिहासिक प्रक्रिया की ओर आंखें बन्द करके सीधे प्राकृतिक आधारों पर मनुष्य का निरूपण करना चाहता है मानों मनुष्य की कूटस्थ और स्थिर सांचे हों जो कि पारमाणविक सांचों जैसी परिस्थितियों में ही सदा विचरते रहते हैं।

यदि वास्तविक समाजविज्ञान संभव है तो वह ऐतिहासिक ही होगा। प्रचलित समाजविज्ञान इतिहास के लिए उपयोज्य है जैसे संगतराश का काम वास्तु के रचनाकार के लिए।

सामान्य जीवन में इतिहास एक स्मृति के रूप में रहता हैं। जब कोई अपना या किसी और का पिछला इतिहास कहता है तो वह पुरानी घटनाओं की अपनी स्मृति दुहराता है। कुछ लोग कहते हैं कि इतिहास मूलतः आप बीती की प्रत्यवेक्षात्मक स्मृति है, जिसका प्रयोजन आन्तरिक विशुद्धि है। पिछले दिनों को याद करते हुए हम अपने आपको समय की दूरी से ठीक पहचान पाते हैं। किन्तु इतिहास तो किसी की आप बीती नहीं। इतिहास को जगबीती कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा और जगबीती किसी की स्मृति नहीं होती। इस पर कुछ लोग कहते है कि इतिहास-कार कल्पना के द्वारा जगबीती को ही एक विराट् आपबीती के रूप में रचता है। इस प्रकार की निर्व्यक्तिक स्मृति अथवा कुछ पुनर्निर्माणात्मक कल्पना सामुदायिक चेतना के लिए वही कार्य करती है जो निजी स्मृति और प्रत्यवेक्षा व्यक्ति के स्तर पर। वस्तुतः बात यह है कि कोई भी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के बाद स्मृति का रूप धारण कर सकता है। मुख्य अथवा औपचारिक अर्थ में अपने से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का ज्ञान अनायास ही अभ्यास से निजी स्मृति के समान प्रतीत हो सकता है, यद्यपि वह स्मृत ज्ञान ही रहेगा। या वह भास से अविलग स्मृति कभी भी नहीं बनेगा। मुझे मेरे पिता बताते हैं कि मैंने बचपन में अमुक बात की थी। मैं उनकी कही बात को स्वीकार कर लेता हूं और यह मानता हूं कि मैंने बचपन में अमुक बात की थी। जिस समय मैंने उनसे सुन कर यह विश्वास प्राप्त किया उस समय मुझे शाब्द ज्ञान प्राप्त हुआ। अब मुझे उस उपलब्ध ज्ञान की स्मृति है किन्तु यह मेरे बचपन की स्मृति नहीं। मैं जब अपना पिछला इतिहास जानना चाहता हूं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो अपनी स्मृति पर ही भरोसा नहीं करता। अपनी स्मृति की परीक्षा करता हूं और उसकी अन्य प्रमाणों से पुष्टि अथवा असंगति पर विचार करता हूं। दूसरों से सुनी बात के विषय में भी यही प्रक्रिया लागू होती है। ऐतिहासिक ज्ञान का उदय स्मृति से अथवा कल्पना से नहीं होता है बल्कि प्रमाण से और परीक्षापूर्वक होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक ज्ञान प्रमाणाश्रित आलोचनात्मक ज्ञान है। इस ज्ञान का मुख्य रूप संभावनात्मक अनुमान है। संभावना इस प्रसंग में मूलतः सांख्यिकीय न हो कर गुणात्मक है। इस प्रकार के संभावनात्मक और आनुमानिक ज्ञान का एक सुविदित दृष्टान्त न्यायालयों की कार्यावली में मिलता है। इतिहासकार मानो एक जासूस की तरह सबूतों को खोज कर इकट्ठा करता है, गवाही, कागज़ात और सम्बद्ध सामग्री के रूप में ये सबूत न्यायालय में पेश किए जाते हैं जहां पक्ष और प्रतिपक्ष के वकील जिरह से गवाहों के चरित्र की विश्वसनीयता, उनके चश्मदीद बनने के अवसर की संभावना, उनके कथनों की संगति, विभिन्न सबूतों की आपस में संगति आदि को परखते है। इस परख की न्यायानुकूलता पर न्यायाध्यक्ष विचार करने के बाद निर्णय पर पहुँचता है कि वास्तव में क्या हुआ। न्यायाध्यक्ष के लिए वृत्तान्त परोक्ष होता है और वह उस के संबंध में निर्णय पर उपलब्ध प्रमाणों की परीक्षा के अनन्तर एक ऐसे अनुमान के द्वारा पहुंचता है जिसकी निर्दोषता बहुधा कठोर तर्कसम्मत न हो कर संभाव्य-मात्र होती है। जहां अपने निर्णय को 'निस्संदेह' कहते हैं वहां भी वे अपने अनुमान में मानवीय आचरण और मनोविज्ञान के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी व्याप्तियां स्वीकार करते हैं जो प्रचलित एवं संभाव्य होते हुए भी सर्वथा निरुपाधिक नहीं कही जा सकतीं। तथापि, यह ध्यान देने की बात है कि संभावनात्मक अनुमान के अन्दर भी संदिग्ध और असंदिग्ध निष्कर्षों का भेद न्यायालय में बराबर किया जाता है।

इतिहासकार की ज्ञान-पद्धति कुछ इसी प्रकार की होती है। उसकी जानकारी के तीन मूल साधन होते हैं : साक्ष्य, दस्तावेज और भौतिक अवशेष। साक्ष्य का अर्थ है साक्षी का वचन। साक्षी का सामान्यतः अर्थ होता है प्रत्यक्षदर्शी। यहां प्रत्यक्ष को एक व्यापक अर्थ में लेना होगा, केवल आज के 'व्यवहारवादी' मनोविज्ञान के अनुसार ही नहीं। क्योंकि इतिहासकार के लिए व्यक्ति स्वयं अपने कार्यों और विचारों का साक्षी हो सकता है, यही नहीं वह अपने सुपरिचित व्यक्तियों की कम से कम स्थूल मनोवृत्तियों का भी उन स्थितियों में साक्षी हो सकता है जिनमें वह उनकी प्रत्यक्ष गतिविधियों का साक्षी है। न्यायालय में अप्रत्यक्ष विषयों, स्वयं न प्रत्यक्ष किए हुए विषयों एवं दूसरों से सुने हुए विषयों पर गवाही स्वीकार नहीं की जाती। किन्तु वकील और न्यायाध्यक्ष दोनों ही गवाह के प्रत्यक्ष कथन के आधार पर स्वयं अप्रत्यक्ष का अनुमान करते है। इतिहासकार के सामने उसके मूल साक्षी विद्यमान नहीं होते। वह उनसे जिरह के द्वारा यह नहीं पता चला सकता कि उन्होंने कितना स्वयं प्रत्यक्ष किया और कहां तक उस प्रत्यक्ष से संबद्ध अप्रत्यक्ष बातों का उसके द्वारा किया हुआ अनुमान न्यायोचित है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष-दृष्ट अथवा साक्षात्कृत का इतिहासकार के लिए यही अर्थ हो सकता है : 'विश्वसनीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप से ज्ञात'। इतिहासकार के साक्षी पिछली घटनाओं के समान ही अतीत-गत अनुपस्थित होते हैं। उनके उपलब्ध वचन एक प्रकार के आप्तवचन अथवा जहां स्वयं साक्षियों के नाम और पृथक् व्यक्तित्व अविदित है, एक प्रकार के आगममात्र होते हैं। उदाहरण के लिए, मेगस्थनीज अथवा युवानच्वांग के विवरण ऐतिहासिक साक्ष्य की कोटि में आते हैं क्योंकि वे अपने आपको ऐसे व्यक्तियों के द्वारा लिखित बताते हैं जो कि अपनी वर्णित सामग्री की जानकारी का दावा करते हैं। पुरानी परिभाषा के अनुसार, उनके विवरणों से उपलब्ध ज्ञान आप्तवचनरूप शब्द-प्रमाण से गृहीत ज्ञान होगा। दूसरी ओर, पुराणों में लिखित राजकीय वंशावली यदि विश्वसनीय सिद्ध होती है तो वह भी इसी प्रकार से जानी हुई कही जायेगी जैसे आगमरूप शब्द से ज्ञान होता है। यह स्मरणीय है कि इतिहासकार साक्ष्य का दावा करने वाले लेखों की ओर एक सत्य जिज्ञासु की भांति परीक्षा की दृष्टि रखता है जो किसी लेखक को अथवा किसी परम्परा को सिर्फ उसके दावे से ही विश्वसनीय नहीं मानती। यथासंभव वह उन लेखकों के चरित्र, विवेक, जानकारी के अवसर और साधन, उनके लिखने के उद्देश्य, उनकी यथार्थ कथन की योग्यता और शैली आदि का विवेचन करता है। ऐसे ही वह नामहीन परम्पराओं के उद्गम, विकास प्रक्षेप आदि का विश्लेषण करता है। इतने से ही यह स्पष्ट होगा कि इतिहासकार बहुत से ऐसे साक्ष्य का भी सहारा लेता है जो सामान्यतः कचहरी में स्वीकार नहीं हो सकेगा। सेनियोबो का कहना है कि जहां कचहरी में गवाह के चरित्र को तब तक विश्वसनीय मान लिया जाता है जब तक वह किसी विशेष कारण से अधिक्षिप्त न हो, किन्तु इतिहासकार की परीक्षाविधि अधिक कठोर होती हैं और वह किसी साक्षी को बिना उसके चरित्र की जांच पड़ताल किए विश्वसनीय नहीं मानता। इस स्थल पर यह कहना आवश्यक है कि परीक्षा की यह कट्टरता आधुनिक इतिहास में अधिक लागू होती है, पूर्वतन इतिहास में कम। किन्तु इस कमी की पूर्ति के लिए प्राचीन और एक सीमा तक मध्यकालीन इतिहास के लेखन में अनेक प्रमाणों की परस्पर संपुष्टि पर विशेष ध्यान दिया जाता है और साथ ही उस प्रकार की बारीक तथ्यों को स्वीकृति आधुनिक इतिहास की अपेक्षा बहुत कम दी जाती है। आधुनिक इतिहास के लेखन में परीक्षा के अनन्तर विश्वसनीय माने हुए साक्ष्य के आधार पर बहुत से ऐसे घटना-विस्तार तथ्य के रूप में स्वीकृत होते हैं जिनके समानान्तर कथन प्राचीन इतिहास में उसी मात्रा में विवेचनीय साक्ष्य के अभाव में स्वीकार नहीं किए जाते। ऐसे ही नामहीन परम्पराओं अथवा अनुश्रुतियों का उपयोग न कचहरी में होता है, न अर्वाचीन इतिहास के लेखन में। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार ग्रोट ने अपने 'ग्रीस का इतिहास' में सैकड़ों पृष्ठों के विस्तार से प्राचीन ग्रीक परम्पराओं को अश्रद्धेय घोषित किया। किन्तु, उसके बाद की पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध होगया कि इन पुरानी परम्पराओं में तथ्य की कुछ स्मृति निस्संदेह रूप से विद्यमान थी। ऐसे ही चीन के इतिहास के प्रति भी पहले शंग वंश के राजाओं के संबंध में पुरानी चीनी परम्परा को कपोलकल्पित माना जाता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

था। किन्तु, होनन की उत्कीर्ण हड्डियों के मिलने के बाद से यह स्पष्ट हो गया, कि इस परम्परा में बहुत से ऐतिहासिक नाम संरक्षित थे। पुराणों की परम्परा के विषय में भी विद्वानों में क्रमशः मतपरिवर्तन हुआ है।

हमने ऊपर इतिहासोपयोगी साक्ष्य की तुलना आप्तवचन एवं आगम से की है। इन शब्दों को हमने क्रमशः विश्वसनीय पुरुष के वचन और प्राचीन काल में सुरक्षित परम्परा के अर्थ में किया है। इस बात का स्मरण रोचक होगा कि मीमांसक गण वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते थे कि वेद ऐसी परम्परा है जो कि अविच्छिन्न है, अनादि है और किसी पुरुष के द्वारा प्रवर्तित नहीं की गई है और इसलिए पुरुष–संभाव्य राग–द्वेष से अछूती है। ऐतिहासिक साक्ष्य इस अर्थ में आप्तवचन नहीं है कि आप्त पुरुष कोई मनुष्योत्तर सत्ता हो अथवा इस अर्थ में कि वक्तव्य स्वरूपतः अपरोक्ष-विषयक हो। किन्तु, यह स्मरणीय है कि शब्द-प्रमाण के प्रत्यय में अलौकिकता अथवा अदृष्टार्थता को आवश्यक स्थान नहीं है। शब्द–प्रमाण का अर्थ है सही जानकारी देने वाला शब्द। चूंकि इतिहासकार शब्द को अपौरुषेय नहीं मानता, उसके लिए शब्द से सही जानकारी तभी प्राप्त हो सकती है जब वह जानकार तथा विश्वसनीय व्यक्ति का कथन हो। इसी को साक्ष्य अथवा गवाही कहते है। नितान्त अदृष्ट अर्थों की जानकारी का दावा इतिहास में साक्ष्य के रूप में स्वीकृत न होकर तथाकथित साक्षी के विश्वास के रूप में ही स्वीकृत होता हैं। मानसिक भाव, अभिप्राय, विचार आदि दूसरे के द्वारा दृष्ट न होकर अनुमित ही होते हैं। वे इस अर्थ में परोक्ष नहीं है कि व्यक्ति उन्हें अपने अन्दर जानता है और दूसरे में समानता के आधार पर पहचानता है। 'कैम्ब्रिज माडर्न हिस्टरी' के प्रथम संस्करण के प्राक्कथन में विशप क्रेटन ने बाहरी कार्यों के पीछे की मनोवृत्तियों को ऐतिहासिक साक्ष्य से प्रमाणित करने की कठिनाई पर टिप्पणी की है। बाह्य कर्मात्मक घटना सुप्रतिपाद्य है किन्तु उसकी कारणभूत सूक्ष्म मानसिक घटना कथंचित् अनुमेय होते हुए भी कठोर प्रमाणपरीक्षा की दृष्टि से सदैव दुष्प्रतिपाद्य ही रह जाऐंगी।

रांके से पहले इतिहासलेखन मुख्यतः पुराने इतिहासकारों, वार्ताकारों, जीवनचरितों आदि पर आधारित होता था। हेरोडोटस ने स्वयं घूमघाम कर बहुत सी जानकारी इकट्ठा की थी। यदि उसकी रचना वार्ताकार की न हो कर इतिहासकार की है तो वह उसके द्वारा उपयुक्त साक्ष्य के भिन्न होने के कारण उतना नहीं है जितना कि उस साक्ष्य के आलोचनापूर्वक उपयोग के कारण। इतिहास की रचना-पद्धति में हेरोडोटस के द्वारा की गई इस क्रान्ति के पश्चात् दूसरी महत्वपूर्ण क्रान्ति रांके की ही माननी चाहिए क्योंकि रांके ने संबंधित कागजात या शासनपत्रों की खोज को इतिहासकार के लिए एक अतिरिक्त और अधिक महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रस्तुत किया। संबंधित कागजात या दस्तावेज वे पत्रक होते हैं जो कि मूल घटना के प्रवर्तन के साथ उसके अन्तरंग रूप से प्रवृत्त हुए हों। बहुधा ये कागजात अपनी उत्पत्ति के समय गुप्त माने जाते हैं। इनकी प्रामाणिकता इस बात से विशेष रूप से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है कि घटना के विषय में ये न तो संबंधित व्यक्ति की बाहरी सूचना देते हैं, न बाहरी व्यक्ति की तत्संबंधी सूचना, न किसी की घटना के सम्बन्ध में पीछे किसी विशेष अभिप्राय से दी हुई सूचना। सरकारी कारोबार और नीतियों के संबंध में सरकारी अधिकारियों के जनता के लिए दिए गए वक्तव्य संबंधित लोगों की दी गई बाहरी सूचना है। समाचारपत्रों में प्रकाशित विवरण और टिप्पणियां बाहरी लोगों की तत्संबंधी सूचना है। सरकारी अधिकारियों और राजनीतिज्ञों के पीछे दिए हुए विवरण-जैसे बिस्मार्क की अपनी जीवनी अथवा मौलाना आजाद की जीवनी-सम्बन्धित व्यक्तियों की परवर्ती और साभिप्राय सूचना है। यह सब वक्तव्य विभिन्न प्रकार की गवाही की कोटि में आते हैं किन्तु कागजात की कोटि में नहीं। सरकार के द्वारा प्रकाशित गजेट की विज्ञप्ति अथवा निर्णय लेने के सिलसिले में अधिकारियों के बीच सरकारी पत्र-व्यवहार एवं सम्बन्धित पत्रावलियों में अंकित विवरण, टिप्पणियां एवं आदेश सम्बन्धित कागजात या दस्तावेज कहे जाते हैं। अर्वाचीन इतिहास की रचना के लिए इस प्रकार के साधन का महत्व सर्वाधिक है। भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में लगभग १७वीं शताब्दी से इस प्रकार के कागजात विशेष रूप से उपलब्ध होने लगते हैं। हैदराबाद के अभिलेखागार में संरक्षित शाहजहां के समय के कुछ कागजात उदारहण के रूप में उल्लेख्य हैं। इस प्रकार के कागजात की भी असलियत की परीक्षा सावधानी से करनी पड़ती है–विशेषतः यदि ये पुराने हैं क्योंकि पुराने दस्तावेज कभी विशेष अभिप्राय से जाली भी बनाए जा सकते हैं। दानपत्र, पट्टे आदि स्पष्ट कारणों से जाली बनाए जा सकते हैं। समुद्रगुप्त के तथाकथित गया और नालन्दा के ताम्रपत्र इसके दृष्टान्त हैं। पश्चिमी इतिहास में तथाकथित कान्स्टेन्टाइन के दानपत्र को जाली सिद्ध करना ऐतिहासिक पत्रपरीक्षा की एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक विजय मानी जाती है। दस्तावेज की परीक्षा एक पृथक् विद्या ही है जिसे 'डिप्लोमेटिक' कहते हैं। इसमें पुराने शासनपत्रों की शैली, मुद्रा आदि की विशेषता का अध्ययन किया जाता है। शासनपत्रों और अन्य सरकारी कागजात अब अभिलेखागारों में विशेष रूप से संगृहीत होने लगे हैं।

पुरानी घटनाओं से कार्यकारणरूप में संबंधित भौतिक सामग्री के अवशेष ऐतिहासिक जानकारी के तीसरे मुख्य साधन हैं। सामान्य इतिहास की रचना के लिए इनका सर्वाधिक महत्व प्राचीनकालिक इतिहास के पुनर्निर्माण में है। इतिहास की दृष्टि से पुराने भौतिक अवशेषों की खोज, उनकी परीक्षा, उनका संबंध-स्थापन और संरक्षण आदि पुरातत्वविद्या के विषय हैं। मनुष्य के प्राचीनतम इतिहास को जानने के लिए पुरातात्विक सामग्री ही एकमात्र साधन है। जिस युग से अभिलेख मिलने लगते हैं उस युग के लिए भी पुरातात्विक सामग्री समाज के भौतिक जीवन को समझने के लिए विशेष रूप से उपयोगी बनी रहती है।

चाहे साक्षी लेख हों, कागजात हों या भौतिक सामग्री हों, सभी का उपयोग परीक्षापूर्वक होना आवश्यक है। इस परीक्षा में कुछ सामान्य प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है—प्रस्तुत लेखादि की रचना कब हुई ?, किसने की ?, किस उद्देश्य से ?,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लेखक का चरित्र विश्वसनीय है अथवा नहीं ?, उसके जानकारी के अवसर पर्याप्त थे या नहीं ?, लेख, मुद्रा आदि असली है कि जाली ? । इनमें पहले तिथि संबंधी प्रश्न के निर्णय के लिए कभी-कभी बहुत छानबीन की आवश्यकता होती है । लिपि, भाषा, शैली आदि की परीक्षा के लिए पृथक्-पृथक् शास्त्रों का विकास हुआ है । पुरातात्त्विक सामग्री के तिथिनिर्णय में स्तरीकरण, रासायनिक परीक्षा, कार्बन-१४ की परीक्षा, प्रस्तरीभूत (fossilized) अवशेषों की परीक्षा, परागविश्लेषण (Pollen-analysis), निवेश-मापन, अवशेषों के मिलने का सांख्यकीय विश्लेषण आदि का प्रयोग होता है । पाण्डुलिपियों की परीक्षा पाठ-विवेचन के सिद्धान्तों से की जाती है । एक ही ग्रंथ की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आदर्श और प्रतिलिपि के संबंध के अनुसार एक वंशावली बनाई जाती है जिसमें एक ही मूल से किस प्रकार विभिन्न पाण्डुलिपियों के भेदों का जन्म हुआ इसका इतिहास पता लगाने की चेष्टा होती है । इस प्रक्रिया से प्रामाणिकतम पाठ अथवा पाण्डुलिपि की पहचान की जाती है ।

जैसा कि अब तक स्पष्ट हो गया होगा, इतिहास की जानकारी के साधन अलग-अलग अक्सर अपर्याप्त रूप से ज्ञापक होते हैं । उनके साधन में एक संभावना का अंश लगा होता है और यदि इस प्रकार की संभाव्य सूचनाओं को ही निरन्तर जोड़ते चला जाए तो समूचा विवरण संदिग्ध-रूप हो उठेगा । इसका प्रतिदृष्टान्त प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति में मिलता है । वहां किसी एक प्रत्यक्ष तथ्य को लेकर दीर्घ-दीर्घ तर्क-शृंखलाएं प्रवृत्त हो कर नितान्त सूक्ष्म तत्व का उद्घाटन करती हैं । इस प्रक्रिया में संदेह या बाधा की तब तक संभावना नहीं रहती जब तक कि प्रत्यक्षान्तर की उपलब्धि फिर से नवीन विचार न प्रेरित करे । विज्ञान के प्रमाणों का निष्कम्प प्रामाण्य और वैज्ञानिक प्रमाण की संदेह के लेशमात्र से भी शून्यता अभ्यास-दशापन्न* प्रत्यक्ष और तर्क से समर्थित यथार्थ अनुमान**

---

* एक बार का प्रत्यक्ष संदेह का निरास नहीं करता है किन्तु बार बार दुहराया हुआ प्रत्यक्ष असंदिग्ध होता है । इसीलिए वैज्ञानिक प्रत्यक्ष ऐसे प्रयोग के द्वारा उपलब्ध किया जाता है जिसे विभिन्न परिस्थितियों में बहुत से लोग यथेष्ट दुहरा सकें । विज्ञान के लिए तथ्यसूचक प्रत्यक्ष का यथेष्ट दुहराया जा सकना एक आवश्यक शर्त है । इससे तुलनीय है ऐतिहासिक गवाहों का बीती घटनाओं का कथंचित् साक्षात्कार जो कभी भी दुहराया नहीं जा सकता और न जिसमें अभीष्ट तथ्य के साक्षात्कार के लिए उपयुक्ततम परिस्थिति का ही इन्तजाम किया जा सकता है ।

** अनुमान स्वयं परीक्षात्मक होता है और अपने प्रामाण्य का भी ज्ञापक होता है किन्तु यथार्थ अनुमान की आवश्यक शर्तें सामान्य इतिहास की सभावनात्मक विचारधारा में उपलब्ध नहीं होतीं । और फिर वैज्ञानिक अनुमान में व्याप्ति को तर्क अथवा अन्यथा असम्भावना के द्वारा पुष्ट किया जाता है । इसके अतिरिक्त विज्ञान में सामान्य भाषा के स्थान पर एक परिष्कृत विशिष्ट भाषा या परिभाषा का प्रयोग किया जाता है जिसका कि गणित सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर आधारित होता है। इसके विपरीत इतिहासकार के लिए प्रत्यक्ष उपलब्ध ही नहीं होता क्योंकि उसका विषय अतीतकालिक है, उसका तर्क सामान्य जीवन की संभावनाओं पर आधारित होता है और उसमें संदेह का अवसर सदा बना रहता है। उसकी भाषा सामान्य भाषा है। उसके निर्णय अतीतविषयक होने से उनका कभी भी न प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापन हो सकता है, न खण्डन। इस स्थिति में इतिहासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने प्रमाणों को एक दूसरे से संपुष्ट करे। प्रमाणों का यह परस्पर संपोषण ऐतिहासिक प्रतिपादन की विशेषता है। इसके साथ ही इतिहासकार के लिए एक विशेष प्रकार की निर्णय-बुद्धि अपेक्षित है। यह निर्णय-बुद्धि सामान्य या वैज्ञानिक तार्किक बुद्धि नहीं है। इसकी तुलना उस अन्तर्दृष्टि से की जा सकती है जो कि किसी विषय के पारखी में सुदीर्घ अभ्यास से सहज रूप से प्रतिष्ठित होती है अथवा जिसे अनुभवी व्यक्ति की बारीक पहचान कहते हैं। कचहरी में अनुभवी न्यायाधीश गवाहों की विश्वसनीयता के संबंध में, अनुभवी पुलिस का अधिकारी अपराधियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की सहज निर्णय-बुद्धि प्राप्त कर लेता है। कठोर प्रमाण-व्यापार की दृष्टि से मामले के संदिग्ध रहने पर भी हम व्यवहार में प्रायः इस तरह के कुशल परीक्षकों की बात को महत्त्व देते हैं। इतिहास को इस अर्थ में एक प्रकार के सुदीर्घ अनुभव और चिराभ्यास से पुष्ट विवेक के निर्णय की बात कहा जा सकता है, न कि निरा तार्किक युक्ति-विन्यास। ऐतिहासिक ज्ञान की प्रक्रिया अवश्य ही प्रामाणिक उपपादन की प्रक्रिया है, वह कल्पना न हो कर निश्चय ही प्रमाणानुसंधान है, किन्तु उसका सार अनुभवमूलक संभावन और अन्तर्दृष्टिवत् परख या विवेक बुद्धि के द्वारा निर्णयन है। ऐतिहासिक ज्ञान न विशेष-विषयक प्रत्यक्ष है न सामान्य-विषयक अनुमान; वह विशेष-विषयक निर्णय है। उसका विषय अतीतकालीक और तिथ्यंकित घटना होती है। इस प्रकार के विषय का ऐतिहासिक बोध स्मृति से भिन्न और परोक्ष होता है। परोक्ष होते हुए भी वह सामान्य-विषयक नहीं होता। विशेष-विषयक होते हुए भी वह आलोचनात्मक होता है।

ऐतिहासिक ज्ञान के दो स्तर होते हैं : तथ्यात्मक और सत्यात्मक। तथ्य से यहां तात्पर्य किसी भी वास्तविक घटना के अभिधायक वाक्य के अर्थ से है। सत्य से यहां तात्पर्य मूल्य-संहित अर्थ अथवा मानवीय सार्थकता से है। तथ्य का निर्णय प्रमाणमूलक उपपादन से होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इन पृथक्-पृथक् तथ्यों का वृहत्तर मानवीय सत्य के संदर्भ में समन्वित निरूपण इस अर्थ में "निर्णयात्मक" होता है जिसका कि सामान्य स्वरूप अभी ऊपर कहा जा चुका है। प्रचलित भाषा में ऐतिहासिक ज्ञान की पहली सीढ़ी प्रमाणों के आधार पर तथ्य का निर्धारण होती है, दूसरी अनुभव के आधार पर तथ्यों की व्याख्या होती है। इनमें पहली सीढ़ी पर अधिकांश इतिहासकारों में ऐकमत्य संभव होता है और सेनियोबो (Seignobos) जैसे इतिहासकार इसी स्तर के ज्ञान को ठीक ठीक वैज्ञानिक इतिहास कहते हैं। किन्तु वास्तव में घटनाओं और उनके संदर्भ को सर्वथा अलग नहीं रखा जा सकता और न

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानवीय तथ्यों का मूल्यनिरपेक्ष निरूपण सन्तोषप्रद हो सकता है। डिल्थाइ के अनुसार घटनाओं को संदर्भ में रखना ही उनकी व्याख्या है। लार्ड ऐक्टन का मत था कि इतिहासकार को मानवीय कर्मों के सदसत् का निर्णय भी करना चाहिए। हीगल और कालिङ्गवुड के अनुसार मानवीय कर्मों के मूल में विचार ही होते हैं। फलतः ऐतिहासिक ज्ञान में तथ्यों के अनुसंधान और व्याख्या को एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष मानना चाहिए, जिसमें एक कल्पित सीमा शुद्ध वस्तु है और दूसरी कल्पित सीमा शुद्ध मूल्य। तथ्य और व्याख्या की सापेक्षता सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में अति स्पष्ट हो जाती है। वाह्य प्रत्यक्ष के योग्य घटनाओं के कारण और संदर्भ ढूंढ़ने के प्रसंग में हम व्यक्ति-स्वभाव, सामुदायिक व्यवस्था और सामान्यतया स्वीकृत विचारों तक पहुंचते हैं। व्यक्ति-स्वभाव को आंकना एक साथ ही तथ्य निर्णय भी है और तथ्यों की व्याख्या भी। संस्थाओं और व्यवस्थाओं का विश्लेषण उन आदर्शों, निष्ठाओं एवं निहित स्वार्थों के स्पष्टीकरण के बिना नहीं हो सकता जिनमें तथ्य और मूल्य के बीच की विभाजक रेखा इतिहासकार की दृष्टि के अनुसार बदलती रहती है। सांस्कृतिक रूप मूल्योपलब्धि को ही व्यक्त करते हैं। बिना उनके अन्दर पैठे उनका यथार्थ बोध और निरूपण संभव नहीं है। प्रत्येक मानवीय कर्म में और संरक्षित अनुभूति में किसी न किसी प्रकार का और स्तर का मूल्यबोध अथवा विवेक अन्तर्निगूढ रहता है। उस कर्म अथवा अनुभूति को समझने के लिए इस अन्तर्निगूढ मूल्यबोध या विवेक का साक्षात्कार आवश्यक है। यह साक्षात्कार या काल्पनिक अनुप्रवेश एक तात्कालिक कल्पित तादात्म्य की भावना के द्वारा ही संभव है। इस व्यापार को समानुभूतिक कल्पना अथवा तन्मय कल्पना (empathy) कहा गया है। इतिहासकार की विचार-बुद्धि के मार्ग में इस प्रकार की तन्मयता वैसे ही कोई बाधा उपस्थित नहीं करती है जैसे कला के आलोचक की परीक्षाबुद्धि के मार्ग में उसकी तन्मयता। अतीत के छिन्न सूत्रों को फिर से संजोने के लिए धैर्यपूर्वक प्रमाणों की खोज के अतिरिक्त जिस कल्पना और सहानुभूति की आवश्यकता होती है उसमें इतिहासकार के अपने संस्कार और ज्ञान का विशेष हाथ होता है। सामाजिक और सांस्कृतिक अतीत की ऐतिहासिक प्रस्तुति में साक्ष्य और तथ्य को सदा ही पृथक् नहीं रखा जा सकता। कालिदास की रचनाएं कालिदास के विषय में साक्षी भी हैं और मुख्य व्याख्येय तथ्य भी। शंकराचार्य के भाष्यों की व्याख्या किये बिना उनका अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो सकता। अर्वाचीन काल से पहले के लिए सामाजिक इतिहास की सामग्री इतनी अपूर्ण अवस्था में मिलती है कि उसके आधार पर संरचना व्यापक सामान्य कल्पनाओं के बिना संभव नहीं होती, यद्यपि सामाजिक इतिहासकार बहुधा अपनी स्वीकृत कल्पनाओं के प्रति उस प्रकार जागरूक नहीं होते हैं जैसा कि उन्हें होना चाहिए। अर्वाचीन और वर्तमान-कालिक समाज का निरूपण भी, पर्याप्त तथ्यों के बावजूद, सदा ही एक संदेह की धूमिलता से मुक्त नहीं होता। समाज की रचना इतने सारे और इतने अप्रत्यक्ष संबंधों और तथ्यों के द्वारा घटित होती है कि उसे तथ्यों के टुकड़े-टुकड़े जोड़ कर उसकी समग्रता में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। बिना अन्तर्दृष्टि और कल्पना के सहारे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक और सांस्कृतिक साक्ष्यों और तथ्यों को एक जीवन्त समग्रता के रूप में नहीं देखा जा सकता है। टूटे ठीकरे, मिट्टी के खिलौने, कुछ अभिलिखित मुद्राएं, कुछ मकानों के भग्नावशेष, इस प्रकार की सामग्री से किसी युग की विशेषता को परिभाषित करने का प्रयत्न इतिहासकार को उनकी रचना, उपयोग और संकेत को समझने की ओर प्रवृत्त करता है। जहां सामग्री अत्यन्त प्रचुर होती है वहां अनन्त विस्तर के अन्तराल से सार्थक सम्बन्धों को खोजने के लिए भी साक्ष्यों और तथ्यों के आपेक्षिक महत्त्व का आकलन आवश्यक होता है। इतिहासकार न केवल तथ्यों की दृष्टि से साक्ष्यों का महत्त्व आंकता है बल्कि वृहत्तर तथ्यों की दृष्टि से अणु तथ्यों का महत्त्व आंकता है। उसे साक्ष्यों से तथ्य और तथ्यों से सत्य निकालने पड़ते हैं। इस प्रयास में उसे निरन्तर सामग्री के घटकों के वास्तविक और सार्थक सम्बन्धों को पता लगा कर महत्त्वपूर्ण तथ्यों का निरूपण करना होता है। तथ्यों में महत्व का निर्णय इतिहास के लिए उतना ही आवश्यक है जितना साक्ष्यों में प्रमाणिकता का। सभी तथ्य और घटनाएं बराबर महत्वपूर्ण नहीं होतीं। ऐतिहासिक संरचना में कोई केन्द्र में होती है, कोई पार्श्व में, कोई परिधि पर। घटनाओं की इस न्यूनाधिक आपेक्षिकता को समझे बिना इतिहास का निरूपण आकार और सार्थकता से विहीन निरी सामग्री अथवा उपादान मात्र का सूचीपत्र बन जाएगा। वह इतिहास न होकर विभिन्न ऐतिहासिक संरचनाओं की संभावना या आकार मात्र होगा।

घटनाओं का महत्व किस प्रकार आंका जा सकता है? महत्व नापने का एक पैमाना घटना की प्रभावशीलता या कारकता होती है। किन्तु यदि घटना का केवल साक्षात्कार या प्रभाव देखा जाय तो एक भूचाल ईसा मसीह की मृत्यु से अधिक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण बन जाएगा। इसलिए प्रभाव को आंकने के लिए यह देखना आवश्यक है कि वह प्रभाव शृंखलाकार प्रतिक्रिया (chain reaction) के समान स्वतः अपना विस्तार करने वाला जीवन्त प्रभाव है अथवा केवल एक तात्कालिक विस्फोट। यह भी देखना आवश्यक है कि वह घटना इस प्रकार के वृहत्तर प्रभाव की स्वयं मूल जननी है अथवा किसी और ही सूक्ष्मतर घटना–प्रभाव अथवा प्रभाव–शृंखला का एक निमित्त मात्र है। उदाहरण के लिए, तिमूर की सामरिक सफलताएं सिकन्दर की सफलताओं से तुलनीय हैं किंतु सिकन्दरका वृत्तान्त एक अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव-शृंखला का अंग था। नेताओं का महत्व उनके अपने तात्कालिक प्रभाव से नहीं बल्कि उनके संदर्भो से अलग-अलग हो जाता है। सेनियोबो का कहना है कि यह मानना एक प्रायिक भ्रान्ति है कि महत्वपूर्ण और बड़ी घटनाओं के कारण भी महत्वपूर्ण और बड़े होते हैं। उनका कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी का योरोप का इतिहास तीन संयोगों से घटित हुआ है। यदि विशुद्ध कार्य-कारण-भाव को ही ऐतिहासिक महत्व का मानदण्ड माना जाय तब तो इस मत को असिद्ध करना दुष्कर है क्योंकि जीवन में छोटी बातों से बड़ी बातें पैदा होती दीखती हैं। किन्तु जिस घटना का मूल्य मानव विवेक के द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है, क्या उसे बड़ा महत्वपूर्ण कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकता है ? प्राकृतिक दुर्घटना बहुत क्षति पहुंचा सकती है और मनुष्य के लिए एक बाहरी चुनौती बन सकती है, किन्तु इतने से ही वह महत्वपूर्ण नहीं होती। वह महत्वपूर्ण तब होती है जब कि वह मानव चिन्तन की दिशा को ही एक निराशाग्रस्त भाग्यवाद की ओर मोड़ दे। स्पष्ट ही इतिहासकार को घटनाओं के मूल्य-निर्धारण में घटनाओं को उनके अपने कारित्र और प्रभाव के संदर्भ में देखना है, उस बृहत्तर घटनावली के संदर्भ में देखना है जिसका वह अंग है और तद्विषयक मानवीय चिन्तन के संदर्भ में देखना है। घटनाओं के प्रति मानवीय चिन्तन का संदर्भ अपनी तात्कालिक स्थिति में तो ऐतिहासिक साक्ष्यों से निर्धारणीय होता है। किन्तु यह तात्कालिक मानवीय चिन्तन–सामान्य जनता और ऐतिहासिक व्यक्तियों के विचार, अभिप्राय आदि–स्वयं एक सूक्ष्म किन्तु केन्द्रीय कारण-शक्ति से युक्त घटना-प्रवाह होता है, जिसका मूल्यांकन करने वाली मानव दृष्टि प्रति युग में अथवा विभिन्न स्थितियों में बदलती जाती है। यही कारण है कि इतिहासकार की दृष्टि के अनुसार उसके द्वारा की गई अतीत की व्याख्या एक विशिष्ट रूप ग्रहण करती है। इतिहासकार की दृष्टि उसके अपने युग और उसकी अपनी स्थिति से प्रभावित होती है और इस प्रकार इतिहास–लेखन स्वयं इतिहास का अंग बनता है।

यदि इतिहास की प्रत्यक्षयोग्य बाहरी घटनाओं को समझने के लिए हम स्वभावतः दृश्योपयोगी देश, काल, द्रव्य, कारणता आदि प्रकृति-निरूपक मूल कल्पनाओं का अनुसरण करते हैं तो यह अनुसरण हमें मनुष्य के संस्कारों, प्रवृत्तियों और अभिप्रायों तक ले जाता है। किन्तु, ये मनोवृत्तियां मनुष्य को किसी न किसी सत्य-ज्ञान या मूल्य-ज्ञान का दावा करके ही प्रभावित करती हैं। इस प्रकार, अन्ततोगत्वा मानवीय कर्मों के कारण उसके विवेक के विशिष्ट निर्णयों में जाकर पर्यवसित होते है। यह मानवीय विवेक कोई एक स्थित, शाश्वत बात न होकर एक अनुभवसापेक्ष विकासशील ज्ञान है। यह मानवीय ज्ञान का इतिहास या मानवीय मूल्यसाधना के मर्म का इतिहास स्पष्ट ही प्रकृत्युत्तीर्ण सांस्कृतिक कल्पनाओं की सहायता से ही निरूपित हो सकता है। यदि सभी सांस्कृतिक क्षेत्रों में कोई एक व्यापक ऐतिहासिक पूर्वकल्पना है तो वह द्वन्द्वात्मकता की है। जैसे जैसे ऐतिहासिक ज्ञान बढ़ता है, अलग-अलग सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों के निर्णय मानों एक दूसरे की आलोचना को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करते हुए एक प्रशस्ततर सत्य की ओर संकेत करते हैं। समस्त मानवीय राग-द्वेष और निहित स्वार्थभावना के पीछे एक अधूरे आत्मविवेक की प्रेरणा रहती है जो मानों अपने अधूरेपन को व्यवहृत होने पर विपरीत फल के द्वारा प्रदर्शित कर पूर्णतः विवेक का संधान प्रस्तुत करती है।

मानवीय बोध की यह एक आवश्यक शर्त है कि उसका विषय सीमित हो। इसके परिणामस्वरूप सभी प्रकार के ज्ञान और अनुभव सप्रतियोगिक होते हैं। किसी भी समाज–व्यवस्था या समंजस सांस्कृतिक इकाई के लिए यह आवश्यक है कि वह अनन्त संभावनाओं में से कुछ को चुन कर अपना आधार बनाए। जैसे संगीत में संवादी (harmonic) स्वरों की श्रेणी (series) में से कुछ चुने हुए स्वर ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किसी विशेष संगीत पद्धति में उपयोगी होते हैं, उन स्वरों में से भी कुछ की विशिष्ट योजनाएं ही रागों को परिभाषित करती हैं, ऐसे ही मानवीय ज्ञान और अनुभव की कुछ स्थापनाओं को बुनियाद बनाकर विशिष्ट समाज एवं संस्कृतियों की रचना होती है। इसीलिए इतिहास के क्रम में आधारभूत मान्यताएं और उन पर आधारित संस्थाएं ऐतिहासिक अनुभव के प्रवाह में अपनी सीमाएं व्यक्त कर मनुष्य को अन्य संभावनाओं की ओर मुड़ने के लिए बाध्य करती हैं। जैसे विचार में कोई एक मत क्रमशः अपने परिष्कार और रूपान्तरण को जन्म देता है, ऐसे ही संस्थाएं भी। जैसे विशुद्ध प्रत्ययात्मक ज्ञान के अन्दर आलोचना की प्रक्रिया प्रसंगापादन करती है ऐसे ही वस्तुविज्ञान के क्षेत्र में पूर्वसिद्ध ज्ञान की सीमाओं को समझने और दूर करने से ही प्रगति होती है। संस्थाओं के चलन और उनके व्यतिरिक्त व्यवहार के निरन्तर संघर्ष से संस्थाओं का परिवर्तन होता हैं। संक्षेप में ज्ञान और अनुभव, संस्कृति और प्रकृति एवं मानवीय स्पर्द्धाओं के संघर्ष से इतिहास की प्रक्रिया एक द्वन्द्वात्मकता की प्राप्ति करती है।

इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इतिहास की व्याख्या करने में हम अपना तादात्म्य उसके किसी एक सीमित रूप से न स्थापित करे। सभी आग्रह और आक्रोश, जय और पराजय, पक्ष और विपक्ष एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का निर्माण करते हैं जिसकी समुच्चित गति सदा ही अतर्क्य रहती है। यह समझ लेने पर इतिहासकार के लिए आग्रह और आक्रोश निरर्थक हो जाते हैं। वह नित्य विश्व का द्रष्टा (sub specie aeternitis) न सही उसे अनित्य विश्व का द्रष्टा (sub specie temporis) बनना ही है। द्रष्टा का भाव तटस्थ होता है। यह तटस्थता मूल्यनिरपेक्षता नहीं है बल्कि स्वयं एक सर्वोत्कृष्ट मूल्य है। कहा गया है कि सब कुछ देखना सब कुछ क्षमा कर देना है (tous comprendre est tous pardonner)। इसीलिए विद्यारण्य ने जहां काव्य और तर्क के अभ्यास को चित्त-विक्षेप का कारण बता कर अनुपादेय कहा है, इतिहास के परिशीलन को अनित्यतादर्शन के द्वारा निर्वेदजनक होने के कारण सराहा है।

इस दृष्टि का यह अर्थ नहीं है कि इतिहास का अध्ययन मनुष्य को कर्म-जगत् से अलग और न्याय-अन्याय, मूल्य-अमूल्य के प्रति व्यवहार में उदासीन बना दे। किन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि इतिहास का अध्ययन मनुष्य को पक्षपात, सीमित आग्रह एवं तात्कालिकता के अन्धेपन से मुक्ति दे। हेगेल ने कहा था कि 'ट्रेजेडी' का सार इस बात में है कि उसमें दोनों ही प्रतिपक्षी एकांगी न्याय मांगते हैं। यही इतिहासकार को सीखना है कि ऐतिहासिक संघर्ष उतना न्याय और अन्याय का नहीं होता है जितना एक न्याय की मांग और दूसरे न्याय की मांग का। परिस्थिति विशेष में जो व्यवस्था और कानून उपयोगी और न्याययुक्त ठहरते हैं, वे ही कालान्तर में एक नई व्यवस्था और कानून की मांग के सामने दोषी प्रतीत होते हैं। व्यवस्थाओं को दोषी ठहराने के लिए कोई एक सर्वविदित कानून उपलब्ध नहीं होता है। इसीलिए उनमें संघर्ष वैसे ही अनिवार्य होता है जैसे प्रभुत्वशाली राज्यों में युद्ध। युद्ध व्यक्तियों के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कलह के समान नहीं होता, न क्रान्ति एक स्थिर व्यवस्था के अन्दर कानून के विरोध में विद्रोह के समान होती है। इतिहास के अध्ययन में युद्ध और क्रान्ति के घटक प्रतिपक्षी समुदाय और व्यवस्थाएं अपने हितों और न्याय की मांगो के द्वन्द्वात्मक अधूरेपन से ग्रस्त दीखती हैं। इस स्थिति में सब पक्ष समान रूप से ठीक नहीं प्रतीत होते किन्तु कोई भी पक्ष निर्दोष रूप से ठीक नहीं प्रतीत होता और इसीलिए युद्ध और क्रान्ति कभी अनिवार्य प्रतीत होने पर भी अन्तिम नहीं प्रतीत हो सकते। न इतिहासकार यह कह सकता है कि किसी युद्ध और क्रांति का ऐसा पारमार्थिक महत्व है कि उसके लिए शेष सब मूल्यों का बलिदान होना चाहिए। वह यही कह सकता है कि यदि कोई समाज किसी एक लक्ष्य के लिए बहुत कुछ त्याग करने के लिए तत्पर होता है तो संभवतः भविष्य में वह फिर प्रकारान्तर से उन मूल्यों के फिर से संग्रह के लिए प्रवृत्त हो सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१२

इतिहास-प्रक्रिया और अधिष्ठान

इतिहास किसका होता है ? व्यक्तियों के कार्यों का, राज्यों का, सामाजिक परिवर्तनों का, सांस्कृतिक परम्पराओं का अथवा सभ्यताओं का ? जहां पूर्वयुगों में व्यक्ति को ही इतिहास में केन्द्रीय स्थान प्राप्त होता था, अब इतिहासकार प्राय: इस बात पर एकमत हैं कि इतिहास मुख्यतः समाजाश्रित होता है न कि व्यक्ति-आश्रित। इस दृष्टि के विजयी होने में एक ऐतिहासिक कारण यह भी रहा है कि आधुनिक युग में जनतन्त्र की विजय यदि व्यवहार में नहीं तो कम से कम घोषणा में सर्वत्र स्वीकृत हुई है। वर्तमान युग सामान्य जनता का युग कहा जाता है। उसमें विशिष्ट व्यक्तियों का महत्त्व कम दीखे तो इसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिए। यह बात भी सच है कि पूर्वयुगों में राजतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र के कारण कुछ व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता था। वस्तुतः व्यक्ति और समाज की प्रति-द्वन्द्विता का भाव एक मिथ्या धारणा पर आधारित है। व्यक्ति अन्य प्रकार की सत्ता है, समाज अन्य प्रकार की। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों के संबंधों से उत्पन्न संस्कारों में है जो कि व्यक्ति-मानस पर रहते हैं। समाज स्वयं एक विलक्षण व्यक्तित्व, एक विराट् पुरुष नहीं है। दूसरी ओर, व्यक्ति स्वयं एक परमाणुवत् पृथक् और निर-पेक्ष सत्ता नहीं है। व्यक्तियों के शरीरों में भौतिक पृथक्ता अवश्य देखी जाती है किन्तु उनके मानस इस प्रकार से विभक्त नहीं किए जा सकते। संवेदन, स्मृति आदि मानसिक तत्व अवश्य ही देहाश्रित होने से नितान्त व्यक्तिगत होते हैं। इस प्रकार के मानस को पुराने यूनानी दर्शन में 'psyche' कहा जाता था जिसे प्राणमय एवं मनोमय कोश समझा जा सकता है। प्राण शरीर और मन को जोड़ता है और इसीलिए देह, इन्द्रिय, प्राण और मन एक सम्मिश्रित नितान्त व्यक्तिगत इकाई बनाते हैं। किन्तु मानवीय चेतना इतने में परिपूर्ण नहीं हो जाती। उसके अन्दर बुद्धि का विकास ही उसे विशिष्ट मानवता प्रदान करता है। बुद्धि अथवा विज्ञानमय कोश को प्राचीन यूनान में 'Nous' कहा जाता था। वही परवर्ती योरोपीय चिन्तन में 'ratio', 'reason' 'Vernunft' आदि शब्दों से अभिहित हुआ है। मानस का यह भाग प्राणयुक्त व्यक्ति में व्यक्त या सचेत होते हुए भी अपनी सार्वभौमता को अक्षत रखता है। जहां तकमनुष्य एक ज्ञानसम्पन्न और ज्ञानपूर्वक कर्त्ता है वह बुद्धि के ही निर्णयों से निर्देशित होता है। बुद्धि में एक सर्वसाधारण साक्षित्त्व होता है। इस साक्षिता में ही मैंपन का आरोप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर व्यक्ति ज्ञाता और कर्त्ता बनता है। उसका भोक्तृत्व उसकी अपनी विचित्र वासनाओं से अनुविद्ध होकर निजी और व्यक्तिगत होता हुआ भी वह अपने ज्ञान और विचारों के द्वारा अन्य व्यक्तियों के साथ एक भेदाभेद सम्बन्ध में बंधा रहता है। गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, पति और पत्नी केवल भौतिक सान्निध्य अथवा साहचर्य से उत्पन्न अनुकारितामात्र से संबद्ध नहीं होते अपितु समान ज्ञान और मूल्यों के साझीदार होने के नाते उनके कार्य मानों अपने वृहत्तर मानस की अभिव्यक्तियां होते हैं। मानवीय मन के इसी बौद्धिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए बोसांके ने कहा है कि समाज ऐसी बुद्धिवृत्तियों की व्यवस्था है (system of appercipient systems) जिनसे व्यक्तियों के विचार प्रभावित होते हैं। बुद्धि की इस सर्वसाधारणता के कारण ही व्यक्तियों के बीच संप्रेषण संभव है। मानवीय संबंध और कार्य निरा प्रत्यक्षगोचर व्यवहार नहीं हैं। वे अर्थ-संकेत भी होते हैं। सामाजिक सत्ता इस निरन्तर अर्थ-संप्रेषण और अर्थ-अभिज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति के लिए एक साथ ही अन्तर्वाह्य हो कर रहती है। अबोध शिशु की अवस्था से मनुष्य का विकास उसकी पृथक्ता को सामाजिक संस्कारों से बांध कर उसे अपने व्यक्तित्व का प्रबोध और अपनी सामाजिकता का बोध एक साथ ही देता है। सामाजिकता व्यक्तियों में और ऐतिहासिक परम्परा समाज की पीढ़ियों में वैसे ही अनुस्यूत रहती है जैसे मणिगणों में सूत्र।

व्यक्ति और समाज के जटिल संश्लेषण के बावजूद उनके द्वारा अदा की गई भूमिका के आपेक्षिक प्राधान्य के कारण उनके क्षेत्रों का विभाजन आवश्यक हो जाता है। इतिहास की प्रक्रिया में सामान्य व्यक्ति समुदाय में अन्तर्भूत हो जाते हैं। उनकी जीवन-विधा एक सामान्य संरचना और व्यवस्था के अनुसार समझी जा सकती है। असामान्य व्यक्ति इतिहास के अपूर्व सृजन के केन्द्र बिन्दु होते हैं। वे विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में घटने वाले महत्त्वपूर्ण नूतन परिवर्तनों का नेतृत्व करते हैं। उनके लिए उनका समुदाय एक ओर संभावनाओं का पुंज होता है, दूसरी ओर एक सीमा-बंधन होता है। जैसे प्राणी अपने परिवेश से नियंत्रित और उसे परिवर्तित करता है ऐसे ही कुशल नेता, प्रतिभावान् असामान्य व्यक्ति, अपने क्षेत्र और युग के समाज का दिग्दर्शन करता है। जो संभावनाएं सामुदायिक जनजीवन में धीरे-धीरे बनती पनपती हैं उनका अर्थ ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन और कार्यों में मूर्त्त हो उठता है। इतिहास की गतिविधि को समझने के लिए इन दोनों तत्त्वों के संबंध को समझना आवश्यक है। एक ओर जनजीवन की अव्यक्त सृजनशीलता, संस्कारबद्धता और अव्यक्त विकारशीलता; दूसरी ओर महापुरुष की व्यक्त सृजनशीलता, अपूर्व उद्भावना की शक्ति, तात्कालिक परिस्थिति को कठिनाइयों के बावजूद एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ देने की शक्ति। यह संबंध प्रतिभाशील और सामान्य व्यक्ति का अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति और समाज का उन दोनों को जोड़ने वाले अन्तःसूत्रों के द्वारा ही संभव है। सांस्कृतिक क्षेत्रों में विकास की प्रक्रिया देखने पर यह सत्य व्यक्त होगा। उदाहरण के लिए, यह ज्ञात होगा कि धर्मसूत्रों की रचनाएं अथवा हम्मूरबी की कानून-व्यवस्था एक जनजीवन के द्वारा उद्भावित प्रथाओं का विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिष्कृत और व्यवस्थित रूप थी । अनेक मालवादि रागों की उत्पत्ति इसी प्रकार से जानपदिक धुनों के परिष्कार के द्वारा हुई है । अनेक नृत्य और नाट्य के रूपों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार मानी जानी चाहिए । ग्रीस के प्रसिद्ध दुःखान्त नाट्यकारों की रचनाएं अथवा रामायण, महाभारत अथवा रामचरितमानस की सफलता, लोकप्रियता और चमत्कारिता उनमें लोकरुचि और प्रतिभा के अपूर्व मणि-कांचन संबंध से निष्पन्न हुई है । धर्मों के अभ्युदय के पीछे भी इसी प्रकार की प्रक्रिया देखी जा सकती है । ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध अथवा जैन धर्म विशिष्ट महापुरुषों के साथ संबद्ध होते हुए भी अपनी पूर्वभावी और समकालीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से ही अपने-अपने निश्चित रूप प्राप्त कर सके ।

राजनीतिक घटनाओं में व्यक्तियों का महत्त्व परम्परागत इतिहास में सदा ही माना जाता रहा है । नवीन इतिहासकार अवश्य इन घटनाओं के पीछे सामुदायिक वृत्तियों का स्थान निरूपित करने का प्रयत्न करते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक घटनाएं राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक वर्गों की व्यवस्था से नियंत्रित होती हैं । यह व्यवस्था सामाजिक हितों की और आग्रहों की एक सजीव परिभाषा प्रस्तुत करती है । इसमें बलवत्तम पक्ष राजसत्ता का संचालन करने में अन्ततः समर्थ होता है । कुशल व्यक्तियों की तात्कालिक सफलताओं अथवा विफलताओं से ही राज्यश्री का भाग्य-निर्णय पूरी तरह से नहीं होता है । राजनीतिक घटनाओं में नेता के पीछे एक संगठित पक्ष की शक्ति होती हैं और संगठन के पीछे एक स्वार्थों का समझौता या हितों की कल्पना । समूचा समाज इस प्रकार के दलों या वर्गों में विभक्त अथवा विभाज्य होता है । समाज की कानूनी व्यवस्था इन वर्गों और दलों, उनके स्वार्थों और हितों को जोड़ने वाली संधियां और तोड़ने वाली दरारें होती है । जैसे चतुर कारीगर अपनी सामग्री के निहित बलाबल के विचार पर अपनी रचना आधारित करता है ऐसे ही कुशल राजनीतिज्ञ अपने संगठित समाज के अन्दर से शक्ति का संग्रह करता है और उसकी रचना वहीं तक सफल और स्थायी होती है जहां तक वह समाज के प्रबलतम संकल्प का अनुसरण करती है ।

इस दृष्टि के दो पहलू हैं : एक तो यह है कि राजकीय सफलता का अंतिम आधार समाज के व्यवस्थित बलाबल पर निर्भर करता है : दूसरा यह कि उसका आधार समाज का वास्तविक हितसंकल्प है । बल सदा न्यायसंगत सहीं होता और न बल के सारे तत्व ही न्यायानुकूल होते हैं । निहित स्वार्थों के आधार पर दल-बंधन अथवा वर्ग-संगठन आम बात है । इस प्रकार के दलों और संगठनों के संघर्ष में विजय बलाबल सूचित करती है न कि समाज के वास्तविक हितों की विजय । मार्क्सवादी और अन्य भौतिकवादी यह मानते हैं कि समाज का सामान्य हित कोई अर्थ नहीं रखता । समस्त इतिहास संघर्षरत पृथक् पृथक् स्वार्थों का द्वन्द्व है जिसमें विजयी स्वार्थ ही समाज के हित के नाम से कहे जाते हैं और उनके अनुकूल व्यवस्था ही न्याय-व्वस्था बनती हैं । दूसरी ओर जनतांत्रिक उदारवादी इतिहासकार यह मानते हैं कि राज्य का अंतिम आधार समाज के वास्तविक हित का संकल्प है जो कि अव्यक्त रूप से जनचेतना में विद्यमान रहता है । राजनीतिक सफलता समाज की अन्तश्चेतना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को अभिव्यक्ति प्रदान करने में है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि तात्कालिक राजनीतिक सफलता संगठित दलों के बलाबल पर निर्भर करती है, यदि यह बलाबल उस समाज की अपने वास्तविक हित की धारणा के अनुकूल न हो तो वह टिकाऊ स्थिति नहीं हो सकती। एक ऐसी व्यवस्था जो कि समाज की न्यायबुद्धि के विरुद्ध है चिरकाल के लिए बनी नहीं रह सकती। यह बात दूसरी है कि समाज की जागरूक न्यायबुद्धि अभ्रान्त नहीं होती। किन्तु, यह स्मरणीय है कि जैसा रूसो ने कहा था कि जनता धोखा खा सकती है, बिगड़ नहीं सकती। इसका अर्थ यही है कि जनमानस जिसे न्याय समझता है उसे वह भ्रान्तिवश वैसा समझता हो। किन्तु वह जिसे न्याय समझता है उसका ही समर्थन करता है। मनुष्य की बुद्धि न्याय-पक्षपातिनी होती है भले ही वह अज्ञान से प्रवंचित हो। हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य की न्यायबुद्धि का, उसकी अपने हितों की कल्पना का विकास होता है। जैसा ग्रीन ने बताया है "सहज अधिकार" कोई एक स्थिर धारणा के विषय नहीं हैं। जब ऐतिहासिक क्रम में हित और न्याय की समाजस्वीकृत धारणा पलटती है तो वह एक व्यापक क्रांति का सूत्रपात करती है। इस आधारभूत न्यायबुद्धि या हितबुद्धि के ऊपर ही सामाजिक व्यवस्थाएं और उनके ऊपर राजनीतिक या कानूनी व्यवस्थाएं कायम रहती हैं। नींव के खिसकने पर बाकी इमारत का टूटना अवश्यंभावी बन जाता है। कुछ लोग यह जरूर कहते हैं कि सारे सामाजिक ढांचे की नींव दलबद्ध स्वार्थ है जो कि आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था से परिभाषित होता है और न्यायबुद्धि आदि इस नींव पर खड़ी की गई सामाजिक इमारत के आलंकारिक कलश और कंगूरे हैं। यह मत इस बात को नजरअंदाज कर देता है कि मानव–मन स्वभाव से सत्य और न्याय का पक्षपती है। वह स्वार्थों को भी हित और न्यायसम्मत मान कर ही अपने आप को और दूसरों को समझाता है। न्यायबुद्धि से अनुमत हितों के लिए और विवेकसम्मत मूल्यों के लिए वह अपने स्वार्थों को छोड़ने की क्षमता रखता है। यह मानव–स्वभाव के प्रति बड़ा भारी निराशावाद होगा यदि हम उसे स्वार्थ–गर्त्त से मुक्ति पाने का अधिकारी ही न समझें।

समाज को हमने संस्थाओं की व्यवस्था और संस्थाओं को समान मानवीय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए परस्परोपकारी संबंधों, व्यापारों और संप्रत्ययों की व्यवस्था माना है। उदाहरण के लिए, विद्यालय एक संस्था है जो कि विद्योन्नति-रूप समान प्रयोजन का साधन है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अध्यापक, छात्र, प्रशासन, संरक्षक आदि विभिन्न परस्परोपकारी भूमिकाओं को अदा करने वाले वर्ग नियत व्यापारों के संदर्भ में नियत रूप से सम्बद्ध होते हैं। समूची व्यवस्था को एक आदर्श प्रत्ययात्मक व्यवस्था भी कह सकते हैं—संरक्षकों से समर्थित और प्रशासकों से सहायता प्राप्त अध्यापकों का विद्योन्नति के लिए समन्वित प्रयास। ऐसी नाना संस्थाएं सम्बद्ध होकर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करती हैं। इस समुच्चित सामुदायिक मानस को ही एक प्रकार से प्रयोजनों, विचारों, भावों और संस्कारों की व्यवस्था कहा जा सकता है। इस विषयभूत अथवा वस्तुभूत मानस को समाज कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है जो कि व्यवहार में सम्बन्धप्रधान होता है । इसका एक अन्य संबद्ध पक्ष है और वह है अपने साध्यों और प्रयोजनों का सार्वभौमिक आधार पर मूल्यांकन। जहां सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मूल्य विशिष्ट समाज के आचार-व्यवहार से संबद्ध रहते हैं, कला, धर्म आदि मूल्य समाज में स्वीकृत होते हुए भी अपनी सार्वभौमिकता का दावा करते हैं । इस प्रकार के सार्वभौम मूल्यों का विश्व संस्कृति कहलाता है ।* व्यक्ति के सामूहिक परिवेश को हम दो भागों में बाँट सकते हैं : एक तो उसका औरों के साथ नियत व्यावहारिक सम्बन्ध जो कि अन्ततोगत्वा न्यायबुद्धि के सूत्र से बंधा रहता है । परिवेश का यह भाग समाज कहा जाता है । दूसरी ओर, सार्वभौमिक विचारों और मूल्यों का विश्व, जो संस्कृति कही जाती है । हम ऊपर कह चुके हैं कि साधारण व्यक्ति समाज और संस्कृति का अंधानुकरण करते हैं जबकि असामान्य व्यक्ति इनकी आंतरिक संभावनाओं के विकास में नेतृत्व करने हैं ।

जिस समय समाज की गति उसके सांस्कृतिक मूल्यों को चरितार्थ करने की दिशा में होती है, उस गति को प्रगति कहा जाता है । उदाहरण के लिए, जिन राजनीतिक आदर्शों का इंगलैंड में १६८८ में वरण किया गया था, उनकी प्रगति १८वीं १९वीं शताब्दियों में बराबर देखी जाती है जब कि जनतन्त्र का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक आधार पुष्ट होता है और स्वाधीनतर समाज का निर्माण होता है । अथवा, हम यह देख सकते हैं कि जिस प्रकार की जातीयता का स्वीकार योरोप की राजनीतिक चेतना ने आधुनिक युग के प्रारम्भ में किया उसका परवर्ती कई शताब्दियों तक निरन्तर अभ्युदय होता रहा । पश्चिमी योरोप के देशों में भौतिक और ज्ञानविज्ञान की उन्नति देख कर ही १८वीं शताब्दी में प्रगति की धारणा का

* संस्कृति प्रकृति का प्रतियोगी पद है । प्रकृति स्वभाव की अव्यक्त संभावना है, संस्कृति उसकी व्यक्त, रूपान्वित, परिष्कृत अवस्था है । प्रकृति उपादान है, संस्कृति उसका एक निर्माण है । मनुष्य अपने आपको जैसे और जो बनाता है वही उसकी संस्कृति के रूप में गिना जा सकता है । इस परिभाषा से विकृति भी संस्कृति हो जाएगी इसलिए यह कहना आवश्यक है कि निर्माण आदर्शानुरूप होना चाहिए । स्वाभाविक उपादान को मूल्यात्मक रूप अथवा आदर्श आकृति मिलनी चाहिए । इस प्रकार संस्कृति में मानवीय स्वभाव की आदर्श संभावनाओं का साधन अभिप्रेत है । आदर्शो या मूल्यों की अनुभूति अथवा कृति जिन रूपों में प्रतिबिम्बित होती है अथवा जिन संकेतों से संप्रेषित होती है वे अपने व्यवस्थित रूप में संस्कृति का कलेवर कहे जा सकते हैं । इस प्रकार मूल्यों के विश्व का अर्थ हो जाता है मूल्यानुभूति के परम्परागत सामाजिक संकेतों की व्यवस्था । यह मूल्य-विश्व अथवा संकृति न केवल वस्तु-विश्व अथवा प्रकृति के समान चेतनासापेक्ष है अपितु आत्मबोधसापेक्ष है क्योंकि सभी मूल्य-बोध आत्मसंबद्धता की प्रगति को पूर्वापेक्षित करता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया । १९वीं शताब्दी में जैव विकास की धारणा से इसकी पुष्टि हुई और विकास अथवा प्रगति का प्रत्यय इतिहासकारों के लिए एक प्रमाणभूत प्रत्यय बन गया । इसमें कोई संदेह नहीं है कि मूल्यों को चरितार्थ करने की ओर उपसर्पण को प्रगति अथवा विकास कहा जाना चाहिए । किन्तु, मूल्यों की कोई एक विश्वसनीय और विश्वजनीन व्याख्या नहीं है । जहां समाजों में मूल आदर्श ही भिन्न हैं वहां उनके बीच प्रगति का निर्धारण कैसे किया जाय ? क्या सब मूल्यों के आधारभूत कुछ ऐसे मूल्य हैं जो सार्वभौम और सनातन हैं ? यदि कुछ ऐसे मूल्य हैं तो वे विचार करने पर विशुद्ध नैतिक मूल्य ही दीख पड़ते हैं । सुरक्षा की खोज अवश्य एक विश्वजनीन खोज है किन्तु सुरक्षा को सांस्कृतिक मूल्य न कह कर विश्वजनीन सामाजिक प्रवृत्ति कहना ही अधिक उचित होगा । सर्वभौम नैतिक मूल्यों की सर्वोत्तम परिभाषा अशोक ने की है कि "सभी धर्म संयम और भावशुद्धि चाहते हैं ।" इस नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य-समाज में कोई प्रगति हुई है यह स्वीकार करना कठिन है । आधुनिक समाजों में सामान्य जनता के लिए अधिक सुरक्षा, प्राकृतिक पर्यावरण के ऊपर अधिक नियंत्रण, अधिक भौतिक समृद्धि, जनसाधारण में अधिक शिक्षा आदि मूल्यों की अवश्य ही प्रगति हुई है किन्तु अधिक तकनीकी शक्ति और बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान होने के बावजूद आधुनिक मनुष्य पहले ही तुलना में अधिक नैतिक अथवा सचमुच में मधिक सुखी हुआ है, यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता । इससे सिद्ध होता है कि प्रगति का प्रत्यय एक आपेक्षिक प्रत्यय है । जब हम किन्हीं विशेष सांस्कृतिक अथवा सामाजिक मूल्यों को स्वीकार कर लेते हैं तो हम अपनी उसी मूल्यनिष्ठा के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों को आंकते हैं । इसी से प्रगति की धारणा अभ्युदित होती है किन्तु, एक निरपेक्ष रूप से समस्त मानव-इतिहास को प्रगति के नियम का उपदर्शन मानना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता । विभिन्न स्थितियों में विभिन्न सीमित प्रगतियां दृष्टिगोचर होती हैं । किन्तु, एक सर्वसंग्राहक, सार्वकालिक, अनिवर्त्तनीय प्रगति इतिहास में नहीं देखी जा सकती ।

अब हम अपने भूल प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं कि इतिहास किसका होता है । इतिहास संस्कृति से अनुप्राणित समाज का होता है किन्तु उसकी घटनावली दो स्तरों पर होती है जिसमें एक दूसरे पर आरोपित रहती है । एक ओर जन-जीवन और जन-मानस में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे समाज की परम्परागत व्यवस्था में विक्रिया उत्पन्न होती रहती है । यह मानों सामाजिक सत्ता के क्षेत्र में 'thermo-dynamics' के दूसरे नियम का निरन्तर व्यापार है जिससे सभी संगठनों में विघटन होता रहता है । समाज और संस्कृति की स्थिरता या अनुवृत्ति अनुकृति और शिक्षा पर आधारित होती है । अवश्य ही शिक्षा की प्रक्रिया एक शिष्ट मान को प्रस्तुत कर पीढ़ी दर पीढ़ी अनुकृति में उत्पन्न होने वाली सहज विकृति को रोकने का प्रयत्न करती है । उदाहरण के लिए, भाषा के उच्चारण और शब्दों के प्रयोग में विभिन्न व्यक्तियों, जातीय और स्थानीय समुदायों के द्वारा निरन्तर अणु नवीनताओं का निवेश होता रहता है । इन नवीन प्रयोगों को भाषा की शिक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपप्रयोग अथवा भ्रष्ट प्रयोग मान कर निरन्तर बीनती रहती है ताकि भाषा की शुद्धता बनी रहे। इस प्रकार, एक ओर सहज विकृति की प्रक्रिया है, दूसरी ओर शैक्षणिक परम्परा संस्कृति को यथावत् बनाए रखने की चेष्टा रखती है जीवन के हर स्तर पर अनुकृति के अन्दर सादृश्य और वैसदृश्य, अनुवृत्ति और विकृति दोनों का समावेश होता है और शिक्षा का प्रयोजन होता है इस विकृति के तत्व को सीमित रखना। इन सहज अणुपरिवर्तनों के साथ-साथ एक और परिवर्तन, जिसे विकासात्मक कह सकते हैं, धीरे धीरे सामाजिक जीवन में प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, आबादी का बढ़ना, मानवीय उपयोग से प्राकृतिक परिवेश का बदलना, क्रमशः भौतिक साधनों का संचय, सामाजिक ज्ञान और अनुभव की समृद्धि, संप्रेषण और प्रशासन के द्वारा समाज में समन्वय और सामंजस्य का बढ़ना, व्यापार और प्रचार के द्वारा विभिन्न समुदायों का संपर्क में आना, इत्यादि निरन्तर व्यापारशील कारणों से प्रत्येक समाज का जीवन एक दीर्घकालिक विकास की प्रक्रिया में पड़ता है। यह अवश्य स्मरणीय है कि ये वैकासिक प्रक्रियाएं अव्याहत नहीं रहती। प्राकृतिक घटनाएं और परिवर्तन, युद्ध और आक्रमण आदि के प्रभाव से क्रमिक उपचय और वृद्धि, सामंजस्य और संश्लेषण की सामाजिक प्रक्रियाएं बहुधा विच्छिन्न होती रहती है। यदि आकस्मिक बाधाओं को छोड़ दिया जाय तो जन-जीवन के प्रवाह में अणुस्तरीय विकार और महत्स्तरीय विकास की प्रक्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं। समाज और संस्कृति आत्मविधारणात्मक और आत्मविकासनात्मक सत्ताएं हैं। यह स्मरणीय है कि जीव सत्ता की ये ही विशेषताएं हैं। जहां भौतिक सत्ता में निरन्तर च्युति, विपर्यय और बढ़ती हुई यदृच्छा (randomness) नजर आती है, जीव सत्ता आत्मविधारण के प्रयत्न में भौतिक सत्ता से जूझती है और इस संघर्ष के परिणामस्वरूप जीवन-विकास सम्पन्न होता है। जहां भौतिक स्तर पर नियम स्थिर रहते हैं पर सत्ताएं बेतरतीब बनती बिगड़ती है, जीव स्तर पर एक विकस्वर सार्थकता लक्ष्य होती है। सामाजिक सत्ता में यही प्रक्रिया एक वृहत्तर स्तर पर सम्मुख आती है। इस तरह समाज के प्रवाही जीवन में विकार और विकास की संश्लिष्ट प्रक्रिया देखी जा सकती है जो कि उस समाज की जीवन-प्रक्रिया के जड़ और चेतन पक्ष कहे जा सकते हैं।

मानवीय चेतना में प्राण का आत्मविधारणात्मक पक्ष ही नहीं बल्कि उसका सृजनात्मक पक्ष भी व्यक्त होता है। यह सृजन ही सांस्कृतिक इतिहास की मूल प्रक्रिया है। सृजन का क्या अर्थ है ? जैव स्तर पर सृजन अपनी अयथावत् पुनरावृत्ति या पुनर्जन्म होता हैं। यह कालिक विघटन के स्तर पर स्वानुवृत्ति की चेष्टा है। चेतना की सृजनात्मकता इससे परिभाषित नहीं होती किन्तु इससे यह अवश्य सूचित होता है कि चेतना का सृजन-व्यापार उसका सहज व्यापार है, यादृच्छिक कल्पना नहीं। सृजन को आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं। यह अभिव्यक्ति मानसिक स्तर पर आदर्श-बोध या मूल्यबोध के रूप में होती है और व्यवहार के स्तर पर आदर्शों को चरितार्थ करने के प्रयत्न में। सांस्कृतिक परम्परा मूल्यों के उन्मेष, उनके अनुचिन्तनात्मक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परामर्श, उनके संप्रेषण एवं तदुपयोगी संकेतों कीं रचना, उनकी साधना के लिये अपेक्षित संस्थाओं का निर्माण आदि से बनती और बढ़ती है। इस प्रक्रिया में प्रतिभावान् महापुरुष ही पथप्रदर्शक और तीर्थंकर बनते हैं। संस्कृति मानो मूल्यों के प्रत्यक्षीकरण, कल्पना और प्रयोग की स्वान्वीक्षी और द्वन्द्वात्मक परम्परा है जिसमें मनुष्य अपनी सम्भावनाओं की उपलब्धि और उपलब्धियों की परीक्षा करता है। समाज के प्रवाहात्मक स्तर के ऊपर संस्कृति का सृजनात्मक स्तर आरोपित रहता है। इन दोनों के संश्लेषण से ऐतिहासिक प्रक्रिया निष्पन्न होती है। स्पष्ट ही ऐतिहासिक प्रक्रिया का अधिष्ठान एक विशिष्ट संस्कृति से अनुप्राणित समाज होता है। इस प्रकार के समाज को टायनबी सभ्यता कहते हैं। उनका यह कहना सर्वथा सही माना जा सकता है कि इतिहास सभ्यताओं का होता है। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि इतिहास सामाजिक स्तर पर अस्तित्व का अनुरक्षण और सांस्कृतिक स्तर पर आत्मानुसन्धान की संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका आश्रय अथवा अधिष्ठान सभ्यता अथवा संस्कृति-सम्पन्न समाज है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३

व्याख्या के दृष्टिकोण : आदर्शवादी

इतिहास की घटनाओं में एक युक्तिसंगत अर्थ देखने के जितने प्रयास हुए हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रयास हेगेल का है। हेगेल इतिहास–प्रवाह में परिवर्तन-मात्र न देख कर एक क्रमिक विकास देखते हैं। जो लोग अब हेगेल से एकमत नहीं हैं, वे भी इस बात से प्रायः असहमत नहीं हैं कि इतिहास की घटनाओं में बढ़ने की, विकसित होने की प्रक्रिया सारभूत होती है। हेगेल के अनुसार यह विकास एक क्रम से होता है और वह क्रम द्वन्द्वात्मक है। विकास-क्रम की द्वन्द्वात्मकता उसके युक्ति-संगत होने का हो परिणाम है क्योंकि ज्ञान का विकास सहज रूप से एक द्वन्द्वात्मक क्रम का अनुसरण करता है। ज्ञान में अपने सत्य के प्रति एक जागरूकता निरन्तर बनी रहती है और वह पहले जिस पक्ष को स्वीकारता है फिर उसे परखने के लिए उसके विपक्ष की ओर मुड़ता है और अन्ततः पक्ष और विपक्ष दोनों की एकांगिता को समझ उनके समन्वय की उद्भावना करता है। विशुद्ध विचार के क्षेत्र में सहज रूप से उपलब्ध होने वाली यह द्वन्द्वात्मकता मानवीय इतिहास के स्थूल स्तर पर भी एक अन्तर्नियामक के रूप में उपलब्ध होती है। राजनीतिक संघर्षों के पीछे राजनीतिक निष्ठाएं होती हैं और उनके अनुयायियों का संघर्ष मानों निष्ठाओं के सूक्ष्म संघर्ष का स्थूल प्रतिबिम्ब होता है।

हेगेल की दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया एक तर्कसंगत द्वन्द्वात्मकता के क्रम का अनुसरण करते हुए विकास की प्रक्रिया है। हेगेल का सबसे अधिक जोर इतिहास की युक्तिसंगत सार्थकता पर है। इतिहास का अधिष्ठान मानस है जिसका सारांश बुद्धि है। बुद्धि-मानस आत्मज्ञान की ओर उद्दिष्ट होता है क्योंकि वही ज्ञान का सर्वोच्च प्रत्यय है। यही आत्मज्ञान की ओर यात्रा जब देश-काल में सम्पन्न होती है तो इतिहास का रूप धारण करती है। सम्पूर्ण इतिहास को एक आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा कहा जा सकता है 'आत्मा से आत्मा तक'।

हेगेल अपने इतिहास-विचार को इतिहास-दर्शन कहता है। इतिहास-दर्शन इतिहास के 'विवेकपूर्ण विचार' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विवेक मनुष्य का विशिष्ट स्वभाव है। उसके संवेदन और भाव, ज्ञान और संकल्प, सभी अपनी विशिष्ट मानवीयता में विवेकयुक्त होते हैं। तथापि इतिहास को विवेक से जोड़ना आपाततः असन्तोषजनक प्रतीत होता है क्योंकि इतिहास में तथ्यों की प्रधानता होती है और विचार उनके अधीन। दर्शन में इसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उलटा है क्योंकि वहां विचार अपने अस्तित्वनिरपेक्ष स्वाराज्य में विचरण करते हैं। अतएव इतिहास के दर्शन में सदा इसका भय रहेगा कि कहीं वह इतिहास के तथ्यों को प्राक्कल्पनाओं के अनुसार तोड़ मरोड़ न करें। किन्तु यह भय वस्तुतः निराधार है क्योंकि दर्शन इतिहास के पास एक ही पूर्व कल्पना लेकर आता है और वह है बुद्धि या विवेक की। वह यह मान कर चलता है कि "बुद्धि विश्व का शासन करती है, अतएव विश्व का इतिहास एक बुद्धिसंगत प्रक्रिया है।" दर्शन में यह विश्वास, कि बुद्धि ही परम तत्व है और विश्व उसकी अभिव्यक्ति, एक तर्क-प्रतिपाद्य धारणा है। ऐतिहासिक ज्ञान के संदर्भ में यह दार्शनिक प्रतिपत्ति एक प्रकार की परिकल्पना बन जाती है जिसके सहारे इतिहास के तथ्य परखे जाते हैं। जो इतिहासकार अपने को कल्पनोपेक्षी और 'निष्पक्ष' कहते हैं और यह मानते हैं कि वे तथ्य मात्र का यथावत् प्रतिबिम्बन करते हैं, वे भी अपनी बुद्धि का सक्रिय प्रयोग करते ही हैं। वे भी अपने समक्ष प्रस्तुत प्रतिभासों को समझने के लिये अपने बुद्धिविकल्पों को प्रयुक्त करते हैं। सभी विद्याओं के अपने 'पदार्थ', अपनी मूल कल्पनाएं होती हैं और यह असम्भव है कि बौद्धिक दृष्टि के बिना किसी विद्या का विकास हो सके। "बौद्धिक दृष्टि से विश्व को देखने से विश्व भी बुद्धिसंगत दीखता है।"

विश्व को बुद्धि-शासित मानने की दो पुरानी धारणाएं उदाहरण के लिये प्रस्तुत की जा सकती हैं। यह प्रसिद्ध है कि अनाक्सागोरस ने कहा था कि "बुद्धि (नूस) विश्व का शासन करती है।" यहां बुद्धि का अर्थ चैतन्य नहीं है, अपितु बौद्धिक ज्ञान की उपयुक्त विषयता है। सौर परिवार में ग्रह नित्य नियमों के अनुसार चलते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था या 'धर्मता' को अव्यक्त बुद्धि कहा जा सकता है क्योंकि उसके स्वरूप को बुद्धि-विषय के रूप में ही सोचा जा सकता है* । सुकरात का कहना था कि उन्होंने

* हेगेल के अनुसार ज्ञान और उसका विषय एक ही अन्तर्विभक्त वस्तु के दो पक्ष हैं। जैसा बौद्ध विज्ञानवादी मानते हैं, हेगेल के लिये भी विषय-विषयि-भाव या ग्राह्य-ग्राहक-भाव ज्ञान का ही आन्तरिक प्रभेद है; ज्ञान दो निरपेक्ष पदार्थों का संबंध नहीं है। ज्ञान के आविर्भाव में विषयी के रूप में वही तत्व अपने आप को विषय के अन्दर पहिचानता है। इसीलिये कोई स्वरूपतः अज्ञेय विषय अथवा बुद्धि-विसंगत ज्ञेय नहीं होता। अज्ञेयता अथवा विसंगति की प्रतीति बुद्धि के लिये एक चुनौती होती है जिसका वह सक्रिय रूप से विरोध करती है, और इसी चेष्टा में विषयमात्र को आत्मसात् करने की चेष्टा में ज्ञान की प्रगति होती है। यह स्मरणीय है कि कान्ट ने वस्तु को अज्ञेय और ज्ञेय मात्र को कल्पनासापेक्ष प्रतिभास बताया था। विषय के प्रतिभासमान अंश और उसके अप्रतिभासमान बाह्य हेतु के द्वैत का खण्डन करके हेगेल ने अपने 'विज्ञानवाद' का प्रतिपादन किया था। उसका कहना था कि 'अज्ञेय विषय' भी एक कल्पनामात्र हैं। विषय जो कुछ हो वह उसके ज्ञान में अर्पित होता है क्योंकि विषय और ज्ञान एक दूसरे के बहिर्भूत नहीं हैं। 'अविषय' अर्थ की किसी भी प्रकार से चर्चा सम्भव नहीं है। 'अविषयता' पद का प्रयोग भी अपने विषय का आक्षेप करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनाक्सागोरस के मत को इस आशा से सोत्साह स्वीकार किया कि वह उन्हें समस्त प्रकृति में बुद्धि-संगति दिखलाएगा किन्तु उन्हें इससे निराशा हुई कि अनाक्सागोरस ने प्रकृति को समझाने के लिये भौतिक तत्वों जैसे बाहरी कारणों का ही उल्लेख किया। वस्तुतः अनाक्सागोरस ने प्रकृति की बुद्धिसंगतता को सामान्यतः ही समझा था। उनका ज्ञान प्रकृति को बुद्धि के साथ विस्तार से नहीं जोड़ सकता था।

मध्यकाल में इतिहास की ईश्वराधीनता के रूप में उस पर बुद्धि के शासन का स्वीकार था। किन्तु इस मत में भी वही दोष है जो पिछले में। ईश्वरेच्छा अतर्क्य और अज्ञात रहती है और उसका विशिष्ट घटनावली से कोई बुद्धिगम्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। बल्कि जहां अनाक्सागोरस अपने सामान्य तत्त्व में उसकी अतिसामान्यता के कारण ऐतिहासिक विशेषों का अन्तर्भाव नहीं कर पाया, ईश्वरेच्छावाद में ऐसा कर सकना ही असंभव है क्योंकि ईश्वरेच्छा को मानवीय बुद्धि के परे माना जाता था। किन्तु यदि हम इतिहास को बुद्धितत्व पर अथवा ईश्वरीय बुद्धि पर आश्रित मानते हैं तो हमारी बुद्धि का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मानवीय इतिहास में बुद्धि की प्रेरणा और चमत्कार देखें। इस दृष्टि से इतिहास-दर्शन ईश्वरीयन्याय का दर्शन हो जाता है। इसके लिये एक ओर यह जानना आवश्यक है कि विश्व का परम साध्य क्या है, दूसरी ओर यह कि इतिहास में यह साध्य कहां तक सिद्ध हुआ और अनर्थ को परास्त कर सका है।

भौतिक प्रकृति के महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इतिहास आध्यात्मिक सत्ता से ही मूलतः और मुख्यतः संलग्न है। आध्यात्मिक सत्ता को आधिभौतिक सत्ता से व्यावृत्त कर ठीक तरह समझा जा सकता है। भौतिकता का सार उसके गुरुत्व में होता है, आध्यात्मिकता का तत्व उसकी स्वाधीनता में है। स्वाधीनता ही आत्मा का एकमात्र सत्य है। भूतसत्ता गुरु इस कारण होती है कि वह एक केन्द्र की ओर खिंचती है। वह अनेकात्मक है और उसके अवयव एक दूसरे के बाह्य होते हैं किन्तु वह केन्द्रबिंदु की ओर समाना चाहती है। एकात्मता उसका साध्य भाव है, आदर्श है। इसके विपरीत आत्मसत्ता स्वकेन्द्रित है। इसकी एकता उसके बाहर नहीं है बल्कि उसके अन्दर हैं। भूतसत्ता का तत्व उसके बाहर रहता है। आत्मसत्ता अपने में सम्पूर्ण होती है। यह स्वात्मविश्रान्ति ही स्वतन्त्रता है। चैतन्य में दो अंश रहते हैं—ज्ञान का विषयी और ज्ञान का विषय। आत्मज्ञान में ये दोनों एक हो जाते हैं, जिसे सम्भावना और यथार्थ का ऐक्य भी कह सकते हैं। इस दृष्टि से विश्व-इतिहास को आत्मा का उस प्रक्रिया में उपदर्शन कह सकते है जिसमें वह अपने सामान्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करती है।

पूर्व के देशों में मानवीय आत्मा की सहज स्वतन्त्रता का बोध नहीं था। वे एक व्यक्ति को ही स्वतन्त्र मानते थे और इस धारणा से एकतन्त्र व्यवस्था में फंसे रहे। यूनानियों ने स्वतन्त्रता का पहले पहल परिचय पाया। किन्तु वे भी सिर्फ कुछ को स्वतन्त्र मानते थे। ईसाई धर्म से प्रभावित जर्मन जातियों ने सबसे पहले मनुष्य की स्वाभाविक स्वतन्त्रता का बोध पाया, पहले धर्म में और फिर जीवन के अन्य क्षेत्रों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में। इतिहास को इस स्वतन्त्रता के बोध का इतिहास कहा जा सकता है। आध्यात्मिक विश्व की नियति, विश्व के परिवर्तनों का चरम साध्य और प्रयोजन, आत्मा का यह स्वतन्त्रता-बोध ही है।

आत्मा अपनी स्वरूपसिद्ध स्वतन्त्रता को किन साधनों से साधती है, इस पर विचार करने से एक विरोधाभास सामने आता है। मनुष्यों के कर्म उनकी अपेक्षाओं, आवेगों, वासनाओं और धारणाओं से उत्पन्न होते हैं। स्वार्थ ही मनुष्य के कर्मों का स्रोत प्रतीत होता है। मनीषी अल्पसंख्यक होते हैं, सामान्य जन बहुसंख्यक और वे अपने स्वार्थों से कर्म में प्रवृत्त होते हैं। स्वार्थ-प्रेरणा की प्रबलता इस बात में होती है कि वह न्याय और नैतिकता के बन्धनों का आदर नहीं करती। सहज आवेग सब शिक्षा और संयम के बाँधों को बहा ले जाते है। इन वासनाओं और उनके वेग को देखने से लगता है कि इतिहास का संचालन बुद्धि नहीं अबुद्धि करती है। विवेकी और नैतिक व्यक्तियों ने जो दुःख और अपमान सहे हैं उन्हें सोचने से मन में ऐतिहासिक जीवन के प्रति तीव्र विरोध उत्पन्न होता है। किन्तु वास्तव में यह एक अदूरदर्शी विचार की दृष्टि है। किसी भी कार्य के सम्पादन के लिये निरा विचार कितना भी न्यायसंगत हो,पर्याप्त नहीं है। इसके लिए संकल्प,संलग्नता,आन्तरिक वेग और निष्ठा की आवश्यकता है। मनुष्य के मन में साध्य के प्रति इतना लगाव उसमें स्वार्थ की प्रेरणा से बखूबी और अनायास उत्पन्न हो जाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति स्वार्थ की प्रेरणा से कार्य करते हैं, वे एक लक्ष्यभूत विषय के लिए प्रयत्न करते हैं और उनका यह विषयाभिमुख्य अर्थोन्मुख होता है, न कि स्वोन्मुख। कोई भी बड़ी बात बिना स्वार्थ के सिद्ध नहीं हुई है और यदि स्वार्थ को समूचे व्यक्तित्व का एक बिन्दु पर आवेग समझें तो बिना आवेग के कोई बड़ी बात सिद्ध नहीं हुई है। विचार और मानव आवेग विश्व-इतिहास के तानेबाने हैं, उनका संयोग और समन्वय स्वच्छन्दता है। स्वच्छन्दता का ऐतिहासिक प्रयास कोरा आदर्शवाद नहीं होता है। आदर्श की कोरी भावना में भी एक यथार्थता होती है। वह मानों एक मनोगत बीज है जिसे यथार्थ की भूमि में बोना आवश्यक होता है। लोग अपने आवेगों के अन्तराल से आदर्शों को खोजते हैं। इस प्रक्रिया में आदर्श यथार्थ बनते हैं और यथार्थ आदर्श। स्वार्थानुसन्धान में मनुष्य को अपने को भी समझाना पड़ता है, दूसरों को भी। दूसरों का सहयोग प्राप्त करने के लिये उसे साधारण लक्ष्यों और न्याय की दुहाई देनी होती है। संगठन नितान्त स्वार्थ को एक सामुदायिक हित की भावना के अधीन कर देता है। जीवन और स्वत्व की सुरक्षा सहज रूप से व्यक्तिगत स्वार्थ और साधारण लक्ष्य बन जाते हैं। व्यक्तियों के स्वार्थ, आवेग और संकल्प समाज के इतिहास के साधन हैं क्योंकि उन्हीं के माध्यम से सामान्य चेतना और हित विकसित होते हैं। जैसे कामावेग कुटुम्ब की रचना का तत्व बन जाता है, लोभ उत्पादन में अधिक परिश्रम और कौशल के अर्जन का सहायक बन जाता है, ऐसे ही नाना व्यक्तिगत आवेग और संकल्प अपने साक्षात् अभीष्ट से बृहत्तर साध्यों को अनजाने में आगे बढ़ाते हैं। मनुष्य की सामाजिक स्थिति, सहज न्याय-बुद्धि, ज्ञान की अव्यक्त प्रेरणा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभी उसके स्वार्थानुसंधान को क्रमशः रूपान्तरित करते हैं। उसके कार्यों के परिणाम वे ही नहीं होते, जो वह चाहता है। यही 'विवेक की चातुरी' है कि वह अपनी सिद्धि के लिये मनुष्य के स्वार्थों एवं आवेगों को भी प्रच्छन्न रूप में साधन बना लेता है। "व्यक्तियों और समुदायों की प्राण-चेष्टाएं अपने अपने प्रयोजनों को खोजती हुई अनजाने उदात्ततर और बृहत्तर प्रयोजनों को सिद्ध करने की साधन बन जाती हैं।"

संकल्प के प्रयोजन में जहां तक स्वार्थ और आदर्श का समन्वय होता है वहां तक वह स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र संकल्प में चेतना अपने आप को ही संकल्पित करती है। वह अपने लक्ष्य को अपने स्वरूप के अनुकूल निर्धारित करती है। स्वतंत्रता नियन्त्रण का अभाव नहीं है बल्कि आन्तरिक नियम की उपलब्धि है। राग-तत्व और बुद्धि-तत्व के सामंजस्य से ही यथार्थ स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जिस समाज में व्यक्तियों की प्रवृत्तियां समाज के नियमों को आदर्श के रूप में स्वीकार करती हैं, वहां स्वतन्त्रता की यथार्थ में उपलब्धि होती है। कोरा नैतिक आदर्श अतिसामान्य होता है और यथार्थ लक्ष्यों को अपने अन्दर से खोज नहीं पाता। कोरा कानून एक बाध्यता-मात्र होता है जो कि चेतना को बाध्य विवशता प्रतीत होती है। उसमें विशिष्ट विधि-निषेध दिये रहते हैं किन्तु उनमें व्याप्त न्यायबुद्धि का साक्षात्कार नहीं होता। कोरी नैतिकता या कोरी न्यायबुद्धि उतनी ही अपर्याप्त होती है जितनी कोरी कानून-व्यवस्था और उसके विधि-निषेध। सहज सामाजिक संस्थाओं के रूप में ही नैतिकता और नियम में व्यक्त लक्ष्यों का समन्वय मिलता है। इसी से संस्थाओं के सदस्य के रूप में मनुष्य एक ऐसे नियम को प्राप्त करता है जिसे वह अपना समझता है। उसके स्वार्थ यहां एक आदर्श के साथ मिलजुल कर चरितार्थ होते हैं। संस्थाओं का विकास मनुष्य की प्रवृत्तियों का आदर्शीकरण और उसके बुद्धिगत आदर्शों का यथार्थीकरण है। संस्थाओं के विकास का सर्वोच्च बिन्दु राज्य है। राज्य में स्वतन्त्रता एक व्यवस्था के रूप में व्यक्त हो जाती है और उसके अनुसरण से व्यक्ति अपने सर्वोच्च आदर्शों का अनुसरण करता है। राज्य को चरितार्थ-स्वातन्त्र्य अथवा नैतिक प्राणी कहा जा सकता है और राज्य ही इतिहास का मुख्य अधिष्ठान है। वह नैतिकता और कानून, समाज और संस्कृति सभी का उपजीव्य है।

विभिन्न ऐतिहासिक राज्य राज्य के आदर्श को चरितार्थ करने की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाएं हैं। राष्ट्र की आधुनिक धारणा में भावनात्मक तादात्म्य और सामूहिक हित, दोनों समन्वित रूप में मिलते हैं। राष्ट्रीय राज्य, जिसमें सब व्यक्तियों को समानरूप से स्वतन्त्रता का अधिकार होता है, राज्य के विकास का सर्वोच्च रूप है।

अव्यक्त बुद्धि से संचालित आवेगों और स्वार्थों के अनुसन्धान में मनुष्य समाज बनाता है और समाज राज्य के रूप में उसकी अर्न्तनिहित स्वतन्त्रता को उसके समक्ष एक वस्तुसत्ता के रूप में रखता है। राज्य-रक्षित समाज में कला, धर्म आदि अन्य सांस्कृतिक रूपों में मनुष्य अपने पारमार्थिक स्वरूप को खोजता है। यह सारी खोज अन्ततः मनुष्य के आत्म सत्ता के निर्धारण पर आश्रित होती है, उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रम से ही विकसित होती है। जो बात दर्शन में बुद्धि अकालिक रूप से प्रत्यक्ष करती है, वह इतिहास में काल-क्रम से मूर्त होती है। इसका निरूपण ही इतिहास-दर्शन है।

अधिकांश इतिहासकार एक जीवित दायरे के अन्दर तथ्यों की छानबीन करते रहते हैं। वे अपने इतिहास-निरूपणों को मानवीय जीवन, विचारों और मूल्यों के बृहत्तर संदर्भ में एक अर्थपूर्ण विवरण के रूप में नहीं रख पाते हैं। दूसरी ओर दार्शनिक, विचारक, कला, धर्म आदि के अन्वेषक, जो मनुष्य की अर्थ-पर्येषणा की मीमांसा करते हैं, वे उसकी उपलब्धियों को मनुष्य के ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में बोधगम्य रूप से नहीं रख पाते हैं। मानव जीवन को ठीक तरह से समझने के लिए एक ओर उसके अन्तर्निहित विचारों और आदर्शों को समझना आवश्यक है, दूसरी ओर उसकी बदलती हुई परिस्थितियों को, उसके यथार्थ के दबावों को समझना आवश्यक है। हेगेल में इन दोनों पक्षों का, जिन्हें तथ्यात्मक और विचारात्मक, ऐतिहासिक और दार्शनिक कह सकते है, एक अपूर्व समन्वय मिलता है। हेगेल के पहले न किसी दार्शनिक को इतना इतिहास का ज्ञान था, न किसी इतिहासकार को इतने दर्शन का ज्ञान। हेगेल धर्म, दर्शन, कला, नैतिकता, कानून, सामाजिक संस्थाएं, राजनीतिक व्यवस्थाएं—इन सबको उतनी ही बारीक समझ से परखते हैं जिससे वे विशुद्ध तर्क, मनोविज्ञान, अध्यात्मविद्या को। वे विचारों को सत्ता के संदर्भ में और सत्ता को विचारों के संदर्भ में रख कर दोनों को ही मूलभूत मानवीय पर्येषणा के बढ़ते हुए चरणों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके निरूपित इतिहास में बहुत सी कमियां और त्रुटियां संभव हैं और सबसे बड़ी यह कि वे स्वयं अपनी दृष्टि को इतिहास की अंतिम दृष्टि के समान मान लेते हैं, किन्तु उनके इतिहासदर्शन का उद्देश्य अवश्य ही श्लाघनीय है। हम सभी चाहते हैं कि इतिहास में युक्तियुक्तता को देख सकें, उसको एक सार्थकता के सूत्र में पिरो सकें और मनुष्य की आदर्श खोज की ओर इतिहास को विमुख अथवा तटस्थ मानने के विचार को दूर रख सकें। इस प्रकार के प्रतिपादनों में हेगेल का सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हेगेल के परवर्ती विचारकों में, जिन्होंने उसका विरोध किया है वे भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं।

हेगेल की यह मूलभूत मान्यता है कि यथार्थता और युक्तियुक्तता एक ही बात है। ज्ञान और वास्तविकता एक दूसरे की ओर निरपेक्ष नहीं हैं। यह साधारण विश्वास, कि वास्तविकता एक भौतिक प्रकृति के रूप में एक बाह्य सत्ता है और ज्ञान मन के अन्दर उसका एक अधूरा प्रतिबिम्ब है जिसकी उत्पत्ति और सत्य बाहरी वस्तु-जगत् के कार्य-कारण-व्यापार पर निर्भर करता है, प्रचलित होते हुए भी नासमझदारी और अज्ञान का परिणाम है। प्रकृति और सत्ता, अन्दर और बाहर का भेद, कार्य-कारणभाव—यह सब ज्ञान के बाहर के स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं हैं बल्कि ज्ञान की ही कल्पनाएं हैं। ज्ञान में अप्रामाणिक और प्रामाणिक का भेद उसके अपने अन्दर के अधूरेपन और विसगति के आधार पर तय होता है। वास्तविक और अवास्तविक का भेद प्रामाणिक और अप्रामाणिक ज्ञान के आधार पर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसीलिए हेगेल का कहना है कि जब किसी विषय में बुद्धिगम्य संगति न प्रतीत हो तो हमें यह मानना चाहिए कि वह विषय अभी पूरी तरह सच्चा नहीं है और उसकी अवास्तविकता का बोध ज्ञान को वास्तविकता की ओर बढ़ने की प्रेरणा है। सामान्य लोग जब अपने विचारों को यथार्थ के अनुरूप नहीं पाते तो विचारों को दोषी ठहराते हैं। वे अपनी बुद्धि पर भरोसा न कर अपनी इन्द्रियों की सूचना पर भरोसा करते हैं। ऐसे लोग सदा ही यह मानते रहेंगे कि सूर्य और चन्द्रमा चलते फिरते छोटे छोटे गोले हैं। जैसे जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है वह प्रत्यक्ष-प्रतीतियों को बुद्धि के द्वारा सुधारता है। वह अप्रत्यक्ष बुद्धिगोचर नियमों से प्रत्यक्ष जगत् को समझता और बदलता है। मूल्य-ज्ञान के क्षेत्र में यह और भी स्पष्टता से देखा जा सकता है। हम अपने नैतिक विश्वासों के अनुसार सामाजिक यथार्थ को बदल देना चाहते हैं, अपने कलात्मक आदर्शों के अनुसार नई रचना करते हैं, अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार जीवन का उत्सर्ग करने के लिये तैयार रहते हैं। जब यथार्थ और आदर्श में भेद प्रतीत होता है तो विवेकी पुरुष आदर्शों को न छोड़ कर यथार्थ को दोषी और एक गहरे अर्थ में अवास्तविक मानता है। उसकी प्रेरणा होती है उस अपारमार्थिक यथार्थ को आदर्श के अनुसार फिर से गढ़ने की।

हेगेल के इस बुद्धिवाद, विज्ञानवाद और आदर्शवाद में यह अन्तर निहित है है कि सत्ता, ज्ञान और मूल्य तीनों एक ही आत्म-ज्ञान रूपी अखंड परमार्थ के अन्तर्गत विभेद हैं। सत्ता उसका विषयपक्ष है, ज्ञान उसका विषयीपक्ष है और मूल्य उसके तादात्म्य की पहचान है। जिस समय विषयी विषय के रूप में अपने को पहचानता है, वही उसकी मूल्यबोध अथवा स्वतन्त्रताबोध की अवस्था है। सत्ता ज्ञान की विषयता है, मूल्य उसका आत्मपरिज्ञान। सभी खंड-ज्ञान अखंड और अनन्त आत्मज्ञान की अभिव्यक्तियां है। इसीलिये सभी खंड-ज्ञानों में अपने अधूरेपन का एहसास अंकित रहता है और उसे उत्तीर्ण करने की प्रेरणा रहती है। यही आत्मज्ञान की प्रेरणा है अथवा ज्ञान की स्वात्मसम्पूर्णता की ओर प्रेरणा है। इसीलिये ज्ञान सदा आत्मनिषेध के द्वारा अपनी अखंडता या सीमितता को दूर करना चाहता है। निषेध को हेगल ने यथार्थ का हृदय कहा। ज्ञान के अन्दर यह निषेध की प्रक्रिया ही उसकी तार्किक द्वन्द्वात्मकता है। शुद्ध विचार के प्रतियोगी के रूप में शुद्ध सत्ता का उदय इसी द्वन्द्वात्मकता का व्यापार है। इसी कारण प्रकृति की जड़ता आवश्यक रूप से चेतन मन की अपेक्षा करती है और सभी खंड सत्ताएं नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य की आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति के अन्दर अव्यक्त और अखंड आत्मज्ञान का अनिवार्य आकर्षण है। विश्व और उसका इतिहास आत्मज्ञान का ही विवर्त है।

विचारगम्य तत्त्वात्मकता (ideality) और क्रियात्मक वर्तमानता (actuality) को हेगेल सत्य या परमार्थ (reality) के दो अधूरे पक्ष मानते हैं। इन दो पक्षों का समन्वय तत्त्व को यथार्थता और यथार्थ को तात्त्विकता प्रदान करता है। यह समन्वय ज्ञान में ही होता है और जिस अंश में यह सम्पन्न होता है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसी अंश में ज्ञान पूर्ण होता है । तार्किक विकास, प्राकृतिक विकास और ऐतिहासिक विकास क्रमशः तत्व, यथार्थ और सत्य के स्तर पर सम्पन्न होते हैं । मानवीय अनुभूति में ही सत्य की सिद्धि होती है और यह उसी क्रम मे होती है जो क्रम सामान्याकारिक रूप में विशुद्ध तर्क उपलब्ध करता है ।

हेगेल की इतिहास की व्याख्या स्पष्ट ही उसकी विश्व की दार्शनिक व्याख्या पर आधारित है । हेगेल की बुद्धिवादी, विज्ञानवादी, आदर्शवादी धारणाओं को स्वीकार करना एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करना है । इतिहासकार के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशेष दर्शन का अनुसरण करे किन्तु क्या मानव जीवन या इतिहास की व्याख्या बिना किसी भी दर्शन को स्वीकार किए संभव है । साधारण तौर से इतिहासकार जिस लोकसिद्ध व्यवहारबुद्धि को अपनाते हैं वह अपने युगदर्शन से अप्रभावित नहीं होते । मध्यकाल में प्रत्यक्ष का विश्वास धार्मिक श्रद्धा के अविरोधी रूप से स्वीकार किया जाता था । ईसा मसीह के अनुयायियों ने आंखों देखा हाल लिखने में चमत्कारों का वर्णन किया है । मध्यकालीन इतिहासकार इस साक्ष्य को सत्य के रूप में स्वीकार करते थे और उन्हें उनमें कोई दार्शनिक दुराग्रह नहीं दीखता था । आजकल का सामान्य प्रत्यक्षवादी विचारक भौतिक विज्ञान की दृष्टि का अनुसरण करता है और इस तरह के विवरण को प्रत्यक्षमूलक न मान कर श्रद्धामूलक मानता है । जो एक के लिए प्रत्यक्ष है वह दूसरे के लिए कल्पना है क्योंकि क्या सम्भव है क्या असम्भव, इस धारणा में मौलिक भेद हुआ है । सामाजिक और राजनीतिक दृष्टियों के प्रति अधिकांश इतिहासकार कभी भी तटस्थ नहीं रहे हैं । व्यक्तिवादी, समाजवादी, साम्यवादी एवं अन्य मतावलम्बी इतिहास की घटनाओं का चयन और अनुव्याख्यान विभिन्न रूप से करते हैं और इस भेद का मूल उनका दृष्टिभेद है । भले ही हम हेगेल के अत्यन्त साहसिक दार्शनिक अभियान के सहयात्री न बनना चाहें किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि हम अपनी ऐतिहासिक व्याख्यायों में भी किसी न किसी दार्शनिक अभियान की छिटफुट और प्रचलित उपलब्धियों का सहारा लेकर ही आगे बढ़ पाते हैं ।

स्वयं हेगेल का कहना है कि इतिहासकार के लिए इतना ही अभ्युपगम पर्याप्त है कि इतिहास की घटनाओं में बुद्धिगोचर सार्थकता है । जहां तक इतिहास एक विद्या है, इस प्रकार के अभ्युपगम को नकारा नहीं जा सकता । यह बात दूसरी है कि हम अपने ज्ञानभेद से सार्थकता को कैसे परिभाषित करते हैं । जो इतिहास को प्रकृति-राज्य के ही अन्तर्गत मानते हैं, वे उसमें कार्य-कारण-भाव को ही सार्थकता का पर्याप्त सूत्र समझते हैं । किन्तु, उन्हें यह मानना पड़ता है कि न तो अपने समूचेपन में इतिहास का कोई नियत विश्व है, न उसकी कोई अपनी विशिष्ट प्रक्रिया । किसी भी इतिहासकार के लिए यह स्वीकार करना कठिन होगा । उसे हेगेल की दो और बातों को मानने से कोई हिचक नहीं होनी चाहिये—१. कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का वैशिष्ट्य उसके विकासात्मक होने में है, २. इस विकास को समझने के लिए उसमें मानवीय विचारों के द्वारा अदा की गई भूमिका को समझना अत्यन्त आव-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्यक है। जिस समय हेगेल ने विकास के तत्व पर जोर दिया था उस समय प्राणि-विकास का सिद्धांत अभी अविदित था। डार्विन से बाद के युग में प्राकृतिक विकास के विज्ञान-सम्मत होने के कारण प्रत्यक्षवादी इतिहासकार भी मनुष्य के इतिहास में विकासात्मकता का अनुसंधान करते है। हेगेल का कहना है कि मानवीय विकास के पीछे मनुष्य के विश्वास रहते हैं जिन्हें वह सत्य समझता है। मनुष्य विचारशील, आदर्शगवेषी प्राणी है। वह अपनी अवस्था और व्यवस्था को अपने विचारों और आदर्शों के अनुरूप बदलता रहता है। हेगेल ने विचारों और व्यवस्थाओं के इस अन्तःसम्बन्ध को महत्वपूर्ण बताया है। जैसे उन्होंने विचारों का इतिहास लिखा है और दर्शन के इतिहास की नई विद्या को जन्म दिया है ऐसे ही उन्होंने इतिहास के परिवर्तनों में विचारों का महत्व बता कर इतिहास-दर्शन की विद्या को जन्म दिया। इसके विरोध में यह प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य निरा बुद्धिजीवी मानसिक प्राणी नहीं है, वह एक शरीरी भी है जो कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों से अबुद्धिपूर्वक प्रेरित होता है। इतिहास में यदि कहीं कहीं बुद्धि का हाथ और विजय दीखती है तो अक्सर मोह और अज्ञान का पलड़ा भारी नजर आता है। हेगेल ने इस आपत्ति का उत्तर अपने प्रसिद्ध 'विवेक के चातुर्य' के सिद्धान्त से दिया है। चूंकि मनुष्य का अन्तः सत्व बुद्धिप्रधान है, भले ही उसका व्यापार अव्यक्त हो मनुष्य की अन्य सभी प्रेरणायें उस अव्यक्त बुद्धि-प्रेरणा की साधन बन जाती हैं। मानव जीवन में बुद्धि का प्रशासन और अंतिम विजय इस बात से निश्चित हैं कि बुद्धि ही परमार्थ है। हेगेल का यह दार्शनिक एकान्तवाद सबको रुचिकर एवं स्वीकार्य न प्रतीत होगा किन्तु उसमें बौद्धिक आशावाद का प्रकर्ष निःसंदेह देखा जा सकता है।

इतिहास को विचाराश्रित विकास मानने के साथ साथ हेगेल का यह कहना था कि इस विकास का क्रम द्वन्द्वात्मक होता है। हेगेल के इतिहासदर्शन को द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद (Idealism) कहा जाता है। विचारों में जो आत्मबोध द्वारा प्रगति का क्रम है वैसा ही क्रम हेगेल इतिहास में देखना चाहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इतिहास में भी संस्थाओं और विचारधाराओं की अपूर्णता और एकाग्रता उनके संघर्ष, अतिक्रमण और समन्वय का कारण बनती हैं और बहुधा परिस्थितियां विपरीत अवस्था में बदल जाती हैं। तो भी इतिहास में द्वन्द्वात्मकता को यदि एक प्रकार की पारस्परिक सापेक्षता या "प्रतीत्यसमुत्पाद" कहें तब तो वह ठीक लगता है किन्तु ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मकता में नितान्त तर्कसारूप्य समझना एक भ्रान्ति है।

विचारों, आदर्शों, मूल्यों की द्वन्द्वात्मकता विचार के स्तर पर उनकी सम्भावनाओं की निरी आकारिक द्वन्द्वात्मकता होती है। इतिहास के स्तर पर बुद्धि सम्भावित आकारों को मूर्त्त रूप देकर परखा जाता है। इस तरह इतिहास में वैचारिक द्वन्द्वात्मकता द्विगुणित हो जाती है—एक ओर विचारों की आकारिक द्वन्द्वात्मकता, दूसरी ओर विचारों और उनके कार्यान्वियन एवं रूपान्वयन की। जहां विचारगत द्वन्द्वात्मकता तार्किक प्रसंग उत्पादित करती है और अभ्युपगमन, निषेध एवं 'निषेध के निषेध' के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्वारा प्रवृत्त होती है, इतिहासगत द्वन्द्वात्मकता में आदर्श की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप-प्रभेद भी संगृहीत होते हैं। हेगेल ने इस द्विरूपता की ओर ध्यान नहीं दिया है और इसलिए ऐसा लगता है कि जब वे इतिहास में तर्कोचित द्वन्द्वात्मकता का प्रतिपादन करते हैं, तो मानों वे अपने मूल अवधारणों को खींचतान कर तथ्यों पर बैठाते हैं। इस प्रकार के असन्तोष को क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'हेगेल में क्या जीवित है, क्या मृत ?' में व्यक्त किया था। उनका कहना था कि हेगेल ने 'विरुद्ध' और 'विभिन्न' के अवधारणों के सार्थक भेद को नजरअन्दाज कर एक में मिला दिया है। विभिन्न रूपों के द्वारा आदर्श की ओर उपसर्पण वही नहीं है जो तर्क में विरुद्ध रूपों के द्वारा सत्य का निर्धारण। इस भेद के वास्तविक कारण का ऊपर निर्देश किया गया है। शुद्ध वैचारिक परख आकारिक होती है और आकार सामान्यरूप होते हैं। इतिहास में वे विशेषों के द्वारा व्यक्त होते हैं और यह अभिव्यक्ति **सामान्य और विशेष के सम्बन्ध के** कारण ही अनेकधा हो सकती है। दूसरे, हेगेल के सामान्य में विशेष के अन्तर्भाव के सिद्धान्त के बावजूद विशेष सामान्य में विशेषतया क्रोडीकृत नहीं होते। यही कारण है कि मानस को उन्हें व्यक्त रूप में देखने की आवश्यकता होती है। यदि विचारगोचर तत्व (Ideality) यथार्थ (Reality) के समान समृद्ध होता है तो उसे व्यक्त वस्तुभाव (Actuality) देना ही निरर्थक होता। वैचारिक तत्व अनुभव की सामान्य सम्भावनाओं को ही व्यक्त करते हैं, यथार्थ का स्वरूप अनुभवगोचर ही होता है। स्वयं हेगेल ने यह स्वीकार किया है कि विचार का अन्तिम तत्व आत्मज्ञान का प्रत्यय है। इस प्रत्यय की अभिव्यक्ति ही अनुभव है किन्तु अनुभव के प्रत्यय से अनुभवगोचर सत्य का पता नहीं चलता। यह सही है कि हेगेल के अनुसार सत्य अवाच्य या अविचार्य नहीं होता, किन्तु यदि अनुभव को आत्मज्ञान का आवश्यक विकास माना जाय तो उसकी सहायता के बिना विशुद्ध विचार का अर्थ ही क्या होगा ? अनुभव और इतिहास का अर्थ समझते हुए भी हेगेल की चिंतनधारा पुराने अमूर्त्त बुद्धिवाद की सीमाओं को पूरी तरह से लांघ नहीं पाई है। वरना इससे यह स्पष्ट होता कि जिस आत्मज्ञान के प्रत्यय में तर्कशास्त्र का अन्त होता है वह मूल्यमीमांसा का श्रीगणेश मात्र हैं। मूल्यबोध के आकारों का परामर्श अनुभव के आलोचन के द्वारा ही सम्भव है। हार्तमान ने अपने **आचारशास्त्र** में इस तथ्य को कान्टीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इस रूप में रखा है कि यद्यपि मूल्य अनुभव-संरचनाओं में व्यक्त होते हैं, उनके स्वतः सिद्ध आकार अनुभूति की आवश्यक प्राक्कल्पनाएं हैं। हमें इस प्रकार के मत में एक तार्किक 'गौरव' प्रतीत होता है और वह कान्टीय दर्शन के प्रतिभास और परमार्थ के द्वैत से ग्रस्त है। वस्तुतः मूल्य का आत्मज्ञानसापेक्ष विषय है, केवल ज्ञानसापेक्ष नहीं। आत्मज्ञान के विषय का ज्ञान केवल आत्मज्ञान के तत्व के ज्ञान से नहीं हो सकता।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४

व्याख्या के दृष्टिकोण--भौतिकवादी पक्ष

मार्क्स हेगेल का सबसे महत्त्वपूर्ण अनुयायी भी था और विरोधी भी। अनुयायी इसलिये कि उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया, विरोधी इसलिये कि उसने विज्ञानवाद को भौतिकवाद से विस्थापित किया। मार्क्स के मत की एन्गेल्स ने सर्वप्रथम 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' और प्लेखानोव ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की आख्या दी थी। मार्क्स के इस मत को प्रायः एक इतिहास-दर्शन के रूप में समझा जाता है किन्तु स्वयं मार्क्स ने न उसके नाम की उद्‌भावना की थी, न उसका तात्पर्य इतिहास की एक दार्शनिक व्याख्या से था। मार्क्स दार्शनिक व्याख्याओं के स्थान पर ऐतिहासिक व्याख्या रखना चाहता है। अपने एक पत्र में उसने कहा था कि उसने पश्चिमी योरोप में पूंजीवाद की उत्पत्ति का निरूपण किया है, उसे एक सार्वभौम और अनिवार्य विकास के रूप में न समझना चाहिए। विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भों में सदृश घटनाएं विभिन्न परिणामों को पैदा करती हैं। इन विभिन्न घटनावलियों के अर्थ उनके अलग-अलग विकास के अध्ययन से पता चलते हैं न कि किसी इतिहास-दर्शन में उपलब्ध सार्वभौम नियम से। इस प्रकार का इतिहास-दर्शन वस्तुतः अनैतिहासिक होता है। (मिखाइलौव्सकी के नाम पत्र, उद्धृत बौटमोर और रूबेल (सं०) **कार्ल मार्क्स, सैलेक्टेड राइटिंग्स** पृ० ३७–३८)। यदि हेगेल इतिहास-दर्शन का प्रवर्तक था तो मार्क्स को ऐतिहासिक समाज विज्ञान अथवा समाज-वैज्ञानिक इतिहास-विश्लेषण का प्रवर्तक कहा जा सकता है। मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज की एक नई विश्लेषण-पद्धति, इतिहास की ओर नई दृष्टि है। तथापि यह स्मरणीय है कि मार्क्स के अनुयायियों ने विश्व-इतिहास में एक निश्चित सामान्य क्रम को स्वीकार किया है, भले ही विशेष परिस्थितियां इस क्रम में अपवाद प्रस्तुत करें। (द्र० चेस्नोकोव, **हिस्टौरिकल मैटीरियलिज्म**, पृ० ५१२–१८)। यह भी स्मरणीय है कि लेनिन ने इस दृष्टि अथवा पद्धति के दार्शनिक पूर्वाभ्युपगमों की स्वीकारपूर्वक व्याख्या की है। फलतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि मार्क्स का आग्रह ऐतिहासिक विश्लेषण और उसकी एक विशेष पद्धति पर है, उसकी व्याख्यासरणि एक विशेष दार्शनिक दृष्टि के ऊपर आधारित है। इस प्रकार की दर्शनमूलक ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धति को एक प्रकार का इतिहास-दर्शन कहना गलत नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह सही है कि मार्क्स इतिहास को सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों से निगमित नहीं करता। मार्क्स के अनुसार वैसा निगमन विज्ञानवादी व्याख्याओं का दोष है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेगेल के विचारों में द्वन्द्वात्मकता के रूप में एक क्रान्तिकारी अर्थ निहित था। यदि विचारों में अन्तर्द्वन्द्व उनमें परिवर्तन उत्पन्न करता है और सामाजिक सत्ता विचारानुबन्धिनी है, तो स्पष्ट ही परिवर्तन और विकास मानव जीवन के मुख्य लक्षण बन जाते हैं। न कोई सत्य या निष्ठा पारमार्थिक रहती है, न कोई समाज-व्यवस्था। प्रत्येक सत्य, प्रत्येक व्यवस्था अपने अन्दर के विरोधों के प्रकट होने से 'असत्य' लगने लगती है और नवीन उद्भावनाओं को स्थान देती है। विशिष्ट परिस्थितियों और सन्दर्भों में जो सार्थक और प्रामाणिक था वही अवस्थान्तर में निरर्थक और बाधक बन जाता है। इस दृष्टि से **सिद्धान्त** उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितनी ज्ञान और आलोचना की **प्रक्रिया** जो क्रमशः नये-नये सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है, उनके सीमित सत्य को परखती है और फिर उन्हें असत्य करार दे आगे बढ़ जाती है। ज्ञान की यह निरन्तर आत्मालोचन की प्रक्रिया ही हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्राण है। "हेगेल के अनुसार द्वन्द्वात्मक नय अवधारण का आत्मविकास है। न सिर्फ निरपेक्ष अवधारण या प्रत्यय शाश्वतरूप से विद्यमान है—पता नहीं कहां—किन्तु वही समस्त सत्ताशाली जगत् की क्रियाशील जीवित आत्मा है। उसका उन अवस्थाओं से विकास होता है जिनका विस्तृत उल्लेख **तर्कशास्त्र** में किया गया है और जो सब उसमें अन्तर्भूत हैं, तब वह (प्रत्यय) अपने को 'अनात्मीकरण' के द्वारा प्रकृति के रूप में बदल जाता है जहां चेतना के बिना, प्राकृतिक अनिवार्यता के रूप में प्रच्छन्न होकर, वह एक नये विकास से गुजरता है और आखिर में मनुष्य की आत्मचेतना के रूप में प्रकट होता है। यह आत्मचेतना अपने को फिर से इतिहास में विभूत करती है जब तक कि वह हेगेल के दर्शन में पुनः आत्मलाभ करती है। इस प्रकार हेगेल के अनुसार प्रकृति और इतिहास का द्वन्द्वात्मक विकास..........सिर्फ अवधारण के—पता नहीं कहां,पर निश्चय ही मानव-मस्तिष्क के बाहर—शाश्वत आत्मसंचालन की दरिद्र नकल मात्र है। इस विचार-विपर्यय को दूर करना आवश्यक था। हमने अवधारणों को फिर से अपने मस्तिष्कों में उनके भौतिक रूप में समझा—वास्तविक पदार्थों के प्रतिबिम्वों के रूप में, न कि वास्तविक पदार्थों को अवधारणों की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतिबिम्वों के रूप में। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक नय बाह्य जगत् और मानव चिन्तन, दोनों की गति के सामान्य नियमों का विज्ञान बन गया। इस विज्ञान में गतिनियमों की दोनों व्यवस्थाएं तत्त्वतः समान हैं यद्यपि एक मानव मन में व्यक्त होती है और उसका सचेत प्रयोग सम्भव है, दूसरी प्रकृति में और अद्यावधि मानव इतिहास में आकस्मिक सी प्रतीत होने वाली अन्तहीन घटना-शृंखला के अन्तराल में बाहरी अनिर्वायता—नियति—के रूप में अबोधपूर्वक व्यक्त होती है। इस प्रकार प्रत्यय की द्वन्द्वात्मकता वास्तविक जगत् की द्वन्द्वात्मक गति का चेतन प्रतिबिम्ब बन जाता है और यह धारणा हेगेल के द्वन्द्वात्मक नय को, जोकि पहले शीर्षासन कर रही थी, अपने पैरों पर खड़ा कर देती है।" (एन्गेल्स, **लुडविग फोयरबाख़**, पृ० ५१)। हेगेल के द्वन्द्वात्मक नय में यह एक "महान् और मौलिक विचार है कि जगत् को बने बनाए **पदार्थों** के संघात के रूप में नहीं समझना चाहिए बल्कि **प्रक्रियाओं** के सम्प्रवाह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के रूप में। इस प्रवाह में पदार्थ भी और हमारे मस्तिष्क में उनके मनोविकल्पात्मक प्रतिविम्ब भी अर्थात् सम्प्रत्यय भी अविच्छिन्न रूप से उदित और अस्त होते रहते हैं। इस प्रवाह में सब संयोगों और तात्कालिक निवर्तनों के बावजूद अन्त में एक प्रगतिशील विकास अपने आप को प्रतिष्ठापित करता है।" (वही, पृ० ५२)। द्वन्द्वात्मकता का अर्थ इस प्रकार यह हुआ कि हम विश्व में प्रत्येक वस्तु को और प्रत्येक ज्ञान को एक परिवर्तनशील प्रक्रिया मानें जो अपने आन्तरिक विरोधों के संघर्ष से रूपान्तरित होकर विकास का अंग बनती है।

हेगेल इस प्रक्रिया को ज्ञान के स्वरूप में अधिष्ठित, मूलतः एक आध्यात्मिक प्रक्रिया मानते थे। मार्क्सवादी दर्शन इस मूल अधिष्ठान को भौतिक कहते हैं। भूतसत्ता स्वरूपतः गतिशील है और उसके अन्तर्गत विरुद्ध शक्तियों के संघर्ष से उसका गुणात्मक परिवर्तन घटता है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिक विकास है जो प्रकृति के स्तर से मनुष्य–समाज को उत्पन्न करता है। अठारहवीं शताब्दी तक का भौतिकवाद एक 'यान्त्रिक भौतिकवाद' था जो भूतसत्ता को स्वरूपतः अपरिवर्तनीय और उसकी घटनाओं को आगन्तुक कारणों से उत्पन्न सार्थकताहीन संघट्टन और विघट्टन मात्र मानता था। उसकी दृष्टि से चेतन सत्ता और उसका विश्व–समाज का ऐतिहासिक विश्व—एक अतर्क्य संयोग मानना चाहिए जिसमें सार्थकता घुणाक्षरन्याय से ही खोजी जा सकती है। मार्क्स का कहना था "अब तक के सभी भौतिकवाद का प्रधान दोष यह रहा है कि वस्तु (Gegenstand), सत्ता, इन्द्रियग्राह्यता, केवल एक विषय (Object) या प्रतिभास (Anschauung) के रूप में सोची गई है, न कि मानव ऐन्द्रिय क्रिया या व्यवहार के विषयिनिष्ठ रूप में। इसका परिणाम हुआ है कि कारित्र का पक्ष भौतिकवाद के बदले विज्ञानवाद ने ढूंढा, यद्यपि वह एक अमूर्त्त क्रिया का पक्ष था क्योंकि विज्ञानवाद वास्तविक, ऐन्द्रिय क्रिया को मानता ही नहीं है।........मानवीय चिन्तन का सत्य उसकी व्यवहारसमर्थता है........भौतिकवादी सिद्धान्त कि मनुष्य अपनी परिस्थिति और शिक्षा की उपज है........यह भूल जाता है कि मनुष्य ही अपनी परिस्थितियों को बदलता है और शिक्षक को स्वयं शिक्षा पानी होती है।" (थीसीज, आन फौयरवाख़)। मार्क्स का भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जो प्रकृति और समाज को अन्तर्द्वन्द्व के कारण परिणामी मानता है। उसमें मानवीय चेतना निष्क्रिय प्रतिविम्ब नहीं है बल्कि अपनी बाहरी प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थिति को उसके नियम पहिचान कर सक्रिय रूप से गढ़ती है। जहां हेगेल के लिये वास्तविकता का अर्थ है बुद्ध्यनुरूपता, यहां वास्तविकता का अर्थ है भौतिकता, चित्त-निरपेक्ष सत्ता। हेगेल के लिए ज्ञान की सच्चाई भी उसकी बुद्ध्यनुरूपता से पता चलती है जबकि मार्क्स के लिए ज्ञान की सच्चाई व्यवहार या क्रिया में व्यक्त होती है। हेगेल के लिए मनुष्य का सार उसकी चेतना या ज्ञान है, मार्क्स का कहना है कि "मनुष्य का तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाली कोई अमूर्त्त बात नहीं है, वह वस्तुतः सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि है।" हेगेल के लिए स्वाधीनता संकल्प के विषय की बुद्ध्यनुरूपता है, मार्क्स के लिए वह भौतिक नियमों की पहिचान है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस विवरण से स्पष्ट होगा कि मार्क्सीय भौतिकवाद में स्वभाववाद (Naturalism) और बाह्यार्थवाद (Realism) मिले हुए हैं किन्तु इन तत्वों का वास्तविक अभिप्राय विज्ञानसम्मत विश्व दृष्टि का अपनाना और दार्शनिक विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान ही है। इस भौतिकवाद का यथार्थ तात्पर्य मनुष्य के उस अस्तित्व से है जो सामाजिक सम्बन्धों से परिभाषित होता है। यह अस्तित्व समाज में ही होता है। इस सामाजिक अस्तित्व को मार्क्स ने आर्थिक साधनों की अवस्था और उन पर आश्रित उत्पादन के संबंधों पर निर्भर माना है। अन्य संस्थाएं और आदर्श, समस्त मानवीय चेतना, इस सामाजिक सत्ता का ही प्रतिबिम्ब है। एन्गेल्स का कहना है कि "समस्त दर्शन, विशेषतया आधुनिक दर्शन का मूल प्रश्न चेतना और सत्ता का संबंध है।" मार्क्स ने इस प्रश्न पर कहा था कि "मेरे अध्ययन ने मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचा दिया कि राज्यों के रूप एवं न्यायिक संबंधों को न स्वतः समझा जा सकता है न मानव मन की सामान्य प्रगति से। वे जीवन की भौतिक अवस्थाओं में बद्धमूल हैं।.........लोग जिस सामाजिक उत्पादन में लगे रहते हैं वे उसके प्रसंग में निश्चित सम्बन्धों में अपने को पाते हैं। ये संबंध अनिवार्य हैं और उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं करते। ये संबंध भौतिक उत्पादन की शक्ति के विकास की अवस्थाविशेष पर निर्भर करते हैं। इन उत्पादन-संबंधों की समष्टि समाज की आर्थिक-संरचना कही जा सकती है। इसी नीति पर न्यायिक और राजनीतिक ऊपरी ढांचे आधारित हैं और इनके अनुरूप ही विशिष्ट सामाजिक चेतना के रूप बनते हैं। भौतिक जीवन का उत्पादन-क्रम सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य लक्षण निश्चित करता है। मनुष्यों की चेतना उनकी सत्ता का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उनकी सामाजिक सत्ता उनकी चेतना का निर्धारण करती है। विकास की एक अवस्था में उत्पादन की भौतिक शक्तियां विद्यमान उत्पादन-संबंधों के साथ संघर्ष में पड़ती हैं। इस संघर्ष को स्वत्व-व्यवस्था से संघर्ष भी कह सकते हैं क्योंकि वह उत्पादन-संबंधों की ही कानूनी अभिव्यक्ति है। उत्पादन-शक्तियों के विकास के रूप होने के बदले ये सम्बन्ध उनके पैरों में बेड़ी बन जाते हैं। तभी सामाजिक क्रान्ति का समय घटता है। आर्थिक नींव के बदलने से समस्त विराट् ऊपरी ढांचा न्यूनाधिक जल्दी से रूपान्तरित हो जाता है।....कोई समाज-व्यवस्था तबतक नष्ट नहीं होती जबतक उसकी उत्पादन-शक्तियां पूर्णतया विकसित नहीं हो जातीं। उच्चतर उत्पादन-संबंध भी तबतक व्यक्त नहीं होते जबतक उनकी सत्ता की भौतिक शर्तें पुराने समाज के गर्भ में विरूढ नहीं हो जातीं। ....समाज की आर्थिक रचना के प्रगतिशील युगों में एशियायी, प्राचीन, सामन्ती और नवीन मध्यवर्गी व्यवस्थाओं का सामान्यतः निर्देश किया जा सका है।" (भूमिका, **क्रिटीक आन पोलीटिकल इकोनोमी**, १८५६)।

यदि हेगेल ने इतिहास का प्रारूप दर्शन में पाया था, तो मार्क्स ने उसकी कुंजी आर्थिक परिवर्तनों में खोजी है। औत्पादनिक साधनों और सम्बन्धों पर समाज की संस्थाओं और धारणाओं की इमारत टिकी है। किन्तु प्रत्येक ऐसी व्यवस्था में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अन्तर्द्वन्द्व रहता है। एक वर्ग उत्पादन में परिश्रम करता है, दूसरा साधनों के स्वत्व के कारण उसके 'अतिरिक्त फल' का उपभोग। अब तक के सभी ऐतिहासिक समाज इस श्रमिक और धनिक के वर्ग-द्वैत को अपने अन्दर लिए होने के कारण साधनों के पर्याप्त विकास होने पर संघर्ष और क्रान्ति से नष्ट हुए हैं। "अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वाधीन और दास, पैट्रीशन और प्लीबियन, लॉर्ड और सर्फ़, (श्रेणी में) आचार्य और अन्तेवासी, एक शब्द में, उत्पीड़क और उत्पीड़ित, सदा एक विरोध में स्थित रहे और निरन्तर कभी छिपा, कभी प्रकट युद्ध करते रहे जिसका अन्त कभी समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन से हुआ, कभी दोनों वर्गों के समान विनाश से।" (**कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो सं० टेलर, पृ० ७९**)। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निरूपण वर्ग-संघर्ष के इतिहास में परिणत होता है। इस इतिहास का उपान्तिम चरण पूंजीवाद की उत्पत्ति थी और इस व्यवस्था की विस्तृत व्याख्या से मार्क्स ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पूंजीवाद अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त है और एक क्रान्ति के द्वारा वह साम्यवाद की भूमिका बनेगा। पूंजीवाद का विश्लेषण मार्क्स की विशिष्टता है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का तब प्रारम्भ होता है जब पैदावार माल का रूप धारण करती है, जब वह सीधे उपभोग के लिए नहीं बल्कि विनिमय के लिए उत्पन्न की जाती है। माल के उत्पादन और विनिमय का पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्राधान्य होता है। माल में दो तत्व होते हैं—उपभोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य। उपयोग माल के स्वगत गुण के कारण होता है किन्तु विनिमेयता उनमें कोई समान धर्म बताती है। अरस्तू ने कहा था "विनिमय समानता के बिना नहीं हो सकता और समानता उस वक्त तक नहीं हो सकती, जबतक कि दोनों वस्तुएं एक ही माप-दण्ड से न नापी जा सकती हों।..........किन्तु वास्तव में यह असंगत है कि इतनी असमान वस्तुएं एक मापदण्ड से नापी जा सकती हों।" मार्क्स का कहना है कि वह समान तत्त्व जो सब मालों में उनके मूल्य को तय करता है, वह उनके उत्पादन में व्यय हुआ श्रम है। "मूल्यों के रूप में तमाम माल घनीभूत श्रम-काल की निश्चित राशियां मात्र हैं।" यह मार्क्स का प्रसिद्ध 'मूल्योत्पत्ति का श्रम-सिद्धान्त' है। पूंजीवाद के लिए पैदावार का माल बनना पर्याप्त नहीं है, उसके लिए स्वयं श्रम एक माल बन जाता है जिसे खरीद कर पूंजीपति माल को बेचने के लिए पैदा करता है और मुनाफे को अपना धन्धा बढ़ाने में खर्च करता है।

माली मूल्यों के रूप में उत्पादक श्रम के द्वारा सामाजिक सम्बन्ध मूर्तिमान् होते हैं। "माल एक रहस्यमयी वस्तु केवल इसलिये है कि मनुष्यों के श्रम का सामाजिक स्वरूप उनको अपनी श्रम की पैदावार का वस्तुगत लक्षण प्रतीत होता है; क्योंकि उत्पादकों के अपने श्रम से जो कुल पैदावार हुई है, उसके साथ उनका सम्बन्ध उनको एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध प्रतीत होता है, जो स्वयं उनके बीच नहीं, बल्कि उनके श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के बीच कायम है.......वहां मनुष्यों के बीच कायम एक खास प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध है, जो उनकी नज़रों में वस्तुओं के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध का अजीबोगरीब रूप धारण कर लेता है। इसलिए यदि इसकी उपमा खोजनी है तो हमें धार्मिक दुनियां के कुहासे से ढके क्षेत्रों में प्रवेश करना होगा। उस दुनियां में मानव मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाएं स्वतंत्र और जीवित प्राणियों जैसी प्रतीत होती हैं जो आपस में एक दूसरे के साथ और मनुष्य जाति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती रहती हैं। मालों की दुनियां में मनुष्य के हाथों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएं भी वही करती हैं। मैंने इसे जड़पूजा का नाम दिया है·······धार्मिक दुनियां वास्तविक दुनियां का प्रतिबिम्ब मात्र होती है और मालों के उत्पादन पर आधारित समाज के लिए·······अमूर्त मानव को पूजने वाला ईसाई धर्म·······सब से उपयुक्त धर्म है·······पूंजीवादी समाज की तुलना में प्राचीन सामाजिक संगठन अत्यन्त सरल और सहज ही समझ में आ जाने वाला था। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के अपरिपक्व विकास पर, जिसने कि उस वक्त तक अपने को उस नाल से मुक्त नहीं किया था, जिसने उसे आदिम कबीले के समाज के अपने सहयोगी मनुष्यों के साथ बांध रखा था, और या जो पराधीनता के प्रत्यक्ष सम्बन्धों पर रखी गयी थी। ऐसे सामाजिक संगठन केवल उसी हालत में पैदा हो सकते हैं और कायम रह सकते हैं जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठी हो और इसलिए जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध उतने ही संकीर्ण हों। यह संकीर्णता प्राचीन प्रकृति पूजा में तथा लोकधर्मों के अन्य तत्वों में प्रतिबिम्बित होती रही है। वास्तविक दुनियां के धार्मिक प्रतिबिम्ब का बहरहाल केवल उसी समय अन्तिम रूप में लोप होगा, जब रोजमर्रा के जीवन के व्यावहारिक सम्बन्धों में मनुष्य को अपने सहयोगी मनुष्यों तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जाने वाले तथा युक्तिसंगत सम्बन्धों के सिवा और किसी प्रकार के सम्बन्धों का सामना नहीं करना पड़ेगा।" (**पूंजी** पृ० ८६–६४)। संक्षेप में, माल के उत्पादक समाज में मानवीय सम्बन्धों की जीवन्त सत्ता माल की जड़पूजा में छिप जाती है।

प्रारम्भिक समाज में माल का साक्षात् विनिमय होता है। अधिक विकसित समाज में किसान या कारीगर अपने माल को मुद्रा के लिए बेच कर उससे फिर अपनी आवश्यकता का माल खरीदता है। पहली अदलाबदली या वस्तु-विनिमय की अवस्था का संकेत 'माल–माल' से और दूसरी मुद्रा-विनिमय की अवस्था का 'माल–मुद्रा-माल (मा--मु--मा)' से किया जा सकता है। मा-मु-मा माल के परिचलन का सरल रूप है, किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में यह रूप बदल जाता है क्योंकि पूंजी-पति अपनी मुद्रा से पहले श्रम, कच्चामाल, उपकरण आदि खरीदता है और फिर तैयार माल को बेच कर जो पैसा कमाता है उसे वह फिर से उत्पादन में लगाता है। इस प्रक्रिया का पथ इस प्रकार संकेतित हो सका है—मुद्रा--माल–मुद्रा (ममु-मा-मु)। मुद्रा खर्च कर मुद्रा कमाने का प्रयोजन मुनाफा ही होता है अर्थात् परिचलन के इस मार्ग में पहली मुद्रा और अन्तिम मुद्रा में अन्तर होना चाहिए। यदि हम इस परिपथ को मु-मा-मु कहें तो यह कह सकते हैं कि मु>मु और मु—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मु=△मु । यह मु या मुद्रावृद्धि 'अतिरिक्त मूल्य' (surplus value) है। "मालों का साधारण परिचलन—खरीदने के लिए बेचना—एक ऐसे उद्देश्य को कार्यान्वित करने का साधन है, जिसका परिचलन से कोई सम्बन्ध नहीं होता । अर्थात् वह उपभोग-मूल्यों को हस्तगत करने—या आवश्यकताओं को तुष्ट करने—का साधन है । इसके विपरीत, पूंजी के रूप में मुद्रा परिचलन स्वयं अपने में एक लक्ष्य होता है; कारण कि मूल्य का विस्तार केवल बारम्बार नये सिरे से होने वाली इस गति के भीतर ही होता है । इसीलिये पूंजी के परिचलन की कोई सीमा नहीं होती।" (पृ० १७४) ।

"इस गति के सचेत प्रतिनिधि के रूप में मुद्रा का स्वामी पूंजीपति बन जाता है । उसका व्यक्तित्व, या कहना चाहिए कि उसकी जेब ही, वह बिन्दु है जहां से मुद्रा यात्रा प्रारम्भ करती है और यहीं वह फिर लौट जाती है । परिचलन मु-मा-मु का वस्तुगत आधार अथवा उसकी मुख्य कमानी है मूल्य का विस्तार करना ।" (पृ० १७५) । मूल्य का यह विस्तार इस बात से होता है कि पूंजीपति जितनी मुद्रा माल के उत्पादन में व्यय करता है उससे अधिक मूल्य के माल का वह उत्पादन करता है । यदि पूंजी को दो भागों में बांटा जाय, एक तो वह जिसका कच्चा माल, औजार आदि प्रतिनिधित्व करते हैं और दूसरी जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है, तो पहले को **स्थिर पूंजी** और दूसरे को **अस्थिर पूंजी** कह सकते हैं । इनमें पहली के मूल्य में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नहीं होता । मूल्य-विस्तार अस्थिर पूंजी से ही होता है । श्रमिक पर पूंजीपति जितना व्यय करता है उससे अधिक मूल्य का वह सृजन करता है ।"……स्थिर पूंजी का मूल्य पैदावार में स्थानान्तरित हो जाता है और उसमें केवल पुनः प्रकट होता है । इसलिये उत्पादन-प्रक्रिया में जिस नये मूल्य का सृजन होता है, जो मूल्य पैदा होता है, वह या यूं कहिए कि उसका मूल्य पैदावार के मूल्य से भिन्न होता है ।" (पृ० २३६) । फलतः 'अतिरिक्त मूल्य' का कारण श्रमिक का शोषण है । उसकी मजदूरी जितने काल के श्रम के समान मूल्य की है उससे अधिक समय तक उसे श्रम करना पड़ता है और यह 'अतिरिक्त श्रम' या शोषण ही 'अतिरिक्त मूल्य' का उत्पादक है ।

मार्क्स ने इस विश्लेषण से यह सिद्ध किया कि पूंजीवादी व्यवस्था श्रम के शोषण पर आधारित है और उसमें संचय की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है । मार्क्स ने यह भी तर्क किया है कि पूंजीवादी समाज की नीति में अन्तर्विरोध होते हैं और वे "व्यावहारिक पूंजीपति के दिमाग पर सबसे अधिक जोर से इस नियतकालिक चक्र के परिवर्तनों के रूप में प्रभाव डालते हैं जिसमें से समस्त आधुनिक उद्योग को गुज़रना पड़ता है और जिसका सर्वोच्च बिन्दु सर्वव्यापी संकट होता है ।" (पृ० ३८) ।

ल्यूकास ने कहा है कि मार्क्स की पद्धति का 'अन्तस्तम तत्त्व ऐतिहासिक है' (उद्धृत, स्वीजी, **थियरी ऑफ कैपिटलिस्ट डिवलपमेंन्ट** पृ० २०) । इस दृष्टि से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक सत्ता सामाजिक सम्बन्धों का अविच्छिन्न परिवर्तन है, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। स्वयं मार्क्स ने कहा है 'उत्पादन-शक्तियों के बढ़ने में, सामाजिक सम्बन्धों के टूटने में, विचारों के गढ़ जाने में, एक निरन्तर गति होती है। एक ही स्थिर बात है और वह है गति का तत्त्व, अमरणशील मरणशीलता (पावर्टी आव फिलासफी)। यदि हेगेल ने दार्शनिक विचारों की ऐतिहासिक सापेक्षता और इतिहास की विचार-सापेक्षता प्रतिपादित कर इतिहास की एक नयी विद्या और दृष्टि को जन्म दिया था, तो मार्क्स ने सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं की ऐतिहासिकता और विचारों की समाजसापेक्षता प्रतिपादित कर एक और नयी ऐतिहासिक विद्या और पद्धति का आविष्कार किया। यह भी निस्सन्देह है कि इतिहास-लेखन पर मार्क्स का प्रभाव हेगेल की तुलना में अधिक रहा है। जो इतिहासकार मार्क्स के विशिष्ट मतों का प्रतिवाद करते हैं, वे भी अब यह मानते हैं कि सामाजिक सत्ता एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और अधिकांश ऐतिहासिक बातें समाजसापेक्ष होती हैं। इतिहास की 'आर्थिक व्याख्या' एक निरपेक्ष सत्य के रूप में प्रायः स्वीकृत न होने पर भी, इतिहास में आर्थिक तत्त्वों का महत्त्व निस्सन्देह है।

मार्क्स ने सामाजिक चेतना को सामाजिक सत्ता के अधीन बताया है। यदि इसका अर्थ यह है कि मानव-मन अपनी सामाजिक परिस्थिति से अनेकधा प्रभावित होता है, तो यह निर्विवाद रूप से सत्य है, किन्तु यदि इसका अर्थ यह है कि चेतना का रूप, विषय, प्रामाण्य और मूल्य, सभी सर्वथा समाज-व्यवस्था के आश्रित हैं, तो यह इतने ही निर्विवाद रूप से असत्य है। चेतना की इस प्रकार की परतन्त्रता प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। चेतना में मनुष्य को स्वतन्त्रता का आभास होता है, विशेषतया मूल्य-निर्धारण में। न प्रामाण्य के बोध में चेतन प्राणी की सामाजिक अवस्था का कोई हाथ होता है और समाज-विषयक चेतना का विषय बहुधा प्रदत्त समाज-व्यवस्था पर निर्भर करते हुए भी आवश्यक रूप से वैसा नहीं होता। विचारों पर समाज का प्रभाव परम्परा के द्वारा पड़ता है। ज्ञान, मूल्य और संकेत एक सामाजिक परम्परा के रूप में विकसित होते हैं किन्तु उनमें द्वन्द्वात्मक एवं आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। इस इतिहास को एक आध्यात्मिक परम्परा के रूप में समझे बिना सम्बद्ध सामाजिक इतिहास भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

मार्क्स के लिए भौतिक और सामाजिक विज्ञान ही ज्ञान की एकमात्र विद्या है। धर्म और दर्शन भ्रान्ति एवं कल्पना मात्र हैं। कला और साहित्य केवल सामाजिक यथार्थ के वर्ग-स्वार्थ की दृष्टि से प्रतिबिम्ब हैं। इन मान्यताओं में एक जड़वादी दर्शन की अभिव्यक्ति होती है जिसका स्वीकार सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को दरिद्र ही बना सकता है।

मार्क्स की यह धारणा कि राज्य व्यवस्था उत्पीड़क वर्ग के हितों की रक्षा के लिए बनता और कार्य करता है एक सीमा तक सत्य होने पर भी एक वस्तु-स्थिति का सरलीकरण है। थ्रेसीमेकस ने न्याय को बलवत्तर का स्वार्थ कहा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनेक यथार्थवादी राजनीतिक विचारक इस तरह की धारणा को प्रस्तुत करते रहे हैं किन्तु बल (पावर) और दण्ड (अथोरिटी) में भेद करना आवश्यक है। जैसा सन्त अगस्तन ने कहा था न्याय के बिना बल सिर्फ एक डकैती की व्यवस्था को जन्म दे सकता है। मनुष्यों की राजनीतिक आज्ञाकारिता उनके अपने स्वार्थचिन्तन पर भी आधारित है और उनके कर्त्तव्य-चिन्तन पर भी। यह बात सही है कि समूची व्यवस्था में भी एक उन्नततर दृष्टिकोण से ही एक न्याय का अंश देखा जा सकता है किन्तु यह भी स्मरणीय है कि स्वयं मार्क्स के अनुसार ही विभिन्न व्यवस्थाओं के न्याय विभिन्न होते हैं, वही व्यवस्था जो एक समय समाज के लिए हितकारी होती है कालान्तर में अहितकारी बन जाती है। इस दृष्टि से राज्य को केवल उत्पीड़न का साधन कहना एक अधूरा सत्य बन जाता है। यह सभी स्वीकार करेगें कि कोई भी ऐतिहासिक व्यवस्था आदर्श नहीं होती और इसलिए उसके अन्दर न्याय और अन्याय का भेद निरपेक्ष रूप से मान्य नहीं होता। इसीलिए ग्रीन जैसे आदर्शवादी विचारक और प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी अवस्था विशेष में विद्रोह को न्याययुक्त कहा है।

मार्क्स के पूंजीवाद के विश्लेषण और उसके भविष्य-कथन की बहुत आलोचना हुई है। यह स्मरणीय है कि मार्क्स के बाद की शताब्दी में आर्थिक इतिहास का अध्ययन बहुत विस्तार से और नई पद्धतियों के समावेश से हुआ है। आर्थिक विकास के सम्बन्ध में नये सैद्धान्तिक विचार व्यक्त किये गए हैं। मार्क्स के आर्थिक इतिहास का महत्त्व अब उसकी तथ्यात्मक उपलब्धियों में कम है, संस्थात्मक परिवर्तनों के सामाजिक सन्दर्भ में अध्ययन की द्वन्द्वात्मक पद्धति में अधिक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५

व्याख्या के दृष्टिकोण : युगचक्रवादी

मानव-समाज की रचना स्वयं मनुष्य करता है, इसकी अच्छी अथवा बुरी स्थिति के लिए यह स्वयं उत्तरदायी है एवं समाज की वर्तमानकालिक स्थिति को वह अपनी इच्छानुसार एक विशेष दिशा की ओर उद्दिष्ट कर सकता है—यह एक अपेक्षाकृत आधुनिक परिकल्पना है। प्राचीन संस्कृतियों में प्रायः यह अवधारणा पाई जाती है कि मानव इतिहास एक पूर्वनिर्धारित परियोजना के अनुसार अग्रसर होता जा रहा है, इसका लक्ष्य निश्चित है, तथा इस लक्ष्य विशेष की प्राप्ति तक की विकास-प्रक्रिया में आने वाली विशिष्ट अवस्थाएं भी पूर्वांकित हैं। इस प्रकार की अवधारणा में स्पष्टतः मानव-इतिहास के विगत अतीत तथा अनागत भविष्य के विषय में एक परिकल्पनात्मक चित्र के निर्माण की अभिरुचि विद्यमान दिखाई पड़ती है। चिन्तनशील मनुष्य के लिए भविष्य के प्रति चिन्ता तथा संपूर्ण मानव-इतिहास की अन्तिम नियति के संबंध में जिज्ञासा स्वाभाविक सी है। इस प्रकार के चिन्तन की सामान्यतया दो कोटियां हो सकती हैं : १. मानव इतिहास निरन्तर अकुशल से कुशल की ओर प्रवर्तमान है, यह सही अर्थों में विकासशील है तथा यह अनवरतरूपेण अधिक न्याय, अधिक सुविधा तथा अधिक सुख की प्राप्ति की ओर उन्मुख है; २. मानव इतिहास निरन्तर पतन का इतिहास है जिसमें मनुष्य अधिकाधिक दुःख तथा नैराश्यपूर्ण स्थिति की प्राप्ति की ओर बढ़ रहा है और अन्ततः इसे विनष्ट हो जाना है। विभिन्न संस्कृतियों की चिन्तना में ये दोनों ही अवधारणाएं पाई जाती हैं। प्राचीन मिस्री, बेबीलोनियन, भारतीय, यूनानी-रोमन सभ्यताओं में मानव इतिहास के विभिन्न युगों के संबंध में विचार किया गया तथा विशेष रूप से ऊपर उल्लिखित सभ्यताओं में अन्तिम दो में इस समस्या पर विवेचन का एक दीर्घकालिक इतिहास रहा है।

धर्म के दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय सभ्यता को ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन चिन्तनधाराओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। काल-विभाजन के प्रसंग में युग-चक्रवादी विचार इन तीनों में ही समानरूपेण स्वीकृत दिखाई पड़ता है, यद्यपि बौद्धों तथा जैनों ने इस सिद्धान्त में कुछ संशोधनों तथा नवीनताओं का भी अनुप्रवेश किया है। ब्राह्मण विचारधारा में युग-सिद्धान्त का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही दिखाई पड़ता है। समय-समय पर संसार की उत्पत्ति तथा विनाश की परि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कल्पना अत्यन्त प्राचीन है तथा **अथर्ववेद** में इसका स्पष्ट अस्तित्व सिद्ध होता है जो स्वभावतः युग-सिद्धान्त के साथ संबद्ध हो गई। मानव-इतिहास की चार विशिष्ट अवस्थाएं हैं जो चार युगों के नाम से अभिहित होती हैं : कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि। ब्राह्मण साहित्य में ही ये चारों नाम ज्ञात हैं जहां ये जुए में फेंके जाने वाले पासे के चार पक्षों के परिचायक हैं : कृत चार बिन्दुओं से अंकित पक्ष है तथा यह सर्वाधिक भाग्यशाली एवं उत्तम प्रक्षेपण है, त्रेता में तीन बिन्दुओं का अंकन है, द्वापर में दो तथा कलि में एक; किन्तु, **ऐतरेय ब्राह्मण** में ही, जैसी कि ग्रन्थ के टीकाकार की मान्यता है, ये चारों नाम युगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार ये चार युग पूर्वानुपरक्रम में हैं जिनमें से प्रत्येक का गुणात्मक स्वरूप इसमें निहित धर्म की अधिकता अथवा न्यूनता द्वारा निर्धारित होता है। धर्म को एक गाय के रूप में उपकल्पित किया गया जो प्रथम अथवा कृत युग में अपने चारों पैरों पर खड़ी रहती है किन्तु प्रत्येक अनुवर्ती युग में इसके एक पैर का ह्रास होता रहता है और अन्ततः कलि युग में वह केवल एक पैर पर खड़ी रहती है। कृत युग मानव इतिहास में स्वर्णिम युग रहा है जिसमें समाज सभी रूपों में संपन्न, सुखी, तथा पारस्परिक सौहार्द से संयुक्त था। कलियुग इसके ठीक विपरीत अवस्था का परिचायक है जिसमें समाज पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य, कलह इत्यादि से संत्रस्त रहेगा। किन्तु यह केवल मानव समाज का समष्टिगत चित्र है; जहां तक व्यक्ति का प्रश्न है, प्रत्येक युग में उसकी विमुक्ति की संभावनाएं विद्यमान होती हैं और यही नहीं प्रत्येक अनुवर्ती युग में मोक्ष-प्राप्ति के साधन अपेक्षाकृत सरलतर उपकल्पित किये गए हैं—उदाहरण के लिए, जहां कृत युग में आत्यन्तिक सुख अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए कठिन एवं दीर्घकालिक तप-साधना करनी होती थी, कलियुग में केवल ईश्वर के नामोच्चारण द्वारा इसे सम्भव बताया गया है। इस प्रकार, व्यक्ति के लिए धर्म की निरन्तर क्षीयमानता का यह सिद्धांत किसी प्रकार के नैराश्य को जन्म देने वाला नहीं होना चाहिए। ये चारों युग मिलकर एक चतुर्युग अथवा महायुग की रचना करते हैं। एक महायुग की समाप्ति के पश्चात् दूसरा महा-युग आता है और इस प्रकार एक सहस्र महायुग मिलकर एक कल्प बनाते हैं। कल्प सृष्टि के उद्भव से लेकर प्रलय अर्थात् सृष्टि के विनाश तक का सम्पूर्ण समय होता है।

बौद्ध भी इन चार युगों में विश्वास करते थे तथा उन्होंने इन्हें यही नाम भी प्रदान किए; किन्तु इन युगों की उनके द्वारा की गई व्यवस्था थोड़ी भिन्न है। चार युगों को एकसाथ रखने के स्थान पर ये आठ युगों की एक इकाई मानते हैं जिसे 'अन्तरकप्प' (=अन्तरकल्प) कहते हैं। ये युग कलि से प्रारम्भ होते हैं एवं कृत तक जाते हैं। और तत्पश्चात् उलटे क्रम में चलते हुए वे पुनः कलि युग तक आते हैं। बीस 'अन्तरकप्प' मिल कर एक 'असंखेयकप्प' (=असंख्येयकल्प) का निर्माण करते हैं और चार 'असंखेयकप्प' एक 'कल्प' बनाते हैं। जैन अवधारणा में काल की कल्पना बारह अरों वाले एक चक्र के रूप में की गई है जो दो अर्ध-भागों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में विभक्त है। ऊपर की ओर प्रवर्तमान अर्ध-भाग को 'उत्सर्पिणी' तथा नीचे की ओर प्रवर्तमान अर्ध-भाग को 'अवसर्पिणी' की संज्ञा प्रदान की गई है। एक अनिश्चित संख्या में उत्सर्पिणियां तथा अवसर्पिणियां एक दूसरे के पश्चात् आती और जाती रहती हैं।

इस प्रकार, युगों का सिद्धान्त सामान्यरूपेण संपूर्ण भारतीय चिन्तन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त है। युगों का सिद्धान्त अवतारवाद सिद्धान्त के साथ घनिष्टरूपेण संलग्न है जिसके ऐतिहासिक निहितार्थों का विस्तारपूर्ण विवेचन हम भारतीय इतिहास--दर्शन से संबद्ध अध्याय में कर चुके हैं।

यूनानियों तथा रोमवासियों दोनों ने इस समस्या में विशेष अभिरुचि दिखाई है तथा उनमें इस विषय पर एक दीर्घकालिक परिसंवाद की परम्परा मिलती है जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर विविध सिद्धान्तों का उद्‌भव हुआ। प्रत्येक सिद्धान्त इन दो में से किसी एक कोटि के अन्तर्गत आता है : क. मनुष्य ने अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से ऊपर उठ कर विकास किया है, ख. उसका पतन हुआ है। यद्यपि इन दोनों सिद्धान्तों का ही महत्त्व रहा है, तथापि दूसरा सिद्धान्त सभी समयों में प्रमुख विचार के रूप में मान्य रहा है।

यूनानी-रोमन चिन्तना के अन्तर्गत युग-सिद्धान्त के प्रसंग में हेसियोड का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है तथा इस समस्या पर विचार करने वाले सभी परवर्ती लेखक उससे प्रभावित रहे हैं। उसने चार युगों की कल्पना की है तथा इन युगों के नाम चार धातुओं के ऊपर दिये गए हैं : पहला युग स्वर्ण--युग है; इस युग के मनुष्य उस समय रह रहे थे जिस समय स्वर्ग मे क्रोनोस का शासन चल रहा था। स्वयं मनुष्य देवताओं के समान कर्म करते थे, पृथिवी स्वयमेव उन्हें सभी श्रेयस्कर वस्तुएं प्रदान करती थी। मनुष्यों की इस नस्ल की समाप्ति के पश्चात् रजत युग के मनुष्य आए। पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा ये कई दृष्टियों से हीनतर स्थिति में थे और अन्ततः अपनी मूर्खता के कारण वे विनाश को प्राप्त हुए; ये परस्पर मार--काट में लगे रहते थे तथा देवताओं की पूजा भी नहीं करते थे जोकि मनुष्यों का कर्त्तव्य है। इसके पश्चात् कांस्य--युग आया; इस युग के मनुष्य शक्तिशाली किन्तु दयाभाव से सर्वथा शून्य थे; उनके घर तथा शस्त्र कांस्यनिर्मित होते थे क्योंकि उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था। ये भी पारस्परिक कलह एवं मारकाट से विनष्ट हुए। इसके पश्चात् लौह--युग आता है। प्रारम्भ में वीरपुरुष हुए जो पूर्ववर्ती युग के मनुष्यों की तुलना में अधिक अच्छे तथा न्यायपूर्ण थे; ट्राय तथा थेबीज के युद्धों में भाग लेने वाले पूर्वकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इसी प्रकार के वीरपुरुष थे। वर्तमान-कालिक लौहयुग में श्रम तथा दुख से विमुक्ति नहीं है तथा देवता हमारे ऊपर और भार डालेंगे।

यहां यह द्रष्टव्य है कि हेसियोड द्वारा प्रस्तुत युगों के विवरण में बीच में वीरपुरुषों से संबद्ध काल के अस्तित्व के कारण मानव इतिहास के निरन्तर पतन की परिकल्पना में अवरोध आता है; साथ ही इसमें उस मान्यता का भी विरोध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिखाई पड़ता है कि इनमें से प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व एक विशिष्ट प्रकार की मनुष्य-जाति द्वारा होता है। कालान्तर में युगों का यह सिद्धान्त समय के चक्रात्मक विकास के सिद्धान्त के साथ जुट गया। युगों के चक्रात्मक विकास का यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि जैसे रात और दिन का, चन्द्रमा के वृद्धिमान तथा क्षीयमान पक्ष का, अथवा ऋतुओं में एक के पश्चात् दूसरे का अनुगमन होता रहता है, उसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड में भी परिवर्तन की इसी प्रकार की चक्रात्मक प्रक्रिया चलती रहती है। बेबीलोनिया की सभ्यता में विश्व--वर्ष (जिसे रोमवासी 'मैग्नस एन्नस' नाम से पुकारते थे) का यह सिद्धान्त पहले से ही ज्ञात था जो यूनानी सभ्यता में सर्वप्रथम हेरैक्लिटस के चिन्तन में प्रकट होता है; बाद के दार्शनिकों ने इस पर विस्तारपूर्ण विवेचन किया। इस विचारधारा का पूर्वकाल से जनमानस में प्रचलित युग--सिद्धान्त के साथ संलग्न होना स्वाभाविक था। यूनानी चिन्तन में इस समस्या पर वादविवाद अत्यन्त प्राचीन काल से दिखाई पड़ता है; इस पर सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण चर्चा प्लेटो के विभिन्न परिसंवादों में प्राप्त होती है (उदाहरणार्थ, **टिमेइयस, रिपब्लिक**)। इस सिद्धान्त के अनुसार संपूर्ण मानव--अनुभव का मापन दो विश्व-वर्षों द्वारा होता है; प्रथम में विश्व आगे की ओर बढ़ता है, दूसरे में यह पीछे की ओर चलते हुए पुनः अपने प्रारम्भ--विन्दु पर पहुंचता है। प्रत्येक विश्व--वर्ष, इस प्रकार, उन दो पक्षों में से एक होता है जिनमें कि मानव जाति का इतिहास विभक्त है तथा युगों का एक के पश्चात् दूसरे के आने का यह क्रम ब्रह्माण्ड की स्थिति तक चलता रहेगा। जो सिद्धान्त संपूर्ण पर लागू होता है, वही इसके प्रत्येक तथा सभी खण्डों पर भी लागू होगा। मनुष्य के युग ब्रह्माण्ड की इस शाश्वत चक्रीय विकास-प्रक्रिया से घनिष्टरूपेण संबद्ध हैं। सुदूर अतीत का स्वर्णिम युग एक समय पुनः लौटेगा। इस प्रकार, भविष्य की आशामय परिकल्पना द्वारा सुखद अतीत के विगत हो चुकने के शोक को सन्तुलित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही यह विश्वास भी प्रचलित था कि हममें से प्रत्येक उस आगामी स्वर्ण--युग में एक बार पुनः जीवन धारण करेगा।

द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व में रहस्यवादिता के पुनरुज्जीवन ने यूनानी-रोमी युगचक्रवादी विचारधारा में एक नया आयाम जोड़ा। इस विचारधारा के अन्तर्गत विविध ऐसी पुस्तकों का प्रणयन होता दिखाई पड़ता है जिनमें आगामी समय के सम्बन्ध में भविष्योक्तियां की गई हैं; इन परिकल्पनाओं तथा भविष्योक्तियों में तर्क--बुद्धि के स्थान पर भावना तथा श्रद्धा की अधिक अभ्यर्थना है। लेखक का अपने पाठकों से यह आग्रह मिलता है कि वर्तमान युग प्रायः अपनी समाप्ति पर है तथा अनतिदूर भविष्य में एक महान् परिवर्तन घटित होने वाला है। वह इस बात को एक मत अथवा सिद्धान्त के रूप में नहीं कहता जिस पर कोई आलोचनापूर्ण चर्चा की जा सकती हो; वह इसे एक देव--प्रेरित भविष्यकथन के रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी सत्यता वर्तमानकालिक घटनाओं में पहले से ही देखी जा सकती है और जिसके विषय में किसी प्रकार की शंका का कोई स्थान नहीं है। जैसा कि हम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आगे चलकर देखेंगे, यह सिद्धान्त ईसाई धर्म की प्रमुख मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित होता है। यूनानी–रोमी युगचक्रवाद का सिद्धान्त समय-समय पर कुछ संशोधनों के साथ अपनी निरन्तरता को बनाए रखते हुए दिखाई पड़ता है।

ईसाई धर्म को यह परम्परा उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई। किन्तु ईसाई चिन्तन में युग–सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न रूप में हुआ। इससे पूर्व की कृतियों में स्वर्णिम युग को सुदूर अतीत में रखा गया था तथा मानव इतिहास के परवर्त्ती युगों को पतन के तथा विनाशोन्मुख इतिहास के रूप में उपकल्पित किया गया था। किन्तु, ईसाई धर्म में जिसस के आगमन को नवीन आशा तथा सुखद भविष्य के सूचक के रूप में समझा गया। इसके पहले ही इजरायल के पैगम्बरों ने निकट भविष्य में मसीहा के जन्म की भविष्योक्ति द्वारा इस प्रकार के आशाजनक विचार को प्रचारित कर रखा था, जोकि पृथ्वी पर विशुद्ध धर्म, शान्ति तथा सुख की संस्थापना करने वाला होगा। ईसाई धर्म ने इस सूत्र को पकड़ा और विश्व के इतिहास को विकास के इतिहास–जो यदि निरन्तर विकास नहीं तो कम से कम समय-समय पर होने वाले विकास का नैरन्तर्य प्रदर्शित करेगा—के रूप में उपकल्पित किया। सेन्ट आगस्टिन पहला व्यक्ति था जिसने मनुष्य के इतिहास में सात अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके बाद आने वाले सभी धर्मशास्त्री किसी न किसी रूप में आगस्टिन की युग-व्यवस्था से प्रभावित रहे हैं। स्पेनवासी पादरी पालस आरोसियस (४१८ ईसवी) सेन्ट आगस्टिन का बहुत बड़ा प्रशंसक था तथा अपनी पुस्तक **हिस्तोरिया** को उसने सेन्ट आगस्टिन के प्रति समर्पित किया है; उसने अपनी पुस्तक को सात खण्डों में विभक्त किया है, जो मानव-इतिहास के सात युगों के परिचायक हैं। रोम के इतिहास का उसके ऊपर गंभीर प्रभाव पड़ा था। रोम की स्थापना, गाल जाति द्वारा रोम की विजय, अलेक्जेंडर की मृत्यु, कार्थेज का पराभव, दासयुद्ध, सीजर आगस्टस का शासनकाल–जिसके साथ वह जीसस के जन्म को भी सम्बद्ध करता है—वे स्मरणीय तथा महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं जो उसके युगों की सीमा–रचना करती हैं। मध्ययुगीन ईसाई लेखकों ने युग–सिद्धान्त पर पर्याप्त चर्चा की। इसके पहले ही इतिहास की विकास--प्रक्रिया को एक पूर्वस्थित दैवी परियोजना के अनुसार अग्रसर होती हुई उपकल्पित किया गया था। ईश्वर की इच्छा के रूप में इतिहास स्वयं ही अपने को व्यवस्थित करता है एवं अपने लक्ष्य की ओर प्रवर्त्तमान रहता है, जिसमें मनुष्य द्वारा किसी प्रकार के परिवर्तन का अनु-प्रवेश संभव नहीं है; यहां तक कि वे व्यक्ति भी, जो यह सोचते हैं कि वे इस दैवी परियोजना के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं, वस्तुतः अनजान में इसमें सहायक भूमिका ही निभाते हैं। अतः मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस परियोजना को आगे बढ़ाने में सहायता पहुंचावे; यदि वह इसके विरुद्ध कार्य करता है, तो भी वह इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता, केवल अपने जीवन को निरर्थक बनाता है तथा निराशा एवं संताप को पहुंचता है। इस कारण मध्ययुगीन इतिहास--लेखन का मुख्य कार्य इस दैवी परियोजना को खोजना तथा इसके प्रयोजन को ठीक-ठीक समझना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इस परियोजना का विकास समय के अन्तर्गत ही हुआ था और इस कारण इस विकास में कुछ विशिष्ट अवस्थाओं का होना स्वाभाविक था। इस तथ्यविशेष पर चिन्तन ने किसी महत्त्वपूर्ण घटना से प्रारम्भ होने वाले ऐतिहासिक युगों में विश्वास को उभारा और तत्परिणामस्वरूप विभिन्न ऐतिहासिक युगों की परिकल्पना प्रस्तुत की गई। मध्ययुगीन युग-विभाजन के एक प्रतिनिधि सिद्धान्त के रूप में फ्लोरिस के जोएकिम (१२वीं शताब्दी) के सिद्धान्त को लिया जा सकता है। उसने इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया : पिता अथवा ईश्वर (Father) का शासनकाल अर्थात् पूर्व-ईसाई युग; पुत्र (Son) का शासनकाल अर्थात् ईसाई युग; तथा पवित्र आत्मा (Holy Ghost) का शासनकाल अर्थात् वह युग जो भविष्य में आने वाला है। किसी भावी युग के प्रति उद्धरण मध्ययुगीन इतिहास-लेखन की एक प्रमुख विशिष्टता है। इस दैवी परियोजना की सत्यता का प्रमाण क्या है? यह पूछे जाने पर इन लेखकों का उत्तर यह है कि इसके विषय में उन्हें श्रुतिप्रकाश (revelation) से ज्ञात हुआ है, और इस श्रुतिप्रकाश से जहां एक ओर यह ज्ञात होता है कि ईश्वर ने अतीत में क्या किया है, वहीं दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि वह भविष्य में क्या करने वाला है। इतिहास का लक्ष्य, इस प्रकार, ईश्वर द्वारा पूर्व नियोजित तथा, श्रुतिप्रकाश के माध्यम से, मनुष्य को पूर्वज्ञात है।

१७वीं शताब्दी से युग-सिद्धान्त पर नए उत्साह के साथ विचार प्रारम्भ हुआ और उस समय में हुए बोसुए से लेकर आधुनिक युग में स्पेंगलर तथा टायनबी तक इसकी एक अविच्छिन्न परम्परा दिखाई पड़ती है। अपनी पुस्तक **दिस्कूर्स सूर लिस्त्वार यूनिवर्सेल** (१६८१) में बोसुए सेन्ट आगस्टिन द्वारा प्रतिपादित सात युगों को स्वीकार करता है। उसके अनुसार, प्रथम युग का समय-विस्तार आदम से नोआ तक है तथा यह सृष्टि के उद्भव तथा प्रारम्भिक काल का विशेषक है; दूसरे युग—जो नोआ से लेकर अब्राहम के काल को सन्निविष्ट करता है—में जलप्लावन की घटना घटी तथा मनुष्य प्रथम बार दण्डित हुआ एवं इसी समय से रक्तरंजित विजयों के युग का प्रारम्भ हुआ; अब्राहम से लेकर मोजेज तक के काल को सन्निविष्ट करने वाले तीसरे युग में 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' का प्रारम्भ हुआ; मोजेज से लेकर जेरुसलम में सोलोमन द्वारा 'मंदिर' के निर्माण की घटना तक का काल चौथे युग को उपलक्षित करता है; पांचवा युग बेबीलोन की दासता तक चलता है; छठां साइरस से जीसस तक चलता है; और सातवां जीसस के जन्म से लेकर हमारे अपने समय तक आता है। बोसुए के इस काल-विभाजन से स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि अतीत की ओर उन्मुख थी और उसने भविष्य में स्थित उस युगविशेष की परिकल्पना नहीं प्रस्तुत की जिसमें सभी लोग सुख एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे, जबकि क्राइस्ट द्वारा सभी शत्रु पराभूत हो जाऐंगे और जब लोग ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर सकेंगे।

विको अठारहवीं शताब्दी में हुआ। वह स्वयं एक कुशल तथा प्रशिक्षित इतिहासकार था तथा उसने ऐतिहासिक विधि के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

किया। विको के अनुसार ऐतिहासिक प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें रहते हुए मनुष्य अपनी भाषा, प्रथाओं, विधि तथा प्रशासन इत्यादि से संबद्ध संस्थाओं की रचना करता है; इस प्रकार, उसके अनुसार इतिहास मानव समाजों तथा इनकी संस्थाओं के उद्‌भव तथा विकास की कथा है। यहां हम पहली बार इतिहास की वस्तुसामग्री के विषय में एक संपूर्णतः आधुनिक विचार का दर्शन करते हैं। मनुष्य के एकान्तिक कार्य-व्यापारों तथा उनको परस्पर सुग्रथित करने वाली दैवी परियोजना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसाकि मध्य युग में समझा जाता था; इतिहास की योजना सर्वथा मानवीय योजना है किन्तु वह किसी अपूर्ण इच्छा के रूप में पूर्वस्थित नहीं है जोकि अपने क्रमिक पूर्णत्व की ओर प्रवर्तित हो रही हो। मानव समाज की संपूर्ण संरचना स्वयं मनुष्य द्वारा रची गई है तथा यह मानव मस्तिष्क द्वारा पूर्णतः परिज्ञेय है। विको ने विधि तथा भाषा इत्यादि विषयों के इतिहास का स्वयं गंभीर शोधपूर्ण अध्ययन किया था और उसके विचार इस अध्ययन पर आधारित थे। उसने इन शोधों को उसी प्रकार का निश्चित ज्ञान प्रदान करने में सक्षम पाया जिस प्रकार के निश्चित ज्ञान को देकार्त ने भौतिकशास्त्रीय तथा गणितीय शोधकार्यों से संबद्ध किया था। इस तरह का ज्ञान किस प्रकार उद्‌भूत हुआ है इसकी चर्चा करते हुए उसने कहा है कि इतिहासकार अपने मस्तिष्क में उस प्रक्रिया की पुनर्रचना कर सकता है जिसमें अतीतकालिक मनुष्यों ने इसके विभिन्न तत्त्वों का निर्माण किया था। इतिहासकार के मस्तिष्क तथा इसके द्वारा अध्येय विषयवस्तु के बीच एक प्रकार का पूर्वस्थित सामरस्य होता है। सुदूर अतीत के कालों के इतिहास में विको की विशेष रुचि थी और इस प्रसंग में उसने कुछ नियमों को बनाने का प्रयास किया।

उसने यह प्रतिपादित किया कि इतिहास के कुछ कालों का एक सामान्य स्वभाव था जिनका अन्य कालों में पुनर्प्रकाशन हुआ, और इस प्रकार दो भिन्न युगों का समान स्वभाव संभव है। उदाहरण के लिए उसने कहा कि यूनानी इतिहास के होमर–काल तथा योरोपीय मध्य युग में सामान्य सादृश दिखाई पड़ता है, और इन दोनों युगों को ही उसने 'हीरोइक युग' की सामान्य संज्ञा प्रदान की; इन दोनों युगों में कुछ सामान्य तत्त्व देखे जा सकते हैं : योद्धा–कुलीन तंत्र के हाथ में प्रशासन का होना, कृषि पर आधारित अर्थ–व्यवस्था, वैयक्तिक शक्ति तथा स्वामिभक्ति के विचार पर आधारित नैतिकता, गाथा-काव्य इत्यादि। आगे उसने यह कहा कि ये समान युग उसी क्रम में इतिहास में घटित हुए हैं। प्रत्येक 'हीरोइक युग' के पश्चात् 'क्लासिक–युग' आता है जिसमें कल्पना के स्थान पर विवेक की, गाथाकाव्य के ऊपर गद्य–साहित्य की, कृषि के ऊपर उद्योग की प्रभुता होती है तथा नैतिकता का आधार युद्ध न हो कर शान्ति होता है। इस युग के पश्चात् एक नए प्रकार की बर्बरता में पतन का युग आता है; यह नए प्रकार की बर्बरता होती है जिसमें विचार अथवा विवेक तो होता है किन्तु इसकी सर्जनात्मक शक्ति क्षीण हो चुकी होती है। विको इस चक्रीय विकास को सुनिश्चित कालों के चक्र में इतिहास का पुनरावर्तन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मात्र नहीं मानता। यह एक वृत्त न होकर सर्पिल आकार का है क्योंकि इतिहास कभी भी अपने को दुहराता नहीं अपितु प्रत्येक नए युग में वह अतीतकालिक घटनाओं द्वारा विशिष्टीकृत रूप में पदार्पण करता है। चूंकि इतिहास सदैव ही सर्जनात्मक नवीनताओं को अन्तर्विष्ट करता है अतः चक्रीय विषय हमें भविष्योक्ति की अनुमति नहीं प्रदान करता। यहां विको के विचार का प्राचीन कालीन यूनानी–रोमन चिन्तन में युगचक्रवाद संबंधी विचार से विभेद स्पष्ट है। उसके विचार में हमें वह सिद्धान्त-विशेष प्राप्त होता है जिसके अनुसार इतिहास भविष्यवाणी नहीं कर सकता।

जर्मन विचारक हर्डर की **मानव जाति के दार्शनिक इतिहास के संबंध में विचार** शीर्षक पुस्तक १७८४ तथा १७९१ के बीच में चार जिल्दों में प्रकाशित हुई। हर्डर ने युगचक्रवाद पर मनुष्य के जीवन से संबंधित अवस्थाओं की समवृत्तिता के आधार पर विचार किया है। उसके अनुसार, मानव-जीवन भौतिक विश्व में अपने परिवेश के साथ घनिष्टरूपेण संबद्ध है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड का सामान्य स्वरूप एक जीवी का है जो इस प्रकार नियोजित है कि यह अपने अन्दर उच्च स्तर के जीवी को विकसित करता रहता है। भौतिक ब्रह्माण्ड एक योनि के समान है जिसमें किसी क्षेत्रविशेष में सौर मण्डल का जन्म होता है; पुनः सौर मण्डल वह योनि है जिसमें पृथ्वी का जन्म होता है जोकि अन्य सभी ग्रहों की अपेक्षा मनुष्य का उपयुक्त कार्य-क्षेत्र बनती है; पृथ्वी की इस भौतिक संरचना के अन्तर्गत विशिष्ट खनिजीय निर्मितियों, विशिष्ट भौगोलिक जीवी (प्रायद्वीप) इत्यादि का जन्म होता है। पृथ्वी पर फिर जीवन का प्रारम्भ होता है जिसमें सबसे पहले वनस्पति जीवन का आविर्भाव होता है; पशु-जीवन वानस्पतिक जीवन का ही और विकसित रूप है और फिर इसका और अधिक विकसित रूप मानव जीवन के आविर्भाव में देखा जा सकता है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य वस्तुतः पशु का परिष्कृत रूप है जैसे पशु वनस्पति का परिष्कृत रूप; इस प्रकार, मानव स्वभाव केवल दो चरण आगे बढ़कर वानस्पतिक स्वभाव का परिष्कार मात्र है।

हर्डर प्रकृति की विकास-प्रक्रिया को किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख मानता है जिसमें विकास की प्रत्येक अवस्था प्रकृति द्वारा इस प्रकार नियोजित है ताकि वह आगामी अवस्था का मार्ग प्रशस्त कर सके। कोई भी अवस्था स्वयं में लक्ष्य नहीं है किन्तु मनुष्य के आविर्भाव में यह प्रक्रिया अपनी परिणति को पहुंचती है। मनुष्य को उत्पन्न करने में प्रकृति का प्रयोजन एक तर्कबुद्धिप्रधान प्राणी को उत्पन्न करना है, और इसी कारण मानव स्वभाव अपना विकास आध्यात्मिक शक्तियों की एक व्यवस्था के रूप में करता है जिसका पूर्ण विकास भविष्य में स्थित होता है। इस प्रकार, मनुष्य दो विश्वों के बीच कड़ी के रूप में होता है : भौतिक जगत् जिसमें से वह स्वयं निकला है, तथा आध्यात्मिक जगत् जो उसके द्वारा वस्तुतः अस्तित्व में नहीं आता (क्योंकि आध्यात्मिक सिद्धान्तों के रूप में वह शाश्वतरूपेण विद्यमान होता है) किन्तु पृथ्वी पर आत्म-सिद्धि करता है।

एक प्राकृतिक प्राणी के रूप में मानव जाति कई नस्लों में विभाजित है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक नस्ल अपने भौगोलिक परिवेश के साथ घनिष्टरूपेण संबद्ध होता है और इस भौगोलिक परिवेश से प्रभावित उसकी अपनी विशिष्ट मौलिक शारीरिक तथा मानसिक विशिष्टताएं होती हैं; किन्तु प्रत्येक नस्ल मानव जाति के एक विशिष्ट प्रकार का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अपने विशिष्ट चिरस्थायी लक्षण होते हैं। प्रत्येक नस्ल सुख तथा जीवन के आदर्श के विषय में अपने विचार रखता है। विभिन्न नस्लों में विभक्त मानव जाति भी एक योनि के समान है जिसमें ऐतिहासिक जीवी का जन्म होता है जोकि मानवीय जीवी का एक उच्चतर प्रकार है। हर्डर के मतानुसार, योरोप प्रकृति का वह प्रिय केन्द्र है जिसमें, इसकी विशिष्ट भौगोलिक तथा जलवायु संबंधी विशिष्टताओं के कारण, ऐतिहासिक जीवन का उद्‌भव होता है; और इस कारण केवल योरोप में ही मानव जीवन को विशुद्ध अर्थों में ऐतिहासिक कहा जा सकता है; चीन, अमेरिका तथा भारत में कोई वास्तविक ऐतिहासिक प्रगति नहीं हुई है, अपितु, इसके विपरीत, यहां एक अपरिवर्तनशील सभ्यता रही है। इस प्रकार, योरोप मानव जाति का एक विशेषाधिकार प्राप्त क्षेत्र है, ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य पशुओं में विशेष स्थान रखता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि कई महत्त्वपूर्ण विचारों से युक्त होने पर भी हर्डर के चिन्तन में कई त्रुटियां हैं। वह केवल समवृत्तिताओं के आधार पर बिना उनकी परीक्षा किए विविध निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। उसने अपने विचारों का समीक्षात्मक परीक्षण नहीं किया। यह भी सत्य नहीं है कि केवल योरोप ही ऐसा प्रदेश है जिसका अपना इतिहास था, यद्यपि यह सत्य है कि उसके अपने समय में योरोपीयों को केवल इसी प्रदेश का विस्तृत ऐतिहासिक ज्ञान व्याप्त था। इसी प्रकार, नस्लों के संबंध में भी उसके विचार को बिना परीक्षा के स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ओसवाल्ड स्पेंगलर तथा आरनोल्ट टायनबी दो अन्य आधुनिक विचारक हैं जिन्होंने इतिहास की युगचक्रवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। स्पेंगलर (१८८०–१९३६) की प्रसिद्ध कृति **पश्चिम का पतन** है जो एक तकनीकी शैली में लिखी होने तथा कठिनाई से बुद्धिग्राह्य होने पर भी प्रारम्भ से ही अत्यन्त लोकप्रिय रही है। स्पेंगलर के चिन्तन पर प्रथम विश्वयुद्ध का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसकी पुस्तक की प्रथम जिल्द १९१८ में प्रकाशित हुई और लगभग चार साल बाद इसकी दूसरी जिल्द पर्याप्त बड़े आकार में प्रकाशित हुई। उसने स्पष्ट रूप से इस तथ्यविशेष का दर्शन किया कि सभ्यता के आश्वासन पूर्ण नहीं हुए थे तथा उसका अपना युग प्रगति तथा विकास का युग न हो कर बहुमुखी अवनति तथा पतन का युग था। उसने अपने ऊपर नीत्शे के विचारों का प्रभाव स्वीकार किया है।

स्पेंगलर के अनुसार, इतिहास उन विविध पृथक्-पृथक् इकाइयों का अनुक्रम है जिन्हें कि हम संस्कृति कहते हैं। प्रत्येक संस्कृति का अपना विशिष्ट स्वभाव होता है, जिसकी अभिव्यक्ति उसके विकास-क्रम के विभिन्न पक्षों में विस्तार से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है। साथ ही प्रत्येक संस्कृति की एक निश्चित आयु होती है। व्यक्ति के समान संस्कृति भी विकास तथा परिपक्वता का भोग करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होती है। स्पेंगलर ने इस बात पर बल दिया कि हमें सत्य का सामना करने से कतराना नहीं चाहिए। कई रूपों में वह एक प्रकार की निराशावादिता में आनंद प्राप्त करते हुए दिखाई पड़ता है। जबकि कुछ अन्य लोग नवस्थापित राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) की सफलता में विश्वास प्रकट कर रहे थे और यह सोच रहे थे कि अब युद्ध नहीं होंगे, उसने इन सभी प्रयासों की विफलता की पूर्व-घोषणा की।

उसके अनुसार, प्रत्येक संस्कृति एक जैव इकाई के समान है और उसमें भी तद्रूप जीवन-चक्र देखे जा सकते हैं। प्रत्येक संस्कृति का प्रारम्भ प्रारंभिक समाजों की बर्बरता से होता है; कालान्तर में इसके अन्तर्गत विविध राजनीतिक संस्थाओं, कला तथा विज्ञान इत्यादि का विकास होता है, जो प्रारम्भ में सामान्य होता है किन्तु अनुवर्ती युग में विविध क्षेत्रों में उत्कृष्टता दिखाई पड़ती है; पुनः, संस्कृति का पतनशील युग आता है जिसमें सर्वत्र विकृति दिखाई पड़ने लगती है, संस्कृति की सृजनशीलता समाप्त हो चुकी होती है और अन्ततोगत्वा यह संस्कृति विनष्ट हो जाती है। न केवल इन युगों के चक्र निश्चित हैं अपितु प्रत्येक युग-चक्र द्वारा लिया जाने वाला समय भी निश्चित है; इस प्रकार, यदि हम यह जान सकें कि हम अपनी संस्कृति के चक्र में किस विन्दु-विशेष पर खड़े हैं तो भावी युगों के विषय में भी एकदम ठीक-ठीक बता सकते हैं।

टायनबी की दस जिल्दों में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक **स्टडी आफ हिस्ट्री** का प्रकाशन १९३४ में प्रारम्भ हुआ एवं बीस वर्षों में समाप्त हुआ। टायनबी का मुख्य प्रयोजन सार्वभौमिक इतिहास का लेखन है और इस दृष्टिकोण से उनका लक्ष्य स्पेंगलर के लक्ष्य से सादृश्य रखता दिखाई पड़ता है। किन्तु टायनबी ने अपने इतिहास-विषयक निष्कर्षों को समीक्षापूर्ण तथा वस्तुनिष्ठात्मक पर्यवेक्षण पर आधारित होने का दावा किया है। **स्टडी आफ हिस्ट्री** का पाठक टायनबी के इतिहास-विषयक अध्ययन की व्यापकता तथा ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में उसके विशद ज्ञान से हतप्रभसा हो जाता है; और आद्यन्त उनमें अपने सिद्धान्तों के समर्थन में ऐतिहासिक तथ्यों की साक्षिता प्रदान करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु, टायनबी के आलोचकों का यह कहना है कि उनमें इतिहासकार की निर्वैयक्तिकता का अभाव है एवं वे अपने सिद्धान्तों के मोह में इस प्रकार बंधे दिखाई पड़ते हैं कि प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों की सम्यक् व्याख्या उनसे नहीं हो पाती। पीटर गेल—जो टायनबी का प्रमुख आलोचक है तथा उनकी कठोर आलोचना के कारण जिसे 'टायनबी-विरोधी' ('anti-Toynbee') की उपाधि मिल चुकी है—का कहना है कि टायनबी के इतिहास-ज्ञान में किसी को कोई संदेह नहीं हो सकता; किन्तु वे एक धर्मदूत हैं, इतिहासकार नहीं। इसी प्रकार, विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों की उनकी विस्तारपूर्ण व्याख्याएं भी प्रायः उस क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा अनुमोदित नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होतीं और उनका कहना है कि अपने सिद्धान्तों से संगत बनाने के लिए टायनबी ने ऐतिहासिक तथ्यों को मनमाने ढंग से विकृत करके प्रस्तुत किया है।

टायनबी की पुस्तक बीस वर्षों से ऊपर के दीर्घकाल में संपन्न हुई; और इतने लम्बे समय को अन्तर्भूत करने वाले टायनबी के चिन्तन की प्रारंभिक तथा परवर्ती अवस्थाओं में पूर्ण समंजसता तथा विचार-समानता नहीं दिखाई पड़ती। जहां प्रारम्भ में वे मुख्यत: एक समाजवैज्ञानिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं, पुस्तक की अंतिम जिल्दों में उन्होंने अपने विषय के विस्तार-क्षेत्र को बहुत अधिक बढ़ा लिया है। इस परवर्ती अवस्था में वे समाजवैज्ञानिक की अपेक्षा अध्यात्मशास्त्री अधिक दिखाई पड़ते हैं और उनकी मुख्य अभिरुचि ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूंढने में दिखाई पड़ती है जैसे इतिहास में कोई अन्तर्निहित अर्थ है या नहीं ? अथवा क्या यह किसी लक्ष्य विशेष की ओर बढ़ रहा है ? इत्यादि, तथा उनका यह भी विश्वास है कि वे इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हैं क्योंकि उनका विचार है कि उन्होंने अतीतकाल में विभिन्न समाजों के पतन के मूलभूत कारण को समझ लिया है। अतएव पुस्तक की प्रारम्भिक जिल्दों से ही टायनबी के लेखन का मुख्य प्रयोजन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त कार्यविधि को समझना अधिक उपयुक्त होगा।

टायनबी के इतिहास-विषयक चिन्तन का प्रमुख सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि इतिहास की विषयवस्तु मानवजाति की कुछ विशिष्ट इकाइयां हैं जिन्हें टायनबी ने समाज की संज्ञा प्रदान की है। इन विभिन्न समाजों को सभ्यताएं भी कह सकते हैं जो मानवजाति के इतिहास में समय-समय पर उद्भूत, विकसित और विनष्ट हुई हैं। सभ्यता ही, उनके अनुसार, इतिहास अध्ययन की एकमात्र इकाई है और उन्होंने अतीत काल तथा वर्तमान युग की इस प्रकार की इक्कीस सभ्यताओं को छांट निकाला है। विभिन्न सभ्यताओं के उद्भव, विकास तथा पतन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना उनका प्रमुख प्रयोजन है। प्रत्येक समाज या तो आदिम होता है या सभ्य। अधिकांश समाज प्रथम कोटि के अन्तर्गत आते हैं और दूसरी कोटि के समाजों की संख्या न्यून होती है। प्रथम कोटि के समाजों की जीवन-अवधि प्रायः कम होती है और या तो वे सभ्य समाजों की हिंसा का शिकार बनते हैं अथवा किसी अन्य आदिम समाज द्वारा ही विनष्ट कर दिए जाते हैं। प्रत्येक सभ्यता एक स्वत:—पर्याप्त इकाई होती है तथा एक प्रकारविशेष का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार, टायनबी के अनुसार, सभ्यताएं देश और काल दोनों में परस्पर पृथक् और सर्वथा विशिष्ट होती हैं; जैसे ही कोई सभ्यता अपने स्वरूप में परिवर्तन करती है वह मूल सभ्यता नहीं रह जाती और उसके स्थान पर एक नई तथा पृथक् सभ्यता का जन्म मानना चाहिए। टायनबी की व्यवस्था में इस विचार का स्थान नहीं है कि कोई सभ्यता अपने कुछ तत्त्वों को छोड़ते हुए तथा दूसरों से कुछ तत्त्वों को ग्रहण करते हुए अपना विकास कर सकती है और फिर भी वही मूल सभ्यता रह सकती है। दो सभ्यताओं के पारस्परिक संबंध केवल बाह्य संबंध होते हैं और उनमें एक स्पष्ट पृथक्त्व पूर्वापेक्षित रहता है। हम में यह बताने की योग्यता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होनी चाहिए कि किस बिन्दुविशेष पर एक सभ्यता समाप्त होती है और दूसरी सभ्यता प्रारम्भ होती है; हम यह नहीं कह सकते कि कोई सभ्यता दूसरी सभ्यता में रूपान्तरित हो सकती है।

टायनबी के सिद्धान्त के विवेचन से यह प्रकाशित होता है कि व्यक्ति अथवा समाज की उसकी कल्पना में इसके अन्तःस्थ पक्ष तथा जो इसके बाहर स्थित है उसके बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा है। उसके अनुसार अन्तःस्थ पक्ष और बाह्यस्थित वस्तु-विशेष एक दूसरे का सर्वथा परिहार करते हैं। किन्तु—जैसाकि कालिंगवुड ने टायनबी की अपनी आलोचना में कहा है—यह स्मरणीय है कि इतिहास में मनुष्य की वैयक्तिकता अथवा विशिष्टता जड़ जगत् की अन्य वस्तुओं की विशिष्टता से भिन्न होती है; उसमें अपने पर्यावरण को स्वयं में सन्निविष्ट करने की क्षमता होती है। वह इतिहासकार जो अपनी सभ्यता से इतर किसी सभ्यता का अध्ययन करता है वह उस सभ्यता के मानसिक जीवन को अपने लिए उस सभ्यता के अनुभवों के पुनर्विधायन द्वारा ही समझ सकता है। जब हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किसी सभ्यता का अध्ययन करते हैं तो इस प्रक्रिया में हम उस सभ्यता की मानसिक स्मृति की उपलब्धि करते हैं तथा यह हमारे अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। पाश्चात्य सभ्यता ने इसी प्रकार प्राचीन यूनानी सभ्यता से लाभ उठाया है और यूनानी सभ्यता से उपलब्ध ज्ञान को नई दिशाएं प्रदान करते हुए अपना वर्तमान विशिष्ट स्वरूप प्राप्त किया है; इस प्रकार, वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता प्राचीन यूनानी सभ्यता से केवल बाह्य रूप में नहीं संबंधित है, यह संबंध एक आन्तरिक संबंध है। टायनबी के चिन्तन में मुख्य दोष यह है कि उन्होंने सभ्यता के जीवन को केवल जैव जीवन के रूप में समझा है, एक मानसिक जीवन के रूप में नहीं। उनके विचार में इतिहास तथ्यों का भंडारमात्र रह जाता है जिन्हें इतिहासकार देखता है और संगृहीत करता है। टायनबी ने तथ्यों को इस रूप में लिया है मानों उनको केवल व्यवस्थित करना है तथा इन पूर्व-प्राप्त तथ्यों को अपनी व्यवस्था में इधर उधर उपयुक्त स्थान पर बिठा देना है। इन दोषों के बावजूद, टायनबी में एक परिष्कृत ऐतिहासिक बुद्धि का दर्शन होता है तथा वे प्रायः अपने वास्तविक ऐतिहासिक निर्णयों को अपने सिद्धान्तों में निहित दोषपूर्ण सिद्धान्तों से विकृत होने देने से बचाने की चेष्टा करते दिखाई पड़ते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१६

स्पेंग्लर : इतिहास–स्वरूप

वर्तमान शताब्दी में इतिहास-लेखन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इतिहासकारों ने अब नगर, राज्य या राष्ट्र के राजनीतिक इतिहास के स्थान पर उनके सांस्कृतिक पक्ष पर ध्यान दिया है और दे रहे हैं। इनके विचारों का केन्द्र, या दूसरे शब्दों में इतिहास के अध्ययन का विषय, अब राष्ट्र, जाति अथवा कोई सामाजिक संस्था न होकर पूरी सभ्यता है, जिसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी सामाजिक, आर्थिक और .र्मिक पक्ष सम्मिलित हैं। हालाँकि क्रोचे ने भी इस नई दृष्टि से इतिहास लिखने का प्रयत्न किया लेकिन बीसवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक नया मोड़ देने का श्रेय स्पेंग्लर और टायनबी को दिया जाना चाहिए। स्पेंग्लर ने सर्वप्रथम इतिहास-लेखन के इस नये दृष्टिकोण को अपनी पुस्तक "दि डिक्लाइन ऑफ दी वेस्ट" में प्रतिपादित किया था।

स्पेंग्लर ने यूरोपीय इतिहासकारों की इतिहास-सम्बन्धी दृष्टि की कटु आलोचना की है। उसके अनुसार यूरोप को विश्व के इतिहास का केन्द्र मानना भ्रामक धारणा है। इसी प्रकार यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा ऐतिहासिक युग को प्राचीन, मध्यकाल और आधुनिक काल में विभाजित करना नितान्त अर्थहीन है, क्योंकि प्रत्येक शताब्दी के बाद यह विभाजन असंगत प्रतीत होता है। वास्तव में यूरोपीय इतिहासकारों की यह योजना उनके गर्व का परिणाम है। इसीलिए स्पेंग्लर ने उन इतिहासकारों की निन्दा की है जो मिश्र और बैबिलोनिया की सभ्यता को यूनानी सभ्यता के इतिहास की भूमिका मात्र मानते हैं, तथा भारत और चीन की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों को नगण्य समझते हैं।

स्पेंग्लर के विचार में विश्व का इतिहास रेखीय आकार में कल्पनीय न होकर महान् संस्कृतियों का खेल है। प्रत्येक संस्कृति एक निश्चित क्षेत्र में जन्म लेती है। प्रत्येक सस्कृति के लोगों और सामग्री पर उसकी अपनी छाप होती है। प्रत्येक संस्कृति अपने कुछ विशिष्ट भाव, संकल्प, विचार और जीवन-पद्धति से जुड़ी होती है, जिनका उत्थान भी होता है और पतन भी। यह निश्चित है कि संस्कृतियाँ, जातियाँ, भाषाएँ, सत्य, देवता, भू-प्रदेश ऐसे ही विकसित और परिपक्व होते हैं जैसे वृक्ष पर पत्तियाँ लगती हैं, फूल खिलते हैं या उपशाखाओं में उसका विकास होता है—परन्तु "मानवता" के साथ ऐसा नहीं होता। प्रत्येक संस्कृति की आत्माभिव्यक्ति की अपनी नई सम्भावनाएँ होती है जिनका जन्म होता है, उनमें प्रौढ़ता आती है और वह विनाश को भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त होती है, लेकिन कभी भी वह अपने पूर्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती। कोई भी ऐसी मूर्त्ति या चित्र, गणित या भौतिक-शास्त्र का सिद्धान्त नहीं है जो एक जैसे हों। परन्तु प्रत्येक कहीं आधारभूत रूप में एक दूसरे से भिन्न है। और प्रत्येक अपने में पूर्ण, निश्चित अवधि में आबद्ध है। जिस प्रकार प्रत्येक पौधा अपने निश्चित समय में जन्म लेता और समाप्त होता है, उस पर एक विशेष प्रकार का फूल और फल लगता है, ये संस्कृतियाँ उत्कृष्ट जीवन तत्त्व ग्रहण करती हैं और पुष्प के समान एक दिव्य निरुद्देश्यता में विकसित होती हैं। वस्तुतः ये न्यूटन की निर्जीव सृष्टि का तत्त्व न होकर पौधों और पशुओं के समान गेटे की सजीव सृष्टि का तत्त्व हैं। स्पेंग्लर की दृष्टि में "विश्व-इतिहास एक अन्तहीन निर्माण एवं परिवर्तन का क्रम है जिसमें सजीव रूप अद्भुत रूप में बनते विगड़ते रहते है। इसके विपरीत सामान्य इतिहासकार इसे एक प्रकार के कीड़े के रूप में देखता है जो बहुत ही श्रमपूर्वक समय के साथ-साथ अपने आकार में वृद्धि करता चला जाता है।"

स्पेंग्लगर की उपरोक्त मान्यता उसके मुख्य विचारों और उसकी इस अन्तर्ज्ञानिपाक प्रवृत्ति की द्योतक है कि इतिहास के अध्ययन का केन्द्र राष्ट्र या जाति न होकर संस्कृति होनी चाहिए। प्रत्येक संस्कृति प्रारम्भ से ही लायब्नीजीय मोनड के समान है जो कि अपनी मृत्यु- पर्यन्त सर्वथा पृथक् रहता है, इसलिए संस्कृति का प्रारम्भ और अन्त एक जीव के समान है। स्पेंग्लर के द्वारा इतिहास की प्रकृति के वर्णन में संस्कृतियों की जीवों से तुलना करना विचारोत्तेजक है। इसलिए उसके अनुसार इतिहास के निर्माण में अथवा ऐतिहासिक विचारों को समझने के लिए दृष्टान्त वरदान है। यही एक ऐसा सरल आधार है जिसके द्वारा इतिहास की समस्याओं का समाधान हो सकता है। वास्तव में विश्व-इतिहास संस्कृतियों की जीवनी है, इसलिए भूतकालीन और भावी इतिहास सभी का मौलिक विषय संस्कृति है। जिस प्रकार एक तितली का कोई विचार, लक्ष्य या योजना नहीं होती है, उसी प्रकार मानवजाति तितली से बढ़ कर नहीं है क्योंकि उसकी भी कोई विचार, लक्ष्य अथवा योजना नहीं होती है। वास्तव में, मानव जाति एक जैविक अभिव्यक्ति है अथवा एक निस्सार शब्द।

विश्व-इतिहास का अध्ययन करने के लिए स्पेंग्लर ने सजीवी तर्क ["Organic logic"] का प्रारम्भ किया। उसका विश्वास था कि इतिहास के मूल तत्त्व को आत्मसात करने का एकमात्र तरीका इतिहास और प्रकृति की विसंगति का समझना है। वास्तव में इतिहास की दुनियाँ एक विभिन्न रचना और स्वरूप वाली दूसरी सृष्टि है, जिसको दर्शनशास्त्रियों ने प्राकृतिक जगत् की तुलना में बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया। जिस प्रकार प्राकृतिक जगत् है उसी प्रकार एक इतिहास-जगत् भी है। अर्थात् कार्य-कारण के आधार पर घटित ऐतिहासिक घटनाओं का संयोजन स्पेंग्लर के विचार में और कुछ न होकर दूसरे रूप में प्रकृति-विज्ञान का ही एक टुकड़ा है। यही नहीं प्रकृति को जहां वैज्ञानिक तरीके से समझा जा सकता है वहाँ इतिहास को भाव के द्वारा। इतिहास को सत्य-असत्य के द्वारा नहीं समझा जा सकता; इतिहास जीवनमय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। मुख्य बात यह नहीं है कि ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? स्पेंग्लर के अनुसार मुख्य बात उन तथ्यों में निहित आशय है अथवा इसमें कि उनसे क्या सिद्ध होता है। उसके लिए ऐतिहासिक तथ्यों का मूल्य केवल सांकेतिक है। इस संदर्भ में स्पेंग्लर गेटे को अपना गुरु मानकर यहां तक कहता है कि वह प्रतीकमय है। वास्तव में प्रतीक ही ऐतिहासिक सृष्टि के केन्द्र-बिन्दु हैं।

इसी आधार पर स्पेंग्लर ने इतिहास के स्वरूप की रचना की है। स्टूअर्ट ह्यूज़ के शब्दों में स्पेंग्लर की पुस्तक की प्रमुख विशेषता उत्तर-कालीन यूनान को वर्त्तमान युग के समानान्तर रखना था। यही पुस्तक की मुख्य विशेषता है। स्पेंग्लर के अनुसार यह सिद्धान्त किन्हीं दो सभ्यताओं के संदर्भ में सही है, अर्थात् यदि हम किसी सभ्यता के जीवन की एक अवस्था जानते हैं तो उसके समानान्तर किसी भी दूसरी सभ्यता के जीवन में इस प्रकार की अवस्था का दर्शन कर सकते हैं। क्योंकि सभी संस्कृतियों के जन्म, विकास और पतन की अवस्थाएँ आधारभूत रूप में एक-जैसी ही होती है।

इस प्रकार स्पेंग्लर ने 'समकालीन' शब्द को समरूपता (Homology) के आधार पर नया अर्थ दिया। उसके अनुसार समरूपता के सिद्धान्त का ऐतिहासिक संदर्भ में प्रयोग करने से 'समकालीन' का पूर्णतया एक नया अर्थ निकलता है। वह उन ऐतिहासिक तथ्यों को समकालीन मानता है जो विभिन्न संस्कृतियों में सापेक्षतः एक जैसे घटित हुए हों। इसलिए वह नितान्त एक-जैसा महत्त्व रखते हैं। उदाहरण के लिए आयोनिक कला बैरोक कला के समकालीन है तो पौलिग्नोटस (Polig-gnotus) तथा पौलिक्लाईटस् (Polycleitus) क्रमश: रैम्बरान्त (Rambrandt) और बाक (Bach) के। स्पेंग्लर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति में धार्मिक सुधार और और अतिनैतिकता का उदय ही नहीं, उनमें सभ्यता का उदय भी साथ-साथ होता है; यूनानी युग के फिलिप और सिकन्दर समकालीन हैं, यही नहीं स्पेंग्लर की दृष्टि में सिकन्दरिया, बगदाद और वॉशिंगटन के भवन भी समकालीन हैं; ऑगस्टस शि-ह्वॉग्ति के समकालीन है तो हैनीबल की समकालिकता प्रथम महायुद्ध से है। इस प्रकार उसने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कला, विज्ञान, धर्म और राजनीति की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण रचना सभी संस्कृतियों में समकालीन रूप से प्रत्यक्ष और लुप्त होती है। उसने पश्चिमी इतिहास की अभी भी अधूरी अवस्थाओं के आध्यात्मिक स्वरूप, काल, विधि, गति, अर्थ पहले से ही निश्चित करने का प्रयास किया। यही नहीं, उसने बहुत पहले विलुप्त हो गये अज्ञात युगों का भी पुनर्निर्माण किया और यहाँ तक कि पहले की सम्पूर्ण संस्कृतियों का उसी प्रकार स्वरूपनिर्धारण किया जिस प्रकार आधुनिक अवशेष-विज्ञान (Palaeontologist) उत्खनन में प्राप्त एक खोपड़ी के आधार पर प्रजातियों और उनके कंकाल के विषय में दूरगामी और विश्वस्त निष्कर्ष निकाल लेते हैं।

समरूपता के सिद्धांत के आधार पर ही संस्कृतियों के विभिन्न युगों की व्याख्या की गई और इसी आधार पर इतिहास का स्वरूप निर्धारित हुआ। प्रत्येक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृति बाल्यावस्था, यौवन, प्रौढ़ावस्था और वार्धक्य के दौर से गुजरती है अथवा उसके जीवन में बसन्त, ग्रीष्म, पतझड़ और शिशिर का प्रादुर्भाव होता है। जो भी हो संस्कृतियाँ, स्पेंग्लर के शब्दों में, अपने पूर्व-निर्धारित जीवन-क्रमों में, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त लगभग एक हज़ार वर्ष, गुज़रती हैं। एक संस्कृति कैसे जन्म लेती है अथवा संस्कृति का आरम्भ कैसे होता है, इसका स्पेंग्लर ने न कोई विश्लेषण किया है और न ही इस विषय में किन्हीं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वास्तव में स्पेंग्लर के विचार से संस्कृति के जन्म की व्याख्या रहस्यमयी है। संस्कृति का जन्म उस क्षण में होता है जब आरम्भिक मानव जाति की आध्यात्मिकता से एक महान् आत्मा निराकार से आकार लेकर, नित्य और असीम से मृत्यु और सीमित रूप लेकर अपने को पृथक् कर जाग्रत होती है। संस्कृति का प्रस्फुटन एक निश्चित भू-प्रदेश में होता है जहाँ वह पौधे की भाँति उस भूमि में जड़ी रहती है। जैसे पौधा फूल और फल देने के पश्चात् समाप्त हो जाता है वैसे ही संस्कृति भी समाप्त हो जाती है जब उसकी आत्मा पूरी सम्भावनाओं के साथ उससे सम्बद्ध मनुष्यों, भाषाओं, सिद्धान्तों, कलाओं, राज्यों, विज्ञानों के रूप में विकसित होकर पुनः प्रागात्मा में प्रत्यावर्तित हो जाती है अर्थात् इस क्रम में जब सम्भावनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती है और बाह्य रूप से वास्तविक बन जाती हैं संस्कृति के सारे सार-तत्त्व ठोस होकर स्वरूप धारण करते हैं, उसकी शक्ति का ह्रास होता है और वह सभ्यता में परिवर्तित हो जाती है।

स्पेंग्लर ने संस्कृति को मूलतः चार कालों के संदर्भ में देखा है। संस्कृति का सर्वप्रथम काल उसका 'बसन्त' काल है (इसे विको के "दैवी-युग" के समकक्ष माना जा सकता है)। यह धर्म-निष्ठा का काल है। इस युग के मनुष्य धर्म-भीरु हैं जिसमें धार्मिक चेतना का विकास होता है। उदाहरण के लिए भारत में यह युग वैदिक संहिताओं का काल है और यूनान में ओलम्पिक देवताओं का। इसके बाद संस्कृति के जीवन का दूसरा काल 'ग्रीष्म' काल है, अर्थात् संशय का युग जबकि सांस्कृतिक आत्म-बोध के साथ-साथ एक आलोचनात्मक मनोभाव का भी जन्म होता है। संस्कृति के इस काल में विशिष्ट दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। यह भारतीय संस्कृति का वह काल है जब उपनिषद् लिखे गए और फ़ाउ-स्टियन संस्कृति में यह लुटर और देकार्त का युग था। इसी समय, कला के क्षेत्र में यूनान में डौरिक शैली के पश्चात् क्लासिकल और पश्चिम में गौथिक शैली के पश्चात् बैरोक शैली का विकास होता है। संस्कृति का तीसरा काल 'पतझड़' का है जिसमें संस्कृति अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। यह बौद्धिक पराकाष्ठा का युग है जिसका मूलधार तर्क था। यही कारण है कि इस समय धर्म को भी बौद्धिक दृष्टिकोण से देखा गया। इस समय जहाँ भारत में बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो यूनान में सुकरात और प्लेटो ने तत्कालीन दर्शन को अपने तार्किक संवादों से भर दिया। पश्चिम में यही युग बौद्धिक तर्क-चेतना का है; इसी युग में यहाँ पर अनेक विश्व-कोष लिखे गये जो विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण पर आधारित थे। संस्कृति का चौथा और अन्तिम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल 'शीत' का या महानगरीय सभ्यताओं के उदय का काल है । इस युग में संस्कृति न केवल अश्मीभूत होकर निर्जीव हो गई, बल्कि वह अपने प्रतिरूप 'सभ्यता' में प्रत्यावर्तित हुई । इस युग में संशयवादी दर्शन और भौतिकवाद की प्रधानता रहती है, विज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म होता है और धार्मिकता का पतन होता है । इस युग में जनता के लोकप्रिय तन्त्र—प्रजातन्त्र-की परिणति कैसरवाद में होती है । इस प्रकार पश्चिम की स्थिति भी ऐसी ही है जहाँ अध्यात्मिकता की भावना निःशेष हो चुकी है । इस प्रकार की निस्सार परिस्थिति में न तो कुछ उद्‌भूत हुआ न हो ही सकता है ।

स्पेंग्लर के अनुसार सभ्यता के उत्तर-काल की राजनीतिक संस्थापना कैसर-वाद की है । उसने घोषित किया कि कैसरवाद के साथ प्रत्येक संस्कृति में फिर से धर्म-परायणता का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है । लेकिन धर्म-परायणता के इस पुन-र्जाग्रत रूप में संस्कृति के प्रारम्भ की वह सर्जनशील शक्ति नहीं है जिससे कुछ निर्माण हो सके । इस समय न तो किसी नए विचार का प्रारम्भ होता है और न ही कोई नया निर्माण होता है । केवल ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोहरा हटने पर भूमि के दर्शन होते हैं । और पुराने आकार पहले धुँधले दिखाई देते है लेकिन तत्काल ही शीघ्रता से स्पष्ट हो जाते है । प्रकृत्या, द्वितीय धर्मपरायणता मूलतः पहले जैसी विशुद्ध, युवा धर्मपरायणता है । इसका प्रारम्भ उस समय होता है जबकि निराश्रयता की स्थिति में बौद्धिकवाद समाप्त होने लगता है । उसके बाद संस्कृति का बसन्त-कालीन स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और अन्त में, जैसा इस युग में प्रत्येक संस्कृति में देखा जाता है, शक्तिशाली आदिम धर्म की दुनियाँ, जो प्रारम्भिक निष्ठा के महान् स्वरूप के सामने पीछे हटती गई और पृष्ठभूमि में चली गई थी, लोकप्रिय संहतिवाद के रूप में सामने आती है । द्वितीय धार्मिकता को निश्चित संस्थाओं के रूप में ढालने का प्रयत्न किया जाता है जिन्हें धार्मिक सम्प्रदायों, संघों का नाम दिया जाता है, जो पूर्णतः बसन्त-कालीन जीवित आकारों के पुनर्निर्मित निर्जीव रूप हैं । पश्चिमी जगत् पर इस धार्मिकता का प्रभाव अभी तक बहुत कम पड़ा है, परन्तु कैसरवाद का युग इस समय पश्चिम पर छाया हुआ है । स्पेंग्लर के शब्दों में हमारा वर्त्तमान युग महान् अन्तरद्वन्द्वों का युग है और इस अपरिवर्तनशील नियति से कोई छुटकारा नहीं है । स्पेंग्लर ने आगे कहा है कि इसका अब एक ही विकल्प है—या तो दृढ़ रहा जाय या पराजय स्वीकार कर ली जाय, इसके अतिरिक्त कोई मध्यम-मार्ग नहीं है । लेकिन जैसा उसकी पुस्तक में संकेत दिया गया है पराजय का ही एकमात्र मार्ग है ।

स्पेंग्लर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति का एक 'विशिष्ट' रूप होता है जिस पर उसका जीवन निर्भर करता है और उसी पर संस्कृति के अनेक उपरूप स्थित होते हैं । संस्कृति के विशिष्ट स्वरूप की योजना 'परम प्रतीक' पर निर्भर करती है और 'परम प्रतीक का निर्णय संस्कृति के जागरण के समय होता है । और जाग्रति के क्षण में दिग्बोध परम प्रतीक का निश्चय करता है । संस्कृति की जाग्रति और विद्यमानता की अन्तराल और समय के आकस्मिक अर्थग्रहण से एक गहरी एकात्मकता है । यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम प्रतीक ही संस्कृति की विशिष्ट शैली और ऐतिहासिक आकार ग्रहण करने की सम्भावनाएँ प्रदान करता है। स्पेंग्लर विस्तार को संस्कृति का 'परम प्रतीक' मानता है और परम प्रतीकों में अनेकता है। अन्तर-विस्तार के अनुभव से ही विश्व आकार ग्रहण करता है और अनुभव के द्वारा ही विश्व को समझा जा सकता है। किसी विशिष्ट भूमि की संस्कृति के आत्म-बोध के जागरण के क्षणों में ही परम प्रतीक का निश्चयन होता है—और यही क्षण इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है, इन्हीं में संस्कृति का जीवन-क्रम निश्चित होता है। स्पेंग्लर के अनुसार 'परम प्रतीक' प्रत्येक मनुष्य, समुदाय, काल की मनः स्थिति से सक्रिय रूप से सम्बद्ध है और उसी से प्रत्येक जीवन की अभिव्यक्ति की शैली निश्चित होती है। यह राज्य के आकार, धार्मिक-मिथक, सम्प्रदाय, नैतिक आदर्शों, चित्र, संगीत, कविता के आकारों और मौलिक वैज्ञानिक विचारों में अर्न्तनिहित होता है—परन्तु इन सब के द्वारा व्यक्त नहीं होता। साथ ही साथ, इसे शब्दों में व्यक्त करना भी कठिन है क्योंकि भाषा और शब्द तो स्वयं व्युत्पन्न प्रतीक हैं।

स्पेंग्लर ने विभिन्न संस्कृतियों के मूल्यों को सर्वथा पृथक् पृथक् माना है अर्थात् उसके विचार में किन्ही दो संस्कृतियों के मिलन की कोई सम्भावना है ही नहीं। लेकिन स्पेंग्लर की संस्कृतियों के "कृत्रिम-परिवर्तन" की अवधारणा से प्रायः ऐसा आभास मिलता है जैसे संस्कृतियों के मिलन के सम्बन्ध में उसके विचारों में कोमलता आ सकती है। इसलिए उसने "कृत्रिम परिवर्तन" को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "ऐतिहासिक कृत्रिम परिवर्तन" से उनका तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें एक नई तत्काल जन्मी संस्कृति पर जब एक प्राचीन विदेशी संस्कृति अपनी सम्पूर्णता में इस प्रकार छा जाती हैं कि नई संस्कृति का दम घुटने लगता है और वह अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाती हैं; तब इसके आत्मबोध का विकास रुक जाता है। नई संस्कृति के अन्तस्तल से उद्‌भूत विचार पुरानी संस्कृति द्वारा प्रदत्त साँचों में ढल जाते हैं। युवा भावनाएँ जराग्रस्त और रूढ़िगत कृतियों का रूप लेती हैं और स्वयं की रचना-शक्ति के बल पर नवीन रूप में विकसित होने के स्थान पर यह इस दूसरी संस्कृति से घृणा करती है और यह घृणा प्रायः भयानक रूप ले लेती है। उदाहरण के लिए ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में नील नदी की घाटी से लेकर दजला और फरात, काला सागर और दक्षिणी अरब तक हेलेनिक संस्कृति का प्राबल्य था, लेकिन स्पेंग्लर की दृष्टि में इस क्षेत्र में यह युग मेजियन संस्कृति के उदय का हैं। इसलिए ईसा की चार शताब्दियों तक यहां पर साथ-साथ दो संस्कृतियों का अस्तित्व बना रहा। दूसरी संस्कृति जिसे कृत्रिम-परिवर्तन का सामना करना पड़ा, रूसी संस्कृति है। यद्यपि रूसी संस्कृति के विकास में कोई बड़ी संस्कृति बाधक नहीं हुई, परन्तु निकट की पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल प्रभाव के कारण यह समय के पहले ही परिपक्व हो गई। इससे इस संस्कृति का वास्तविक स्वरूप और उसकी प्राप्ति का मार्ग विस्तृत हो गया। इसीलिए स्पेंग्लर का यह दृढ़ मत है कि एक राष्ट्रीयता, जिसका कई पीढ़ियों तक कोई इतिहास नहीं होता एक कृत्रिम और झूठे इतिहास से

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्बद्ध हुई। प्राचीन रूसी संस्कृति इस तथ्य को समझने में असमर्थ रही। रूस पर पश्चिमी संस्कृति का चाहे कुछ भी प्रभाव रहा हो, लेकिन स्पेंग्लर के मत में वह तकनीकी और वैज्ञानिक तत्त्वों के स्वीकार से ज्यादा और कुछ नहीं था। निष्कर्ष रूप में इन दोनों संस्कृतियों में किसी प्रकार के प्रतीकों या आधारभूत मूल्यों का आदान-प्रदान हुआ, स्पेंग्लर इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

उपरोक्त विवेचन से स्पेंग्लर का इतिहास का स्वरूप स्पष्ट होता है। उसका इतिहास-दर्शन अत्यधिक अग्रशील है। संस्कृतियों का जन्म 'क्यों' और 'कैसे' होता है, इस प्रश्न का उत्तर बहुत संतोषजनक नहीं है, क्योंकि उसके विचार में इसकी व्याख्या रहस्यमय है फिर भी स्पेंग्लर का विवेचन, संस्कृति के जन्म की व्याख्या उसके दार्शनिक विचारों के अनुरूप ही है। इस विषय में क्रोबर का मत उल्लेखनीय है। उसके अनुसार संस्कृतियों का उद्भव कैसे होता है, इस विषय में एक संतुलित विचार अपनाना ही वांछनीय है और सबसे सरल और सन्तुलित उत्तर स्पेंग्लर का है जो सम्पूर्णतः 'परम प्रतीक' के सिद्धान्त से उद्भूत है। लेकिन यह उत्तर एकपक्षीय है जिसमें ज्ञात को उससे बताया गया है जो अपेक्षया कम ज्ञात है। यह 'परम प्रतीक' कारण न होकर विषय के पश्चात् उद्भूत हुआ है; इस दृष्टि से कारण उद्देश्यवादी प्रतीत होता है। परन्तु कारण को भूलकर स्पेंग्लर नियति की बात करता है। लेकिन इससे उसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से संस्कृतियों और उनके उद्भव होने के कारण का प्रश्न स्पष्ट नहीं होता। स्पेंग्लर ने 'परम प्रतीक' की सार्वत्रिक विद्यमानता पर बहुत बल दिया है—उदाहरण के लिए, उसकी टिप्पणी कि रैम्बरान्त के 'चित्रों' में प्रयुक्त भूरा रंग बीथोवन की संगीत-रचना का रंग है। इसके अतिरिक्त संस्कृति के एकत्व में विश्वास भी विशेष संतोषजनक नहीं है। यह प्रस्थापना अजीब सी है कि संस्कृति केवल प्रतीकों का संचयनमात्र है। यद्यपि प्रतीकात्मकता की दृष्टि से भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है, यूनानी सौन्दर्य-परक और आधुनिक-पश्चिमी तकनीक-प्रधान, लेकिन फिर भी यूनानी संस्कृति केवल सौन्दर्य-परक और भारतीय केवल आध्यात्मिक ही नहीं है, उनमें और भी तत्त्व विद्यमान है। वास्तव में स्पेंग्लर ने प्रतीक को अत्यधिक महत्त्व दिया है जैसे प्रतीक के अलावा और कुछ है ही नहीं।

स्पेंग्लर का मुख्य उद्देश्य प्राचीन क्लासिकल युग तथा आधुनिक पश्चिमी जगत् की समानान्तरता से पश्चिम का पतन दिखाना था। इसके लिए पश्चिमी इतिहासकारों के द्वारा इसकी कटु आलोचना की गई जिसमें टायन्बी का नाम उल्लेखनीय है। लेकिन यहां पर यही कहना पर्याप्त होगा कि स्पेंग्लर की विचारधारा में नैतिक जिम्मेदारी के लिए कोई स्थान नहीं है। अर्थात् इतिहास-क्रम में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है जबकि इतिहास व्यक्तियों के कार्य और उपलब्धियों का लेखा-जोखा है। इस दृष्टि से स्पेंग्लर का इतिहास-दर्शन संशयात्मक है।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७

टायन्बी : इतिहास–स्वरूप

प्रथम विश्व-युद्ध ने प्रगति के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। उस युग की प्रवृत्ति निराशावादी थी। (जहाँ तक अजेय अंग्रेजों का सम्बन्ध हैं, यह निराशावाद न्याय-संगत था।) टायन्बी ने भी नव स्पेंग्लरवादियों की भाँति अपने कार्य का प्रारंभ एक निराशाजनक दृष्टि से किया। उसके द्वारा सभ्यताओं को ऐतिहासिक अध्ययन की इकाई मानने से लेकर पराभव (पतन) के अध्ययन तक से यह स्पष्ट है कि उस पर स्पेंग्लर का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि टायन्बी मात्र एक 'नव-स्पेंग्लरवादी' ही रह जाता यदि द्वितीय महायुद्ध न होता। द्वितीय महायुद्ध ने उसे पुनः निराशावादी न बनाकर उसके मस्तिष्क पर पूर्णतः विपरीत प्रभाव डाला। इस ऐतिहासिक घटना ने टायन्बी में विक्टोरिया युग के प्रगति संबंधी विश्वासों को पुनः स्थापित किया परन्तु यह पुनर्स्थापन इस बार धर्म के क्षेत्र में हुआ। (टायन्बी की कृति 'ए स्टडी ऑफ हिस्टरी' के बाद के खण्ड उल्लेखनीय रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लिखे गये थे।) 'पश्चिम का पतन' टायन्बी के सम्मुख उत्पन्न समस्याओं में से एक प्रमुख समस्या है। वास्तव में जिस प्रकार वह स्पेंग्लर की प्रागनुभव पद्धति की आलोचना करता है उससे हमारा यह विश्वास बनता है कि उसने स्पेंग्लर के संदर्भ में उसके विरुद्ध अपने अनुभववाद का प्रयोग किया है।

जब टायन्बी ने प्रथम बार स्पेंग्लर को पढ़ा तब उस पर यह प्रतिक्रिया हुई— 'मुझे आश्चर्य हुआ कि कहीं स्पेंग्लर ने मेरे दिमाग में शोध-सम्बन्धी समस्याओं व समाधानों के एक स्वरूप ग्रहण करने के पूर्व ही मेरे समस्त शोध को ठुकरा तो नहीं दिया।' प्रो० टायन्बी का एक आधारभूत विचार यह था कि 'ऐतिहासिक अध्ययन की सबसे छोटी सुबोधगम्य इकाई सम्पूर्ण समाज होता है न कि एक पक्षीय रूप से निर्धारित उनके कुछ अंश जैसे आधुनिक युग के राष्ट्र-राज्य अथवा यूनानी-रोमन युग के नगर-राज्य।' टायन्बी के कार्य का एक और महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि 'सभी सभ्यताओं का इतिहास कुछ निश्चित संदर्भों में समानान्तर और समसामयिक होता है।' लेकिन उसका कहना है कि 'जब मैंने सभ्यताओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित अपने प्रश्न के उत्तर स्वरूप स्पेंग्लर की पुस्तक को देखा, मैंने पाया कि स्पेंग्लर बिना अपनी स्थापनाओं को प्रकाशित किए हुए नितान्त मताग्रही और नियतिवादी था।' 'जबकि जर्मन प्रागनुभव पद्धति निरर्थक सिद्ध हुई, हमें यह देखना होगा कि अंग्रेजी अनुभववाद से क्या उपलब्ध होता है।' लेकिन हमें टायनबी के अनुभववाद से सम्बन्धित दावे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को सर्वथा सत्य रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं हैं। अनुभववाद दर्शन के बजाय एक अवस्थान-भङ्गी मात्र है, अधिक से अधिक यह शोध की एक पद्धति है। अंग्रेज दार्शनिक स्वभावतः बुद्धिवाद की तुलना में अनुभववाद का विरोध करते हैं। बुद्धिवाद की तुलना वे हीगेलवाद से करते हैं। टायन्बी महसूस करता है कि वह हीगेल-वादी नहीं है, वह यह भी सोचता है कि वह अपने आपको इमानदारी से अनुभववादी की संज्ञा प्रदान कर सकता है।

प्रो० टायन्बी ने सभ्यताओं की समसामयिकता तब समझी जब १९१४ में वह अपने विद्यार्थियों को थ्यूसिडाइडिस पढ़ा रहे थे। उल्लेखनीय है कि थ्यूसिडाइडिस ने 'हिस्ट्री ऑफ पेलोपोनीशियन वॉर' (४३१ ई० पू०) लिखी थी। टायन्बी इस तिथि को हेलेनिक समाज के विघटन की तिथि मानता है। उसने लिखा है "वह अनुभव जो हम आधुनिक विश्व में अर्जित कर रहे थे (१९१४ की घटनाओं के रूप में) उन्हें थ्यूसिडाइडिस ने अपने समय में अनुभूत किया था..........ऐसा प्रतीत होता है कि थ्यूसिडाइडिस इससे पहले इस धरातल पर हो चुका था। वह और उसकी पीढी उन ऐतिहासिक अनुभवों की दृष्टि से मुझसे व मेरी पीढ़ी, दोनों से आगे थे, जिन तक हम पहुंचे थे; वस्तुतः उसका वर्त्तमान मेरा भविष्य रहा था। इस स्थिति ने काल-क्रम निर्धारण की उस व्यवस्था को निरर्थक ठहरा दिया जिसके अन्तर्गत मेरा युग 'आधु-निक' और थ्यूसिडाइडिस का युग 'प्राचीन' था। काल-क्रम कुछ भी कहे, दार्शनिक स्तर पर थ्यूसिडाइडिस का युग और मेरा युग समकालीन सिद्ध हो चुके थे। यदि यूनानी-रोमन और पश्चिमी सभ्यताओं के बीच इस प्रकार का सामयिक सम्बन्ध हो सकता था तो शेष अन्य सभ्यताओं के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध क्यों नहीं स्थापित हो सकता ?" जैसाकि इस उद्धरण से स्पष्ट होता है टायन्बी यूनानी-रोमन सभ्यता के इतिहास को सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के प्रतिमान (model) के रूप में ग्रहण करता है। यद्यपि एक पृथक् कोटि के रूप में सभ्यताओं का उदय आज से ६,००० वर्ष पूर्व हुआ था, खगोलीय काल-क्रम की दृष्टि से सभी सभ्यताएँ समसा-मयिक है।

इस तुलनात्मक पद्धति की सामान्य आलोचनाओं में से एक आलोचना यह की जाती है कि यद्यपि सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन सिद्धान्त में तो सम्भव है, परन्तु सामग्री की असाध्यता के कारण यह व्यवहार में असम्भव है। सभ्यताओं के इतिहास मात्र 'तथ्यों' और 'घटनाओं' की कड़ी हैं और प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य अवि-भाज्य रूप से विलक्षण है। अतः वह दूसरे तथ्य से निश्चित रूप से अतुलनीय है। इस आलोचना का टायन्बी ने उत्तर दिया है। उसका कहना है कि यद्यपि कुछ स्थितियों में प्रत्येक 'घटना' विलक्षण और अतुलनीय है, लेकिन वह इस स्थिति में भी किसी वर्गविशेष में आ सकती है और वह अपनी वर्गीकृत स्थिति में अन्य वर्गों के साथ तुलनीय हो सकती है। कोई भी दो जीवित शरीर-रचनाएँ तत्सम नहीं हैं, जैसे जानवर और पौधे, लेकिन इसके बावजूद प्राणिविज्ञान, वनस्पति विज्ञान तथा मानव जाति-विज्ञान की वैधता समाप्त नहीं होती। अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टायन्बी अरस्तु के कृतित्व का सहारा लेता है। अरस्तु के अनुसार मानव जीवन की घटनाओं और अपने विचार-बिन्दुओं को समझने की तीन पद्धतियाँ हैं—

१. तथ्यों का सुनिश्चितीकरण और उनका संग्रह
२. तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा कुछ सामान्य नियमों की व्याख्या, और
३. 'कल्पना' के रूप में तथ्यों की कलात्मक पुनर्रचना।

सामान्यत: यह स्वीकार किया जाता है कि तथ्यों का सुनिश्चितीकरण और उनका संग्रह इतिहासज्ञों की कला है और इस क्षेत्र की घटनाएँ सभ्यताओं की सामाजिक घटनाएँ हैं; सामान्य नियमों का निर्धारण विज्ञान की तकनीक है और मानव जीवन के अध्ययन में विज्ञान मानवशास्त्र है तथा इस क्षेत्र में अध्ययन की जाने वाली घटनाएँ आदि-समाजों की सामाजिक घटनाएं है और अन्त में यह कि कल्पना विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन है। लेकिन अध्ययन के तीनों विभागों की तकनीकों के बीच यह अन्तर उतना सुस्पष्ट नहीं है जितना हम मान कर चलते हैं। उदाहरण के लिए, इतिहास का उद्देश्य मानव जीवन के समस्त तथ्यों का संग्रह नहीं और न ही मात्र तथ्यों का संग्रह ही उसका उद्देश्य है। इतिहास आदि-समाजों से सम्बन्धित सामाजिक जीवन के तथ्य मानवशास्त्र को सौंप देता है। यह कल्पना से भी मुक्ति नहीं पा सकता। इसके अतिरिक्त इतिहास तथ्य-संग्रह के साथ साथ विधि का भी प्रयोग करता है। यही बात विज्ञान और कल्पना के ऊपर भी लागू होती है। वे सभी विषय जो अब विज्ञान हैं एक बार तथ्य-संग्रह की प्रारम्भिक अवस्था से होकर गुजर चुके हैं। उपन्यास और नाटक पूर्णत: कल्पना का प्रतिनिधित्व नहीं करते, उनकी पृष्ठभूमि में प्रामाणिक सामाजिक तथ्य होते हैं। कल्पना इस पृष्ठभूमि को पूर्वप्राप्त मान कर ही चलती है।

इसके बावजूद अरस्तु का वर्गीकरण सामान्यत: वैध है। यह उल्लेखनीय है कि ये तकनीक विभिन्न प्रकार के तथ्यों की उपयुक्तता के संदर्भ में परस्पर भिन्न हैं। तथ्यों का सुनिश्चितीकरण और संग्रह उसी स्थिति में किया जा सकता है जबकि वे संख्या की दृष्टि से काफ़ी कम हों। नियमों का निर्धारण उसी स्थिति में आवश्यक और सम्भव है जबकि तथ्य इतने बहुसंख्य हो कि उनका संग्रह किया जा सके और कल्पना ही वह एकमात्र तकनीक है जो प्रयोग में लाने योग्य है और उस स्थिति में लाया जा सकता है जिसमें तथ्य बहुसंख्यक हों। सभ्यताओं में सामाजिक जीवन के अध्ययन से सम्बन्धित तथ्य अन्त:स्थ रूप से विलक्षण नहीं हैं बल्कि वे मात्र अस्थाई रूप से और संयोग से विलक्षण हैं। इस स्थिति में तथ्यों की उस मात्रा तक वृद्धि सम्भव हो सकती है जहाँ एक तुलनात्मक पद्धति द्वारा नियमों का निर्माण होता है। अत: प्रो. टायन्बी का कहना है कि अब तक सभ्यताओं के अध्ययन में तथ्यों की खोज से सम्बन्धित तकनीक का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। प्रो. टायन्बी का विश्वास है कि सभ्यताओं के अध्ययन में यदि सामग्री में इसी प्रकार अनिश्चित रूप से वृद्धि होती रही तो नियम--निर्धारण—तकनीक का प्रयोग तो दुष्कर होगा ही, बल्कि कल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी तकनीक का प्रयोग भी असम्भव हो जाएगा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अब हमें टायन्बी की सभ्यताओं की जीवन सम्बन्धी व्यवस्था पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। सभ्यताओं की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में उसका विचार है कि वे भौतिक अथवा भौगोलिक परिवेश का परिणाम नहीं हैं। वे वास्तव में एक अपरिभाष्य तत्त्व का परिणाम है, जो 'ऊपरी तौर से मनोवैज्ञानिक प्रकार का है।' अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए टायन्बी पुराण का आश्रय लेता है, 'प्लेटो ने मुझे सिखाया कि विज्ञान और मिथक दोनों का एक साथ प्रयोग अवांछनीय नहीं है। हमें एक क्षण के लिए वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रति अपनी आँखें मूँद लेनी चाहिए ताकि हम पुराणों की भाषा सुन सकें।'

'सभ्यताओं की उत्पत्ति का कारण कोई एक नहीं बल्कि अनेक हैं, यह अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं एक सम्बन्ध है।' सृष्टि दो अलौकिक व्यक्तित्वों के मिलन, उनकी अन्तः क्रियाओं का परिणाम है। हर बार यह योजना एक पूर्ण भिन्न राज्य के रूप में फलीभूत होती है। यह यांग से होकर क्यों गुजरती है?—"किसी बाह्य प्रेरणा या शक्ति के वशीभूत होकर" : एडम और ईव की निश्चित दुनियाँ में शैतान का प्रवेश, फाउस्ट की दुनियां में मेफिस्टो का प्रवेश जो कि ज्ञान के क्षेत्र में पूर्ण है या पौराणिक भाषा में दैवी सृष्टि में शैतान की घुसपैठ। फाउस्ट का न्यू स्टेटामेंट के अन्तर्गत, शैतान की विजय का निश्चित रूप से निषेध है। ज्यादा से ज्यादा वह ईश्वर का उद्देश्य पूरा करता है। लेकिन यह कहना कि ईश्वर ने एक ऐसी शर्त लगाई जो वह पहले से जानता था कि वह हारेगा नहीं, यह सिद्ध करना होगा कि यह मुठभेड़ ढोंग है। लेकिन टायन्बी का कहना है कि शैतान का प्रलोभन ईश्वर को सृष्टि की पुनर्रचना का अवसर देता है। इस तरह यिन से यांग तक का दौर पूरा होता है। इस नाटक का सारांश व्यक्ति की अग्नि–परीक्षा है; स्वर्ग में तो मात्र इसकी तैयारी ही होती है। अतः अगला चरण इस संकट का समाधान होता है जब व्यक्ति सजग रूप से ईश्वर की इच्छा का माध्यम बन जाता है। यह **वश्यता** एक और ब्रह्माण्डीय परिवर्तन लाती है और परिणाम फिर एक यिन राज्य के रूप में प्रकट होता है।

टायन्बी को पुराणीकरण से दूर रखते हुए या उसकी भाषा में 'मिथकों की प्रतिमावली को पुनर्अनूदित' करते हुए, यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति का कारण एक अन्तःक्रिया है। चुनौती (Challange and Response) विरोध और अनुक्रिया के इस विचार को लागू करने के लिए व्यक्ति का उसके वातावरण के संदर्भ में पुनः अध्ययन किया जाता है। जाति और वातावरण को एक नए संदर्भ में समझा जा सकता है क्योंकि एक अज्ञात तत्त्व ऐसा होता है जो सर्वाधिक सचेत व्यक्तियों की अवज्ञा करता है। यह तत्त्व अग्नि–परीक्षा के वक्त व्यक्तियों की प्रतिक्रिया पर आधारित होता है। तत्पश्चात् हमें विभिन्न सभ्यताओं की उत्पत्ति के विषय में पता लगता है। उदाहरण के लिए मिस्र की सभ्यता का जन्म अफ्रीकी एशियाई मरूस्थल शुष्कन की चुनौती के फलस्वरूप विकसित हुई थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुपयुक्त भौगोलिक स्थितियाँ अधिक सक्षम रूप से उत्तरदायी होती हैं। "सौन्द-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

र्यपूर्ण दुःसाध्य होता है;" यह स्थिति सभ्यताओं के लिए भी विरोधी है। कठिन परिस्थितियाँ कई तरह से लाभकारी सिद्ध होती हैं। "उदाहरण के लिए पीली नदी नौ–संचालन के लिए दुःसाध्य है और सामान्यतः याग्त्सी से अधिक कठिनाइयाँ पैदा करती है लेकिन इसके बावजूद भी पीली नदी के मुहाने पर भी सिकिन सभ्यता फली-फूली। नए धरातल भी प्रेरणा देते हैं जिससे आप्रवासियों में सृजनात्मक प्रतिभा दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ अमेरिका यूरोप के विभिन्न लोगों के एक साथ बस जाने के बाद समृद्ध हो गया। इसके अतिरिक्त यह प्रेरणा मानवीय स्वरूपों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के दण्डों, दबावों, युद्धों आदि में भी परिणत हो सकती है जिसके फलस्वरूप गुलामी, जातीय भेदभाव, दमन और निर्वासन अस्तित्व पा सकते हैं। फ़ारस के विरुद्ध युद्ध में हेलास हेलामिस की लड़ाई तक पराजयोन्मुख था लेकिन दबाव का फल यहाँ हासिल हुआ और सेलामिस में फ़ारसी लोग पूर्णतः नष्ट हो गए।

इसके बावजूद विरोध, चुनौती और अनुक्रिया के इस नियम की कुछ अनिवार्य शर्तें हैं: (१) जितनी अधिक चुनौतियाँ होंगी, उसी अनुपात में प्रेरणा होगी; (२) सर्वाधिक प्रेरणास्पद चुनौती अभाव और उसके आधिक्य के साधन के रूप में प्राप्त होती है। परन्तु एक निश्चित अनुपात के बाद चुनौतियों के अनुपात में वृद्धि हो और उसके साथ उसी अनुपात में अनुक्रिया का अनुपात न बढ़े तो हमें ज्ञात होगा कि चुनौती, विरोध और अनुक्रिया की अन्तःक्रिया 'ह्रासमान-उपलब्धि के नियम' से संचालित है। अतः प्रो. टायन्बी का यह निष्कर्ष है कि कठिनता का एक निर्धारित अनुपात है जिसके अन्तर्गत प्रेरणा चरम-बिन्दु पर होती है। वह इस स्थिति को चुनौती और विरोध की सर्वाधिक अनुपात की स्थिति न मानकर इष्टतम (श्रेष्ठतम) अनुपात की स्थिति मानता है।

किसी सभ्यता का विकास कैसे होता है, इस विषय में टायन्बी की अपनी मान्यता है। सभ्यता का विकास तब ही होता है जब व्यक्ति, अल्पसंख्यक वर्ग या सामाजिक वर्ग निरन्तर आने वाली चुनौतियों का सामना करते हैं और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। अर्थात् चुनौतियों का जवाब मिलता है, जिसकी प्रक्रिया के फलस्वरूप नई चुनौतियों का जन्म होता है और पुनः तत्सम्बन्धी सामाजिक वर्ग उसका उत्तर देता है। इसी क्रम की निरन्तरता में सभ्यता का विकास निहित है। लेकिन सभ्यता के विकास और लक्षण क्या हैं? टायन्बी इसको बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। सैनिक या सामाजिक शक्ति का विकास सभ्यता के विकास का लक्षण नहीं है, इसके विपरीत यह सभ्यता के पतन का संकेतक है। इसी प्रकार सभ्यता का भौगोलिक विस्तार या वैज्ञानिक और तकनिकी उपलब्धियां सभ्यता के विकास के द्योतक नहीं हैं। यद्यपि साधारणतः भौतिक विकास सभ्यता का लक्षण माना जाता है लेकिन टायन्बी ने भौतिक परिवेश को नगण्य मानकर, सभ्यता के संदर्भ में, उसे महत्व नहीं दिया। उसके विचार से सभ्यता का विकास आन्तरिक प्रक्रिया है। सभ्यता के विकास के लिए आत्म-निश्चय आवश्यक लक्षण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। सभ्यता का अपना पृथक् परिवेश बनता है जिसमें उसकी स्वय की चुनौतियाँ उत्पन्न होती है। अर्थात् बाह्य सृष्टि से आन्तरिक सृष्टि में क्रिया होती है। सभ्यता के विकास का नेतृत्व हमेशा रहस्यवादियों ने किया। रहस्यवादियों को अपने अनुयायी बनाने के लिए अपनी अंतःदृष्टि की छाप पूरे समाज पर लगानी होती है। लेकिन इसका सम्पादन कैसे किया जाय यह एक समस्या रही है, क्योंकि यदि रहस्यवादी इस प्रकार का परिवर्तन करना चाहें तो जन-सामान्य रहस्यवादियों के ज्ञान का उस प्रकार अनुभव नहीं कर सकता जिस प्रकार स्वयं उन्होंने किया है। लेकिन यह रचनात्मक प्रक्रिया असमंजसग्रस्त है, क्योंकि एक ओर रहस्यवादी अपने प्रयास में असफल होता है तो स्वतः ही वह अपने कार्य क्षेत्र से बाहर हो जाएगा और उसे सफलता मिली तो वह जन सामान्य का जीवन तब तक दुष्कर बना देगा जब तक वह स्वयं अपने प्रयत्न के द्वारा नए सामाजिक वातावरण को न समझें और सामान्य-जन की जड़ता के कारण इस प्रकार की आशा व्यर्थ है। इसलिए इस सभ्यता के केवल दो ही निदान सम्भव हैं—एक, कि मेधावी परिवर्तन के लिए सतत् प्रयत्न करता रहे या, दूसरी ओर, रहस्यवाद के द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाए। इनमें दूसरा निदान जिसमें एक-एक व्यक्ति को परिवर्तित किया जाता है निस्सन्देह आदर्श है, लेकिन ऐसे आदर्श से समाज की स्थापना सम्भव नहीं है और यदि मेधावी परिवर्तन के लिए सतत् प्रयत्न करता रहे तो सामान्य जन के द्वारा उसका अनुकरण सभ्यता के लिए उपादेय नहीं होगा क्योंकि अनुकरण के द्वारा जन-सामान्य को जो भी विचार सामग्री, सम्पत्ति या कोई विशिष्ट दृष्टिकोण प्राप्त होगा वह उनकी अपनी उपलब्धि न होकर मेधावी के प्रयासों की देन होगी। वास्तव में अनुकरण का मार्ग सरल मार्ग है और ध्येय को पाने के लिए आवश्यक भी है, लेकिन मूलतः संदिग्ध युक्ति है जो सभ्यता को विघटित होने की स्थिति तक ले जाती है।

सभ्यता का विघटन क्यों होता है। इस विषय में विचारकों में मतैक्य नहीं नहीं है। भारतीय परम्परा में जिस प्रकार युगों का प्रारम्भ और समाप्ति होती है उसी प्रकार सभ्यता का जीवन उस युग का छोटा काल है। जबकि स्पेंग्लर के अनुसार सभ्यता का विकास जैवकीय सिद्धान्त पर आधारित है इसलिए सभ्यता का विघटन अवश्यम्भावी है। एक मत के अनुसार प्रजातिगत वर्ण-संस्कार सभ्यता के विघटन का मूल कारण है। लेकिन टायन्बी के अनुसार सभ्यता से प्रजातियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सभ्यता के विघटन के लिए एक सामान्य धारणा यह भी रही है कि सभ्यताओं का उत्थान और पतन का मार्ग चक्रात्मक है अर्थात् सभ्यता का उत्थान हुआ है तो विघटन और पतन निश्चित है। लेकिन इस सम्बन्ध में टायन्बी का अपना मत है। उसके अनुसार सभ्यताओं का विघटन नियति-बाधित नहीं है और न ही स्पेंग्लर के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन सभ्यताओं के पतन के आधार पर भावी सभ्यताओं की कुण्डली ही बनाई जा सकती है। इसी प्रकार सभ्यता का विघटन न तो भौगोलिक क्षेत्र में सीमित होने से होता है और न ही इसका कारण मानव जन्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या नैसर्गिक विपत्तियाँ हैं। वस्तुतः सभ्यता के विघटन का आत्मघात है। जब व्यक्तियों या अल्पसंख्यकों में क्रियात्मक शक्ति का ह्रास होता है तब सभ्यता का विघटन होता है। विघटन होने के बाद मेधावी के अनुकरण का प्रश्न ही नहीं रहता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि पहले समाज में क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हुआ और मेधावियों ने शक्ति के द्वारा परिवर्तन लाना चाहा लेकिन सामान्य-जन-जड़ होने के कारण वैचारिक परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ जिसका परिणाम था संघभेद या सभ्यता का विघटन। अर्थात् व्यक्तियों में क्रियात्मक शक्ति का ह्रास ही टायन्बी के विचार में सभ्यता के विघटन का मूल कारण है जिसे उसने 'आत्मघात' की संज्ञा दी है।

सभ्यता के विघटन के समय समाज तीन भागों में बट जाता हैं–एक, सत्ताधारी अल्प संख्यक, दूसरा, आन्तरिक प्रोलेतेरिअत और तीसरा, बाह्य प्रोलेतेरिअत। यहां यह स्मरणीय है कि जैसा स्पेंगलर का मत था कि विघटन के बाद सभ्यता समाप्त हो जाती है वहाँ टायन्बी के अनुसार समाज के उपरोक्त तीनों भाग विघटन के पश्चात् भी उपलब्धि करते हैं। विघटन के समय में यह तीनों भाग निस्सारता की स्थिति में नहीं होते है बल्कि तीनों को ही महत्वपूर्ण काम करना होता है। आन्तरिक प्रोलेतेरिअत बाहर से प्रेरणा लेकर विश्वजनीन धर्म की सृष्टि करता है, जबकि सत्ताधारी अल्प-संख्यक वर्ग विघटन की गति को रोकने के लिए विश्व–साम्राज्य का निर्माण करता है, तथा बाह्य प्रोलेतेरिअत विघटन को पूरा करने के लिए सभ्यता को आखिरी धक्का देकर पूर्णतः समाप्त करने का प्रयास करता है। लेकिन वास्तव में बाह्य प्रोलतेरिअत को कभी भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई। जब भी सभ्यता का विघटन हुआ तो उसका कारण आन्तरिक शक्तियां थी।

प्रारम्भ में टायन्बी ने सभ्यता को अध्ययन की इकाई माना था, लेकिन सभ्यता के पतन के बाद आन्तरिक प्रोलेतेरिअत ने बाह्य प्रेरणा लेकर विश्वजनीन धर्म की सृष्टि की। अर्थात् अब टायन्बी के विचार से अध्ययन का क्षेत्र परिवर्तित हुआ। सभ्यता ने न केवल धर्म की दासता ग्रहण की बल्कि उसकी परिसमाप्ति एक विश्वजनीन धर्म के रूप में परिवर्तित हुई। इस नए परिवर्तन की मूल प्रेरणा बाहरी होते हुए भी उसकी उपलब्धि सभ्यता के अपने आन्तरिक प्रोलेतेरिअत के द्वारा हुई।

अध्ययन की इकाइयों में परिवर्तन टायन्बी का अपना व्यक्तिगत मामला है। उसने अनुभव किया कि सभ्यता के पतन के द्वारा मनुष्य जो दुःख अनुभव करते हैं उसी से प्रगति होती है। दूसरे शब्दों में कठिनाइयाँ ही आगे बढ़ना सिखाती हैं। टायन्बी ने सभ्यता और धर्म को एक रथ के रूप में देखा जिसमें पहियों की गति सभ्यता की गति है और रथ धर्म का स्वरूप है; जैसे प्रगट रूप में पहिये घूमते है और रथ आगे बढ़ता जाता हैं, वैसे ही समय की गति के साथ–साथ सभ्यताओं का उत्थान और पतन होता है, पहिये घूमते जाते है, लेकिन धर्म का रथ आगे बढ़ता जाता है। इससे स्पष्ट हैं कि टायन्बी ने यहां पर विको के समान इतिहास–दर्शन के सर्पिल–सिद्धान्त (Spiral theory) का प्रतिपादन किया है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि टायन्बी प्रारम्भ में सभी सभ्यताओं को दार्शनिक रूप से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक मानता था और अब देवशास्त्र के आधार पर महान् धर्मों को एक मानता हैं। (टायन्बी के अनुसार चार महान् धर्म है—हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, महायान बौद्ध धर्म और इस्लाम।) इससे स्पष्ट है कि टायन्बी का इतिहास-दर्शन सापेक्षतावादी है।

इस संदर्भ में पश्चिमी सभ्यता का भविष्य क्या होगा ? पुरानी मृत सभ्यताओं के आधार पर इस सभ्यता के विषय में भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है। क्या इस सभ्यता का पतन होगा ? इसके उत्तर में स्पेंग्लर के विपरीत टायन्बी आशा करता है कि इस सभ्यता में क्रियात्मक शक्ति का ह्रास नहीं होगा और इस बात की पूरी सम्भावना हो सकती है कि इसे निरन्तर चुनौतियां मिलें और उनका उत्तर भी मिलता जाय। लेकिन यहां पर यह स्मरणीय है कि पहले टायन्बी का यह विचार था कि इतिहास कुछ साधारण नियमों से आबद्ध है। लेकिन अब पाश्चात्य सभ्यता के संदर्भ में वह अपने पुराने विचार को मानने के लिए तैयार नहीं है और आशा करता है कि यह सभ्यता पतनोन्मुख नहीं होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८

इतिहास-दर्शन का स्वरूप

अपने एक अन्य लेख "इतिहास-बोध"[१] में मैंने 'इतिहास' को "नेयार्थ" से परिभाषित किया है। 'नेयार्थ' का अर्थ है ऐसी अभ्यर्थना जो अपनी मूल्यवत्ता के कारण नेय, वहनीय, धारणीय होती है। "अभ्यर्थना" से हमारा अभिप्राय यहां "अन्वेष्यार्थ" से है। अन्वेष्य स्वभावतः मूल्यवान् होता है, और परिणामतः नेय भी। इस प्रकार इस परिभाषा के सब शब्द एक ही अभिप्राय को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करते हैं। 'नेयता', 'वहनीयता', अन्वेष्यता' शब्द कालापेक्षी हैं। "नेयता" अतीत और वर्तमान का भविष्य के लिए धारणा करना है और "अन्वेष्यता" भविष्य का वर्तमान में धारणा करना है। ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं और यह सापेक्षता काल के ऐतिहासिक होने के लिए अनिवार्य है। अतीत के भविष्य के लिए और भविष्य के अतीत में धारण हुए बिना काल केवल प्रलम्बित वर्तमान होता है। प्रलम्बित वर्तमान के अर्थ में कालिकता जीव-धर्म है जो उसे अजीव से पृथक् करता है, किन्तु अर्थानुप्रविष्ट कालिकता मनुष्य की ही विशिष्टता है।

काल काल-यापन और काल-बोध दोनों ही संयुक्त रूप से है:—जन्म से जरा की ओर संक्रमण शरीर का काल-यापन है और विरही की घड़ियों की सुदीर्घता काल-बोध है। किन्तु काल-बोध काल-यापन को पूर्वापेक्षित करता है—काल-बोध मानसिक काल-यापन का बोध है। 'स्मृति' यापित काल के बोध का पर्याय है। मैं नहीं जानता कि याप्यमान और संभाव्य काल का बोध भी संभव है या नहीं। किन्तु संभाव्य काल के बोध की असंभवता काल-बोध के लिए काल-यापन की पूर्वापेक्षितता से दिखाई जा सकती है। यही बात याप्यमान के लिए भी कही जा सकती है। इस प्रकार यहां पूर्वापेक्षितता केवल तार्किक ही नहीं कालात्मक भी होगी। जो भी हो, स्मृति और काल-बोध को पर्याय मान लेना सुविधाजनक भी है और यहां हमारे प्रतिपादन में यह कोई अन्तर भी नहीं डालता।

किन्तु काल-बोध से रहित काल-यापन काल नहीं है। यद्यपि प्रायः ही 'काल' शब्द का प्रयोग केवल काल-यापन के लिए भी किया जाता है:—जैसे यह कहा जाता है कि "काल सर्वत्र-व्याप्त है", "काल सम्पूर्ण विश्व को धारण किये है" आदि। इन

---

१. द्रष्टव्य-तत्वचिन्तन, वर्ष २, अंक २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयोगों में 'काल' व्यतीतता का वाचक है। किन्तु काल-बोध के बिना काल-यापन को काल कहना उपयुक्त नहीं है। शरीर का जन्म से जरा में संक्रमण घटित होने पर भी कालात्मक इसलिए नहीं है क्योंकि "शरीर" संज्ञक कोई एकत्व इस सम्पूर्ण काल में स्थायी नहीं होगा। यह एकत्व केवल स्मृति से ही सम्भव है। इस प्रकार काल–यापन काल में एक घटक है, दूसरा घटक काल-बोध है। यद्यपि कालात्मक अनुभव प्रलम्बित वर्तमान को भी कहा जायगा, और इस प्रकार वह भी काल ही होगा, किन्तु वास्तव में प्रलम्बित वर्तमान अनुभव-मूलक होने से बोध-समाविष्ट भी है, यद्यपि यह बोध अत्यन्त अस्फुट होता है। किन्तु इसीलिए यह केवल काल-यापन ही नहीं होता। काल-बोध अपने स्फुटतम रूप में स्मृति में चरितार्थ होता है।

स्मृति जबकि काल की जननी है, यह काल-बाधक भी है, क्योंकि यह अन्यथा काल-यापित घटनाओं को बोध के लिए अक्षुण्ण रखती है। यद्यपि ये घटनाएं बोध के लिए अपरिवर्त्तित नहीं रहती, किन्तु ये काल-क्षत भी नहीं होती; इनमें परिवर्तन अर्थमूलक होता है। स्मृति की काल पर यह विजय अनुभव के क्रिया (एक्ट) और विषय में उद्भिन्न हो जाने के कारण सम्भव होती है। अनुभव-क्रिया से विश्लिष्ट विषय अनुभव पर निर्भर नहीं रहता, इसीसे स्मृति सम्भव होती है। इसके अतिरिक्त कि यह विषय सामान्यों का अधिष्ठान होता है और इसका वैशिष्ट्य केवल सांकेतिक होता है, यह प्रयोजनों से भी अध्यारूढ़ हो जाता है। इसी से विषय को अर्थ भी कहा जाता है। स्मृत विषय के लिए यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि यह विषय सन्निकर्ष द्वारा चेतना को ग्रहण के लिए बाध्य नहीं करता, इसका आह्वान किया जाता है। यह आह्वान अभ्यर्थना-मूलक होता है। किस अभ्यर्थना से यह आह्वान किया गया है, यह उस विषय के अर्थ को निर्धारित करता है। कालोत्पादक स्मृति के विषय की यह कालोत्तीर्णता ही विषयी के एकत्व की भी विधायक होती है। विषयी विषय की व्यतीतता के बोध द्वारा काल-क्रम में अपना एकत्व प्राप्त करता है। विषय की व्यतीतता के बोध के बिना मन विषयों में चुक जाता है और परिणामतः विषयि-मूलक एकत्व उपलब्ध नहीं हो पाता। इसका उग्रतम रूप हम विक्षिप्तावस्था में और सपनों में देखते हैं। इस उदाहरण से उक्त प्रतिपादन को मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि यहां इसका तथ्य नहीं अर्थ प्रासंगिक है। पुनः, विषय की व्यतीतता तर्कतः तबतक सम्भव नहीं है जबतक विषय पृथक् स्थापित नहीं हो और विषयी व्यतीत होते विषयों से जनित काल-प्रवाह में अपना एकत्व नहीं देखे।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की सम्भावना के लिए काल और कालोत्तीर्णता, जोकि संयुक्त रूप से स्मृति के लक्षण हैं, आवश्यक हैं। किन्तु ये उसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। ये व्यष्टित्व के लिए तो पर्याप्त हैं, किन्तु व्यक्तित्व में इससे अधिक अपेक्षित है। व्यक्तित्व का यह अतिरिक्त लक्षण नेयार्थ है। नेयार्थ स्मृति को भी एक भिन्न आयाम दे देता है और इसे वर्तमान तथा भविष्य के साथ संयुक्त कर देता है। यद्यपि सब स्मृति-विषय अनुभव में उद्भिन्न अन्तर्वस्तु (कांटेंट) रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होने से अर्थमय होते हैं, किन्तु वासना और प्रयोजन-मूलक अर्थ में अवधारणता* नहीं होती, यह विषय अपनी ऐन्द्रिय प्रदत्तता में ही निश्शेष हो जाता है। इसलिए स्मृति-विषय के केवल वासना और प्रयोजन-मूलक होने की अवस्था में उपलब्ध एकत्व व्यष्ट्यात्मक होगा, वह वैयक्तिक जीवनी (बायोग्राफी) का स्तर नहीं प्राप्त कर सकता। इसके विपरीत, अवधारणात्मक अर्थ का विषय न ऐन्द्रिय होता है और न प्रदत्त होता है, यह अर्थ ऐन्द्रिय विषय का संकेत के रूप में उपयोग करता है। ये संकेत भी नियत-सम्बन्धमूलक उद्दीपक नहीं होते, ये स्वतः भी संरचित और अर्थाविष्ट होते हैं. उदाहरण के लिए संगीत की ध्वनियाँ या भाषा की ध्वनियाँ। नियत-सम्बन्ध-मूलक उद्दीपकों के विपरीत ये संकेत चेतना और अर्थों के बीच माध्यम होते हैं। इनकी मध्यस्थता स्मृति और प्रत्यक्ष की सहायता के लिए स्वीकार की जाती हैं। अपने-आप से ये विषय अनुषंगी ही होते हैं। जब ये मुख्य भी प्रतीत होते हैं, जैसे चित्र, राग या प्रिय की आकृति में, तब भी वास्तव में इनका संवेद्य रूप उतना मुख्य नहीं होता जितना यह प्रतीत होता है। बल्कि कहना चाहिए, जितना ही इनका संवेद्य रूप मुख्य होता है उतने ही कला-विषय और प्रेम-विषय गौण पड़ जाते हैं और उसी सीमा तक ये अपने अर्थ का वैभव खो बैठते हैं। अवधारणात्मक अर्थ-विषय की दूसरी विशेषता इसकी संवेदन से स्वतन्त्रता है (दूसरे शब्दों में कहें तो, विषयी से स्वतन्त्रता अथवा विषय-निष्ठता है)। यद्यपि साधारणतः केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों को विषय-निष्ठता का मानदण्ड माना जाता है, किन्तु वास्तव में प्रत्यक्षविषयों× की विषय-निष्ठता अर्थाक्षिप्त ही होती है। विषय-निष्ठता शुद्ध ऐन्द्रिय गोचरता का लक्षण नहीं है। किन्तु तब भी प्रत्यक्ष-विषय इन्द्रियाधारित तो होते ही हैं, उसी सीमा तक ये विषयि-निष्ठ भी होते हैं। इनकी विषय-निष्ठता वास्तव में इस बात में निहित होती है कि इनका अधिकांश अनिवार्य रूप से इन्द्रिया-गोचर रहता है। यदि मेरा मेज़ का किसी एक कोण से प्रत्यक्ष (काल के आयाम को छोड़ भी दें तो) उसे निश्शेष कर सकता तो मेज विषय-निष्ठ नहीं हो सकता था। प्रत्यक्ष-विषय एक समग्र-परिप्रेक्ष्य के अभ्युपगम द्वारा आक्षिप्त होता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय-विषय में परिप्रेक्ष्य का आक्षेप उसे ऐन्द्रियता से स्वतन्त्रता देता है। किन्तु प्रत्यक्ष-विषय अवधारणात्मक दृष्टि से पर्याप्त निम्न स्तर पर हैं; शुद्ध तर्क और श्रेय तथा प्रेय मूल्यों के विषय अशेष्य और अनवगाह्य होते हैं, इसलिए ये कभी भी विषयी की निजी सम्पत्ति नहीं हो पाते। यद्यपि प्रत्यक्ष विषय भी अशेष्य होते हैं, किन्तु कुछेक कोणों और इन्द्रियों से उनका प्रत्यक्ष शेष परिप्रेक्ष्य में नावीन्य की

---

* 'अवधारणता' से हमारा अभिप्राय "व्यवस्थात्मकता" या "संरचनात्मकता" से है।

× 'प्रत्यक्ष विषय' पद का प्रयोग मैं "ऐन्द्रिय विषय" से भिन्न अर्थ में कर रहा हूं। 'ऐन्द्रिय विषय' से मेरा अभिप्राय 'एक इन्द्रिय को तत्काल प्रदत्त" विषय से है जबकि 'प्रत्यक्ष विषय' से अभिप्राय "पूर्ण विषय" से है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयोगों में 'काल' व्यतीतता का वाचक है। किन्तु काल-बोध के बिना काल-यापन को काल कहना उपयुक्त नहीं है। शरीर का जन्म से जरा में संक्रमण घटित होने पर भी कालात्मक इसलिए नहीं है क्योंकि "शरीर" संज्ञक कोई एकत्व इस सम्पूर्ण काल में स्थायी नहीं होगा। यह एकत्व केवल स्मृति से ही सम्भव है। इस प्रकार काल–यापन काल में एक घटक है, दूसरा घटक काल-बोध है। यद्यपि कालात्मक अनुभव प्रलम्बित वर्तमान को भी कहा जायगा, और इस प्रकार वह भी काल ही होगा, किन्तु वास्तव में प्रलम्बित वर्तमान अनुभव-मूलक होने से बोध-समाविष्ट भी है, यद्यपि यह बोध अत्यन्त अस्फुट होता है। किन्तु इसीलिए यह केवल काल-यापन ही नहीं होता। काल-बोध अपने स्फुटतम रूप में स्मृति में चरितार्थ होता है।

स्मृति जबकि काल की जननी है, यह काल-बाधक भी है, क्योंकि यह अन्यथा काल-यापित घटनाओं को बोध के लिए अक्षुण्ण रखती है। यद्यपि ये घटनाएं बोध के लिए अपरिवर्त्तित नहीं रहती, किन्तु ये काल-क्षत भी नहीं होती; इनमें परिवर्तन अर्थमूलक होता है। स्मृति की काल पर यह विजय अनुभव के क्रिया (एक्ट) और विषय में उद्भिन्न हो जाने के कारण सम्भव होती है। अनुभव-क्रिया से विश्लिष्ट विषय अनुभव पर निर्भर नहीं रहता, इसीसे स्मृति सम्भव होती है। इसके अतिरिक्त कि यह विषय सामान्यों का अधिष्ठान होता है और इसका वैशिष्ट्य केवल सांकेतिक होता है, यह प्रयोजनों से भी अध्यारूढ़ हो जाता है। इसी से विषय को अर्थ भी कहा जाता है। स्मृत विषय के लिए यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि यह विषय सन्निकर्ष द्वारा चेतना को ग्रहण के लिए बाध्य नहीं करता, इसका आह्वान किया जाता है। यह आह्वान अभ्यर्थना-मूलक होता है। किस अभ्यर्थना से यह आह्वान किया गया है, यह उस विषय के अर्थ को निर्धारित करता है। कालोत्पादक स्मृति के विषय की यह कालोत्तीर्णता ही विषयी के एकत्व की भी विधायक होती है। विषयी विषय की व्यतीतता के बोध द्वारा काल-क्रम में अपना एकत्व प्राप्त करता है। विषय की व्यतीतता के बोध के बिना मन विषयों में चुक जाता है और परिणामतः विषयि-मूलक एकत्व उपलब्ध नहीं हो पाता। इसका उग्रतम रूप हम विक्षिप्तावस्था में और सपनों में देखते हैं। इस उदाहरण से उक्त प्रतिपादन को मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि यहां इसका तथ्य नहीं अर्थ प्रासंगिक है। पुनः, विषय की व्यतीतता तर्कतः तबतक सम्भव नहीं है जबतक विषय पृथक् स्थापित नहीं हो और विषयी व्यतीत होते विषयों से जनित काल-प्रवाह में अपना एकत्व नहीं देखे।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की सम्भावना के लिए काल और कालोत्तीर्णता, जोकि संयुक्त रूप से स्मृति के लक्षण हैं, आवश्यक हैं। किन्तु ये उसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। ये व्यष्टित्व के लिए तो पर्याप्त हैं, किन्तु व्यक्तित्व में इससे अधिक अपेक्षित है। व्यक्तित्व का यह अतिरिक्त लक्षण नेयार्थ है। नेयार्थ स्मृति को भी एक भिन्न आयाम दे देता है और इसे वर्तमान तथा भविष्य के साथ संयुक्त कर देता है। यद्यपि सब स्मृति-विषय अनुभव में उद्भिन्न अन्तर्वस्तु (कांटेंट) रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होने से अर्थमय होते हैं, किन्तु वासना और प्रयोजन-मूलक अर्थ में अवधारणता* नहीं होती, यह विषय अपनी ऐन्द्रिय प्रदत्तता में ही निश्शेष हो जाता है। इसलिए स्मृति-विषय के केवल वासना और प्रयोजन-मूलक होने की अवस्था में उपलब्ध एकत्व व्यष्ट्यात्मक होगा, वह वैयक्तिक जीवनी (बायोग्राफी) का स्तर नहीं प्राप्त कर सकता। इसके विपरीत, अवधारणात्मक अर्थ का विषय न ऐन्द्रिय होता है और न प्रदत्त होता है, यह अर्थ ऐन्द्रिय विषय का संकेत के रूप में उपयोग करता है। ये संकेत भी नियत-सम्बन्धमूलक उद्दीपक नहीं होते, ये स्वतः भी संरचित और अर्थाविष्ट होते हैं. उदाहरण के लिए संगीत की ध्वनियाँ या भाषा की ध्वनियाँ। नियत-सम्बन्ध-मूलक उद्दीपकों के विपरीत ये संकेत चेतना और अर्थों के बीच माध्यम होते हैं। इनकी मध्यस्थता स्मृति और प्रत्यक्ष की सहायता के लिए स्वीकार की जाती हैं। अपने-आप से ये विषय अनुषंगी ही होते हैं। जब ये मुख्य भी प्रतीत होते हैं, जैसे चित्र, राग या प्रिय की आकृति में, तब भी वास्तव में इनका संवेद्य रूप उतना मुख्य नहीं होता जितना यह प्रतीत होता है। बल्कि कहना चाहिए, जितना ही इनका संवेद्य रूप मुख्य होता है उतने ही कला-विषय और प्रेम-विषय गौण पड़ जाते हैं और उसी सीमा तक ये अपने अर्थ का वैभव खो बैठते हैं। अवधारणात्मक अर्थ-विषय की दूसरी विशेषता इसकी संवेदन से स्वतन्त्रता है (दूसरे शब्दों में कहें तो, विषयी से स्वतन्त्रता अथवा विषय-निष्ठता है)। यद्यपि साधारणतः केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों को विषय-निष्ठता का मानदण्ड माना जाता है, किन्तु वास्तव में प्रत्यक्षविषयों× की विषय-निष्ठता अर्थाक्षिप्त ही होती है। विषय-निष्ठता शुद्ध ऐन्द्रिय गोचरता का लक्षण नहीं है। किन्तु तब भी प्रत्यक्ष-विषय इन्द्रियाधारित तो होते ही हैं, उसी सीमा तक ये विषयि-निष्ठ भी होते हैं। इनकी विषय-निष्ठता वास्तव में इस बात में निहित होती है कि इनका अधिकांश अनिवार्य रूप से इन्द्रिया-गोचर रहता है। यदि मेरा मेज़ का किसी एक कोण से प्रत्यक्ष (काल के आयाम को छोड़ भी दें तो) उसे निश्शेष कर सकता तो मेज विषय-निष्ठ नहीं हो सकता था। प्रत्यक्ष-विषय एक समग्र-परिप्रेक्ष्य के अभ्युपगम द्वारा आक्षिप्त होता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय-विषय में परिप्रेक्ष्य का आक्षेप उसे ऐन्द्रियता से स्वतन्त्रता देता है। किन्तु प्रत्यक्ष-विषय अवधारणात्मक दृष्टि से पर्याप्त निम्न स्तर पर हैं; शुद्ध तर्क और श्रेय तथा प्रेय मूल्यों के विषय अशेष्य और अनवगाह्य होते हैं, इसलिए ये कभी भी विषयी की निजी सम्पत्ति नहीं हो पाते। यद्यपि प्रत्यक्ष विषय भी अशेष्य होते हैं, किन्तु कुछेक कोणों और इन्द्रियों से उनका प्रत्यक्ष शेष परिप्रेक्ष्य में नावीन्य की

* 'अवधारणता' से हमारा अभिप्राय "व्यवस्थात्मकता" या "संरचनात्मकता" से है।

× 'प्रत्यक्ष विषय' पद का प्रयोग मैं "ऐन्द्रिय विषय" से भिन्न अर्थ में कर रहा हूं। 'ऐन्द्रिय विषय' से मेरा अभिप्राय 'एक इन्द्रिय को तत्काल प्रदत्त" विषय से है जबकि 'प्रत्यक्ष विषय' से अभिप्राय "पूर्ण विषय" से है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्भावना को अशेष कर देता है। इनमें एक अन्य भेद भी है, प्रत्यक्ष विषय परिप्रेक्ष्यार्थ से अनुप्रविष्ट होने पर भी संवेदनों में पर्यवसित होता है : उदाहरणतः मेज का एक कोण से अगम्य पक्ष दूसरे कोण से गम्य होता है और यह गम्यता इसके लिए अनिवार्य है। किन्तु संवेदन, जोकि प्रत्यक्ष विषय के पर्यवसान हैं, अर्थ के लिए अभेद्य होते हैं। इसके विपरीत अवधारणात्मक विषय पूर्णतः अर्थ-रचित होने से पूर्णतः पारदर्शी होते हैं। इसीलिये प्रत्यक्ष विषय प्रमाणीय होते हैं जबकि अवधारणात्मक विषय चरितार्थ्य होते हैं। **दोनों क्रियाएं (प्रमाणीकरण और चरितार्थन की) काल को जन्म देती हैं, किन्तु इतिहास को केवल दूसरी ही जन्म देती है।** कोई कह सकता है कि प्रथम काल को भी जन्म नहीं देती; किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि इसमें आप न तो भावी घटना (संवेद्य-गुण) को निर्धारित कर सकते हैं और न व्यतीत पर लौट सकते हैं।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि शुद्ध तर्क के विषय काल–गत नहीं होते क्योंकि उनके सब सूत्र मूल स्वयंसिद्धों (ऐग्ज़ियम्स) से निगमनीय होते हैं। यह एक सीमा तक सही है, किन्तु इनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम भी होता है जिसे उन विषयों का मूल प्रत्यय कहा जा सकता है। उदहारणतः यूक्लिडीय ज्यामिति की सब प्रतिपत्तियाँ उसके स्वयंसिद्धों से निगमनीय हैं किन्तु यूक्लीडीय ज्यामिति का मूल अभ्युपगम उसके स्वयंसिद्धों से निश्शेष नहीं होता। उदाहरणतः यूक्लीडीय ज्यामिति ने अनेक दार्शनिक सिद्धांतों और विधियों को भी जन्म दिया। दूसरे, यूक्लीडीय ज्यामिति स्वयं ज्यामिति के प्रत्यय में केवल एक संभावना है। तीसरे, स्वयंसिद्धों से निगमन भी चरितार्थन की क्रिया ही है, क्योंकि निगमन स्वतः संभूत क्रिया नहीं है। पुनः स्वयंसिद्धों से गल्त निगमन भी संभव हैं और यह भी संभव है कि कोई निगमन घटित नहीं हो।

इसका अर्थ यह नहीं है कि अवधारणात्मक अर्थ स्वतः कालात्मक है, यदि यह कालात्मक होता तो इसके चरितार्थन का कोई अर्थ नहीं होता। चरितार्थन की अपूर्णता चरितार्थ्य की पूर्णता को आक्षिप्त करती है। यदि यह सही नहीं हो तो यह नहीं कहा जा सकता था कि यूक्लीडीय ज्यामिति का मूल अभ्युपगम उसके स्वयंसिद्धों से निश्शेष नहीं होता। **यह निश्शेष्यता अवधारणात्मक अर्थ की कालातीत पूर्णता है। अपने इस पूर्ण रूप में अवधारणात्मक अर्थ काल-बाह्य होता है। किन्तु इसकी यह पूर्णता वास्तव नहीं होती। वास्तवता काल में संभाव्य का चरितार्थन है। इस प्रकार यह पूर्णता संभाव्य के रूप में काल में अवतीर्ण हो कर चरितार्थन की प्रक्रिया को जन्म देती है। काल में अवतीर्ण यह अवधारणात्मक अर्थ ही नेयार्थ है जिसके वास्तवीकरण की प्रक्रिया इतिहास बनती है।**

इतिहास को अर्थान्वेषण की प्रक्रिया अथवा नेयार्थ का आत्मोद्घाटन कह कर परिभाषित करने पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि इतिहास को सामान्यतः सामूहिक मानव-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का क्रम समझा जाता है। किन्तु इतिहास के सम्बन्ध में यह धारणा भ्रामक है। इस प्रश्न पर हमने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"इतिहास-बोध" लेख में विस्तार से विचार किया है। किन्तु यहां भी इस पर संक्षेप में विचार करना स्थाने होगा।

इस प्रसंग में यहां सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि इतिहास के लिए घटनाएं नहीं घटनाक्रम होना अपेक्षित है। यह क्रम चार प्रकार से संभव है—उत्तरोत्तरतामूलक, कारणात्मक, नियतिमूलक तथा अर्थमूलक सम्बन्ध के रूप में। प्रथम तथा द्वितीय में से कोई सम्बन्ध-प्रकार ऐतिहासिक नहीं है, यह दिखाने का प्रयत्न करना अनावश्यक होगा। बहुत से इतिहास–वेत्ताओं ने, जिनमें स्पेंग्लर और टॉयनबी प्रमुख हैं, तृतीय प्रकार के सम्बन्ध को इतिहास माना है। नियति-मूलक सम्बन्धों में घटनाएं एक अन्तिम घटना की ओर इस प्रकार क्रमशः परिणत होती हैं मानो अन्तिम घटना इनके इस परिणामात्मक क्रम का नियमन कर रही हो। इतिहास की यह कल्पना वास्तव में बहुत प्राचीन है। "काल–चक्र" और "युगान्तरों" की कल्पना में यही सम्बन्ध कल्पित है। किन्तु इसकी कुछ दुर्निवार कठिनाइयाँ हैं, प्रथम तो यह कि यह सम्बन्ध जबकि शरीर के समान एक जैव इकाई में पर्याप्त स्पष्ट रूप में दिखाई देता है, अन्यत्र वैसा या उसका सहस्रांश भी, प्रकट नहीं है। अन्यत्र यह केवल उपमात्मक आरोपण से ही देखा जा सकता है। उदाहरणतः जैव विकास-क्रम में यदि यह सम्बन्ध देखना हो तो एक ऐसे जैवोत्तर तत्त्व की कल्पना के बिना यह नहीं देखा जा सकता जो अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए घटनाओं को नियोजित करता है। अन्यथा या तो विकास की कारणवादी व्याख्या मानना आवश्यक होता है, जिसमें प्रथम घटना सहयोगी घटनाओं के साथ दूसरी को उत्पन्न करती है, अथवा आकस्मिकता को स्वीकार करना होता है, जो क्रम का निषेध है। डार्विन के सिद्धान्त में विभिन्न चयनों की विकास के कारकों के रूप में स्वीकृति वास्तव में इस यादृच्छिकता की ही स्वीकृति है, जिसका क्रमशः निरास जेनेटिक्स के कारणवादी सिद्धान्त के द्वारा किया जा रहा है। दूसरे, "इतिहास" को "सामूहिक मानव-जीवन की घटनाओं का अनुक्रम" कह कर परिभाषित करना "सामूहिक एकत्व" को कोई अर्थ दिये विना स्वीकार करना है। यद्यपि ये इतिहास-दार्शनिक संस्कृति का और सांस्कृतिक विकास का इस प्रकार वर्णन करते हैं जैसे मानों यह कोई एकक हो, किन्तु इस 'एकक' के लिए कोई निश्चित अधिष्ठान ये नहीं देख पाते। इस अधिष्ठान के बिना एकत्व केवल एक व्याख्योपयोगी कल्पना मात्र रह जाता है। किन्तु जैसाकि हमने अन्यत्र[२] विस्तार से देखा है, यह अधिष्ठान केवल अनुभूत एकत्व में ही उपलब्ध होता है जिसकी अन्तर्वस्तु नेयार्थक होती है। तब संस्कृति ऐसे व्यक्तियों के समूह से परिभाषित नहीं होगी जिसमें सम्बन्ध समस्यात्मक है बल्कि एक ऐसे अभिनिवेश से परिभाषित होगी जिसमें व्यक्ति-भेद केवल एक विश्लेषणात्मक कल्पना (एब्स्ट्रेक्शन) से प्राप्त होता है।

× × ×

इस प्रकार इतिहास को सांस्कृतिक नेयार्थ के आत्मचरितार्थन की प्रक्रिया कह

---

२ द्रष्टव्य—"संस्कृतिः मानव कर्त्तृत्व की व्याख्या" में अध्याय २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु उतना ही जीवनी को वैयक्तिक नेयार्थ से परिभाषित किया जायगा। इस दृष्टि से व्यक्ति और संस्कृति में कोई मौलिक भेद नहीं है, यह भेद केवल अनुषंगी घटनाओं के संयोजन में निहित होता है। यदि इस प्रतिपत्ति को विवादास्पद भी माना जाय तो भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि जीवनी वैयक्तिक नेयार्थ से परिभाषित होती है। वैयक्तिक नेयार्थ व्यक्ति की उस पूर्ण प्रतिमा से परिभाषित होता है जिसकी अनुसारिता में वह अपने अतीत का मूल्यांकन करता है और वर्तमान का नियोजन करता है। वह प्रतिमा वास्तव नहीं होकर भाव्य होती है, क्योंकि यदि वह वास्तव होती तब व्यक्ति की अपूर्णता का कोई अर्थ नहीं रहता, और न तब ही इसका कोई अर्थ होता यदि वह संभाव्यतः पूर्ण नहीं होती। यह वास्तव अपूर्णता और संभाव्य पूर्णता नेयार्थ के द्वारा घटनाओं का नियोजन कर जीवनी का निर्माण करती है। इस प्रकार वैयक्तिक आत्म अनिवार्यतः ऐतिहासिक है, यद्यपि इतिहासोत्तरता इसका स्वरूप है।

दर्शन को किसी संस्कृति का मूल अभिनिवेश कह कर परिभाषित किया जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह परिभाषा अपेक्षित नहीं है, क्योंकि यहां उस इतिहास के दर्शन का स्वरूप-निर्धारण अपेक्षित है जिसका दर्शन स्वयं एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण ज्ञान का आत्मनिरीक्षण है। इसे इसका एकमात्र लक्षण भी कहा जा सकता है, यदि इसका निहितार्थ सम्यक् रूप से समझ कर अन्य लक्षणों को इसके आपाती लक्षणों के रूप में देखा जा सके। यहां "ज्ञान का आत्मनिरीक्षण" से हमारा अभिप्राय साधारण अर्थ में ज्ञानमीमांसा से नहीं है। हमारे इस पद-प्रयोग के अन्तर्गत तत्वमीमांसा, ब्रह्माण्ड-मीमांसा और मूल्यमीमांसा का भी समावेश अभिप्रेत है। उदाहरणतः एक दार्शनिक प्रश्न लें—"भौतिक तत्त्व क्या है ?" अब, वास्तव में कुछ वस्तु भौतिक तत्त्व नहीं हैं। वास्तव में केवल ईंट, पत्थर, आग और जल आदि ही हैं। "भौतिक तत्त्व" अनुभव के एक आयाम की अवधारणा की संज्ञा है। अपनी पीछे प्रयुक्त पदावली में कहें तो कहेंगे, यह एक अवधारणात्मक अर्थ है और परिणामतः ज्ञान-स्वरूप है। यही बात ब्रह्माण्ड और मूल्य आदि के लिए भी सही है। ईंट, पत्थर आदि अनुभव-व्यापार के विषय हैं, इसलिए ये स्वयं अनुभव नहीं हैं। इस तथ्य को नहीं समझना दर्शन की असफलता का द्योतक होता है। उदाहरणतः ऐसे कथन कि "विश्व की उत्पत्ति जल से, या आकाश से, या अग्नि से हुई" दर्शन के स्वरूप के स्पष्ट नहीं होने के द्योतक हैं। यद्यपि इन कथनों में भी 'जल' आदि साधारण प्रचलित अर्थों में अभिप्रेत नहीं हैं और वास्तव में ये उसी कोटि के हैं जिसके "भौतिक तत्त्व....हैं" कथन है; अन्यथा ये दार्शनिक कथन नहीं होते। किन्तु इनमें दार्शनिक प्रयोजन अपने स्वरूप की खोज के बहुत आरम्भिक स्तर पर है। 'जल' आदि यहां शुद्धार्थ में रूपान्तरित होने पर भी यह सम्पूर्ण कथन अवधारणात्मक अर्थ या ज्ञान में अपना पूर्ण समाहार नहीं कर पाता। उत्पत्ति-विषयक यही जिज्ञासा जब ब्रह्म, आनन्द, प्रत्यय या प्रकृति-पुरुष आदि को मूल के रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में खोज लेती है तब दार्शनिक प्रयोजन के स्वरूप की उपलब्धि पूर्ण हो जाती है। इसके पश्चात् सब पारदर्शी होकर ज्ञान के स्वतन्त्र व्यापार के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

किन्तु इतिहास के मूलतः ही अवधारणात्मक अर्थ होने से उसके लिए शुद्धार्थ में रूपान्तरण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इतिहास संस्कृति या व्यक्ति द्वारा अपनी प्रतिमा के उत्कीर्णन की प्रक्रिया की संज्ञा ही है। परिणामतः इतिहास-दर्शन इस उत्कीर्णन की प्रक्रिया का अपनी ओर उन्मुख होना मात्र है। यह कहा जा सकता है कि उत्कीर्णन नेयार्थ का आत्मान्वेषण, अनिवार्यतः आत्मनिरीक्षण को भी पूर्वकल्पित करता है और इस प्रकार इतिहास इतिहास-दर्शन भी है। किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि न तो व्यक्ति और न संस्कृति ही अनिवार्यतः अपने स्वरूप की ओर उन्मुख होते हैं, जबकि ये सदैव और निरन्तर इतिहास में नियोजित रहते हैं।

और पुनः, व्यक्ति की अपनी ऐतिहासिकता के बावजूद, और उसके संस्कृति के इतिहास में सहभागी होने के बावजूद, उसे यह तथ्य और इस तथ्य का रूप स्वतःस्पष्ट नहीं होते। वास्तव में अपने को हम सब से कठिनाई से पाते हैं। आत्मोन्मुख होने पर भी साधारणतः ह्यूम के समान हमारा साम्मुख्य अनात्म से ही होता है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि उस अवस्था में नेयार्थ, और परिणामतः इतिहास भी, नहीं होता। यह सही है, और इस अर्थ में इतिहास तथा इतिहास-दर्शन को अभिन्न कहा जा सकता है।

यहां यह स्पष्टीकरण पुनः कर देना उचित होगा कि मैं "आत्म" संज्ञक किसी तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ, बल्कि आत्म को नेयार्थ से परिभाषित कर रहा हूँ और इस प्रकार इसे अनिवार्यतः ऐतिहासिक मान रहा हूँ।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१९

इतिहास और दर्शन

इतिहास दर्शन को अन्य घटनाओं में सिर्फ एक घटना के रूप में देखता है जबकि दर्शन इतिहास के प्रामाण्य, अर्थ और वास्तविकता को निश्चित करने का दावा करता है। इतिहास के लिये प्रामाण्य का प्रश्न नहीं उठता। उसके लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न है सार्मथ्य का। जो सफल होता है वही इतिहास में महत्त्वपूर्णंस मझा जाता है। उदाहरण के लिये इतिहास में ईसा मसीह का महत्त्व ईसाई धर्म की विजय के कारण है, मार्क्स का लेनिन और स्टालिन के कारण। अन्यथा शायद ईसा का नाम ही पता न होता और मार्क्स का पता केवल समाजविज्ञान के इतिहास में होता।

सामान्य इतिहासकार की इसमें रुचि नहीं होती कि कौन-सा धर्म या सिद्धान्त सच्चा है। वह यही पता लगाना चाहता है कि उसके क्या प्रभाव हुए हैं, कि उसके प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार, स्तर और आयाम क्या इस प्रकार का है कि इतिवृत्त-लेखक उस पर ध्यान दे। दर्शन का इतिहास हो या धर्म का, विज्ञान का या कला का, या अन्य किसी वस्तु का, सभी में यही बात रहती है। इन इतिहासों में ऐसे सिद्धान्त, कल्पनाएं या कलाविषय हमें उपलब्ध हो सकते हैं जिनके विषय में हमारा यह निर्णय हो कि वे तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक, अन्तर्दृष्टि से गम्भीर अथवा सौन्दर्य की दृष्टि से निर्दोष हैं, किन्तु इस प्रकार के निर्णय तत्त्वतः इतिहास के बाहर होंगे। क्योंकि इतिहासकार की आँखों में किसी विषय का महत्त्व केवल उसके सत्तात्मक या असत्तात्मक परिणामों से ही निश्चित है।

किन्तु 'परिणाम' की धारणा उतनी सरल या सीधी नहीं है जितनी उसे मानने के लिए हम उत्सुक हो सकते हैं। जो एक सीमित क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली लगता है, वह वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में नगण्य निश्चित हो सकता है। रसल अथवा केन्स का कार्यकलाप तर्कशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सामाजिक-राजनीतिक इतिहास में उल्लेखनीय नहीं बनता।

अतएव सामर्थ्य के निर्देशांकों का चुनाव न सिर्फ विषय-वस्तु के क्षेत्र की विशिष्टता पर निर्भर करता है अपितु विभिन्न क्षेत्रों को हमारे दिए हुए महत्त्व पर। बहरहाल, इतिहासकार के लिए सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का विश्व घटनाओं को व्यवस्थित रूप देने के लिये अन्तिम चौखटा और अन्तिम कसौटी बना रहता है। तथापि देश-काल के निर्देशांक इसमें भी वैसे ही महत्त्वपूर्ण रहते हैं जैसे अन्यत्र।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्याओं अथवा संस्थाओं के समान दर्शन भी एक जीवित समाज की उपजों में एक उपज के रूप में देखा जा सकता है। वह भी उनकी तरह उससे पुष्टि पाकर उसकी ओर निरन्तर क्रियाशील रहता है। किन्तु इस प्रकार की विचित्रि इतिहासकार के लिये महत्त्वपूर्ण है, न कि दार्शनिक के लिये। दार्शनिक के लिये इतिहास और दर्शन का सम्बन्ध ही एक समस्या के रूप में उत्पन्न होगा और यह समस्या इतिहास के क्षेत्र में न होकर दर्शन के क्षेत्र में होगी।

विचारक की अपनी ऐतिहासिकता से अनिवार्यतया उत्पन्न समस्या अनेक विचारकों को इतिहास और दर्शन के सामान्य प्रत्ययों की पुनर्व्याख्या की ओर ले जाती है ताकि उसका कोई समाधान प्राप्त हो। सामान्यतः यह प्रयत्न इन दोनों सम्प्रत्ययों के पारस्परिक सदृशीकरण को प्रस्तुत करता है, यहां तक कि वे अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं।

इतिहास को या तो उस सबकी समष्टि माना जा सकता है जो कि घटित हुआ है अथवा उस सबकी जिसको हम कुछ ऐसे साक्ष्य के आधार पर घटित हुआ मानें जिससे कि घटनाओं को एक संगति प्रदान की जा सकती है। इनमें पहला विकल्प केवल घटित होने के प्रत्यय का आक्षेप करता है और उसके साथ अतीत, वर्तमान और अनागत में विभक्त काल का प्रत्यय जुड़ा हुआ रहता है। दूसरे विकल्प में न सिर्फ साक्ष्य की सत्ता अभ्युपगमित है बल्कि किसी व्यक्ति के द्वारा उसका साक्ष्य के रूप में अवधारण भी। दार्शनिकों ने यह अक्सर माना है कि यह भेद विकल्पना-मूलक है किन्तु उन्हें भी इससे इन्कार करना कठिन होगा कि यह एक अनुभूत तथ्य है कि चिरकाल तक साक्ष्य के साक्षत्व का शक भी नहीं होता, और अतीत तब भी अतीत रहता है चाहे वर्तमान में किसी को उसका बोध भी न हो। मिनोअन, माया, ऐज़्टक, प्राचीन भारतीय, ये उस अतीत के कुछ उदाहरण हैं जो कि अतीत के रूप में कुछ सदियों पूर्व विदित भी नहीं था।

समय के अतीत, वर्तमान और भविष्य के विभेद में आक्षिप्त अनिवर्तनीयता इस बात का आश्वासन देती है कि बीत गये हुए के रूप में अतीत सदा ही बीता रहेगा। यह सही है कि अतीत का ज्ञान वर्तमान में ही हो सकता है, किन्तु इस दशा में भी ज्ञान की क्रिया ही वर्तमान में है, उसके द्वारा जो जाना जाता है वह तो अतीत ही रहता है। पुनःश्च जो साक्ष्य अतीत को जानने के लिए आवश्यक है, वह वर्तमान में रहता है; वह स्वयं अतीत नहीं है। वह केवल उसे साक्ष्य के रूप में निश्चित करने वाले मानस को उसकी कारण-विकल्पात्मक कल्पना के द्वारा अतीत तक ले जाता है। तथापि अतीत जिससे पुनः गढ़ा जाता है, उसके उपादान होने के कारण साक्ष्य को केवल एक तार्किक संभावना के रूप में अवधारित न कर एक अनुभूत यथार्थ के रूप में अवधारित करना चाहिए। अतीत में सदा ही ऐसी घटनाएं हो सकती हैं जिन्होंने कोई साक्ष्य नहीं छोड़ा है जिसे कि हम उस रूप में पहचान सकें और जो (घटनाएं) इसलिए फिर से गढ़े जाने के अयोग्य हैं। यह भी संभव है कि समय के बीतने पर साक्ष्य नष्ट हो जाय और इस तरह अतीत को जानना असंभव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर दे। किसी वस्तु का साक्ष्य होना यह मानकर चलता है कि प्रकृति के क्षेत्र में कोई कार्य-कारण नियम है और मनुष्य के इतिहास में कोई मनोवैज्ञानिक अभिप्रायात्मक नियम है। इस प्रकार का नियम अनुभवात्मक घटना के अभ्यस्त प्रकारों का साधारणीकरण है और इसलिए सदा ही अतीत को गढ़ने के लिए अपर्याप्त आधार रहता है। इस प्रकार अतीत और अतीत के ज्ञान के बीच में साक्ष्य से ही भारी फ़र्क पड़ता है। यदि हम यह नहीं कहना चाहते कि अतीत निरन्तर बनता रहता है अथवा, शब्दान्तर में, अतीत है ही नहीं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि अतीत और अतीत का ज्ञान दो अलग बातें हैं और इनमें जहां दूसरा पहले पर निर्भर करता है, इसका उल्टा सही नहीं है।

किन्तु इस दूसरी परिभाषा में भी अतिव्याप्ति है। समय के अनिवर्तनीय होने से सभी चीजों में ऐतिहासिकता निश्चय से रहती है किन्तु जो ऐतिहासिकता ज्ञानगत है वह एक दूसरे स्तर और धरातल की है। उसमें, जिसका इतिहास रहा है, वह विभिन्न क्षणों में अनुभव की आत्माभिव्यक्ति है। अनुभव की यह आत्माभिव्यक्ति विषय, विषयी, और उन दोनों के विभिन्न स्तरों और रूपों में बढ़ते हुए अन्तः-संबंध के बारे में होती है। विषय की स्वतंत्रता इससे प्रत्याख्यात नहीं होती और न उसका स्वतंत्र विकास निराकृत होता है। एक अर्थ में ज्ञान की ऐतिहासिकता अपने में अन्य समस्त ऐतिहासिकताओं का समावेश करती है क्योंकि ज्ञानके विषय के रूप में उनका भी अपना इतिहास रहा है। लेकिन हम इस बात को दोहरा दें कि इसका यह किसी भी तरह अर्थ नहीं है कि विषय स्वयं में इतिहास से नहीं गुज़रा है। हमारा मतलब सिर्फ यही है कि विषय के इतिहास के ज्ञान का स्वयं अपना इतिहास रहा है।

इन दो इतिहासों के कालिक मान इतने विभिन्न हो सकते हैं कि व्यवहार में विषय के ज्ञान में परिवर्तन उसी विषय का माना जा सकता है जैसाकि वह अतीत में था, बिना इस डर के कि कहीं समय के बीतने के साथ विषय की कार्य-प्रणाली भी न बदल गई हो। हम यह निर्भयता से स्वीकार कर सकते हैं कि भौतिक सत्ता का गठन उन पिछली कुछ शताब्दियों में नहीं बदला है जिनमें भौतिक विश्व का हमारा ज्ञान तेजी से बदला है। भौतिक विश्व में परिवर्तन का कालिक मान इतना अधिक है कि भौतिक विषयों की अपनी जीवितियों में जो परिवर्तन होते हैं वे उनके विषयों में वर्तमान के ज्ञान से उनके अतीत की कल्पना में प्रासंगिक नहीं हैं। किन्तु यह उन अन्य विषयों के लिए सही नहीं है जो कि तेजी से बदलते हैं और इसलिए यही कारण है कि हम अतीत के शब्दों और रिवाज़ों में अपनी भावनाओं और अर्थों को पढ़ते हैं। उन भावनाओं और विचारों के उनके अपने रूप में फिर से जीना प्रायः असंभव है और यही कारण है कि हम अतीत को बारबार वर्तमान के शब्दों में पुनर्व्याख्यायित करते हैं।

किन्तु प्राकृतिक इतिहास में ऐसा नहीं है। वहां ज्ञान के बढ़ने से अतीत अधिक अच्छी तरह से समझा जाता है। मानव इतिहास के समान उसकी पुनर्व्याख्या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं होती। मानव इतिहास में ज्ञान के बढ़ने के साथ घटनाओं का सिर्फ ढाँचा ही ज्यादा ठीक समझा जाता है किन्तु उनकी सार्थकता प्रत्येक युग को स्वयं अपने लिए फिर से समझनी पड़ती है। तथापि चूंकि भौतिक प्रकृति का ज्ञान मानवता के इतिहास के अन्दर पड़ता है और उसके लिए सार्थक है, उसको मानव इतिहास का अंग, और उसका उन अन्य क्रियाओं के साथ संबंध रखने वाला, माना जा सकता है जिन्हें वह सार्थक समझता है। इसी अर्थ में इतिहास प्रकृति से अधिक आधारभूत है, क्योंकि स्वयं प्रकृति का ज्ञान ऐतिहासिक उपज है और उन बातों पर निर्भर करता है जोकि स्वयं इतिहास-निर्मित है। कालिंगवुड ने कहा है "प्राकृतिक विज्ञान अपने में एक पर्याप्त और संपूर्ण रूप का ज्ञान नहीं हैं। अपनी सत्ता के लिए वह किसी दूसरे प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करता है जोकि उससे भिन्न है और उसमें नहीं बदला जा सकता।" यह ज्ञान का प्रकार ऐतिहासिक है क्योंकि 'वैज्ञानिक तथ्य ऐतिहासिक तथ्यों की एक जाति है।' और फिर "न सिर्फ वैज्ञानिक सिद्धांत ऐतिहासिक तथ्यों पर निर्भर करते हैं और अन्य ऐतिहासिक तथ्यों के द्वारा सत्य अथवा असत्य होते हैं बल्कि वे स्वयं ऐतिहासिक तथ्य हैं अर्थात् वे स्वयं ऐसे तथ्य हैं कि किसी ने उन्हें प्रतिपादित, स्वीकृत, सत्यापित या खंडित किया है।"

'प्रकृति के प्रत्यय' से 'इतिहास के प्रत्यय' में संक्रमण के रूप में ये तर्क निर्विवाद हैं, यदि हम अपने को सिर्फ सामान्य प्रत्यय तक ही रोके रखें। किन्तु यदि हम यह कहना चाहें कि सिर्फ प्रकृति का प्रत्यय ही नहीं, प्रकृति स्वयं ऐसी वस्तु है जो किसी अन्य वस्तु पर अपनी सत्ता के लिए निर्भर करती है, तो हम अवश्य ही गलती करेंगे। हमें पता नहीं कि प्रोफेसर कालिंगवुड क्या यह कहेंगे कि जब हमें उनके बारे में पता नहीं था तो कोई विद्युतकरण (एलेक्ट्रोन) नहीं थे या कि वे नीहारिकाएं, १०० करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर, जिनका पता १०० इंची टेलिस्कोप से लगता है, उस टेलिस्कोप के बनने के पहले नहीं थीं। तथ्य की ऐतिहासिकता उसके प्रामाण्य का निर्णय नहीं करती अन्यथा, चूंकि सभी तथ्य अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक हैं, सभी बराबर प्रामाणिक हो जायंगे। यह बात कि हमारे प्रकृति-संबंधी ज्ञान में परिवर्तन होते हैं, यह नहीं बताती कि प्रकृति ने अपने आपको बदल लिया है। वह यही बतलाती है कि हमारा ज्ञान पहले की तुलना में अधिक पूर्ण हो गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राकृतिक विषय अपने व्यवहार में बदलते ही नहीं हैं, किन्तु केवल इतना ही कि उनकी आयु इतनी भिन्न होती है कि हम इन्हें अपरिवर्तित मान सकते हैं।

इतिहास को यथार्थ के बढ़ते हुए आत्मप्रकाश के रूप में समझा गया है और इस अर्थ में उसे दर्शन के साथ अभिन्न माना गया है। हेगेल जिसने शायद सबसे पहले इस तादात्म्य का प्रतिपादन किया था, दर्शन को निरपेक्ष चित् का आत्मज्ञान मानता था। यह निरपेक्ष चित् विषय और विषयी को अपने अन्दर ही पाता है। इस आत्माभिव्यक्ति में विभेदन का अर्थ स्वसीमित और स्वपर्याप्त भागों में विभाजन नहीं है बल्कि एक ऐसी मूर्त एकता है जिसे विभेदों के द्वारा और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभेदों ही में व्यक्त किया जा सकता है। एक ओर इतिहास और दर्शन का एक दूसरे से विभाजन सिर्फ उनके निरूपए की सुविधा के प्रयोजन से है। दूसरी ओर, वह चित् की क्रियाशीलता की तात्विक रूपों में आवश्यक अभिव्यक्ति है। इनमें पहला विभाजन विभिन्न विषयों के अवान्तर भेदों में आसानी से देखा जा सकता है, दूसरा उन सनातन रूपों में जिनमें चित् अपने आपको सदा व्यक्त करता है। जैसा क्रोचे ने लिखा है "दर्शन में कोई भी अवयव अवयवी के बिना नहीं होते और अवयवी अवयवों के बिना नहीं होता।" "सच यह है कि सामान्य दर्शन विशिष्ट दार्शनिक विद्याओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है और न वे विद्याएं सामान्य दर्शन के अतिरिक्त कुछ हैं। शुद्ध सम्प्रत्यय में, जहां कि बहु-वचन एक का बहु-वचन होता है और एक बहुत का एक-वचन, एक-वचन और बहु-वचन को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।"

सत्ता के विविध रूप के द्वारा अपने को व्यक्त करने वाली सजीवी एकता की धारणा स्पेंगलर जैसे इतिहासकारों ने स्वीकार की है। स्पेंगलर के लिए एक समाज की आत्मा अपने आपको कला और गणित के द्वारा उतना ही व्यक्त करती है जितना कि विज्ञान और धर्म, दर्शन या वस्तु-शैली के द्वारा-और यह अपने विकास के युग में भी जिसे संस्कृति कहा गया है और ह्रास के युग में भी जिसे सभ्यता कहा गया है। मार्क्स के लिए भी समाज के श्रेणी-विभाजन के विशिष्ट रूपों को पैदा करने वाले उत्पादन-संबंधों के प्रचलित रूप विज्ञान और कला, दर्शन, कानून और धर्म के लिए एक आधारभूत खाका देते हैं। इन उत्पादन-संबंधों के द्वन्द्वात्मक विकास में एक युक्ति या योजना है जैसाकि स्पेंगलर के लिए एक संस्कृति की वृद्धि और ह्रास में किसी प्राणवान् सत्ता जैसी संगति है। तथा स्पेंगलर के लिए यह एकता ऐसे आत्म-रूप की एकता है जिसका अन्तर्ज्ञान एक समाज के सांस्कृतिक रूपों की अन्य समाज से तुलना करने पर ही प्राप्त हो सकता है। मार्क्स के लिए यह एकता उस समय के प्रचलित आधारभूत वर्ग-संबंधों के द्वारा दी गयी होती है और उस बलवान् वर्ग के संदर्भ में ही यह घटित होती है जिसके स्वार्थों का सामाजिक व्यवस्था अपने विविध कार्यों में साधन करती है। कम से कम स्पेंगलर के लिए यह समाज सार्वभौमिक समाज नहीं है। इसमें टायनबी स्पेंगलर के साथ है क्योंकि उसके लिए भी इतिहास विश्व-इतिहास न होकर अलग-अलग समाजों का इतिहास है।

यहां चित् की आत्माभिव्यक्ति के रूप में और एक विशिष्ट समाज की आत्माभिव्यक्ति के रूप में इतिहास के अर्थ में गहरा अंतर है। पहले का अर्थ एक सार्वभौमिक एकान्वित विकास है, चाहे वह सरल-रेखाकार हो, चाहे द्वन्द्वात्मक श्रेणी के रूप में हो; दूसरे का अर्थ है पर्याप्त रूप से अनेक स्वतंत्र समाज जिनका एक दूसरे से कोई संबंध भी आवश्यक नहीं है। जैसाकि स्पेंगलर ने कहा है, विचारक या इतिहासकार के पास समूचे अतीत को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से, जो कि स्वयं विचारक तक उपनीत होता है और उसमें अपने को चरितार्थ पाता है, देखने के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सिवाय कोई चारा नहीं है। तो भी पश्चिमी इतिहासकारों और विचारकों का यह बड़ा दोष रहा है कि वे यह मानते हैं कि उनकी अपनी चेतना में न सिर्फ पश्चिमी यूरोपीय इतिहास-धारा का अपितु समस्त ऐतिहासिक अतीत का विकास क्रमशः चरितार्थ होता है। यह ठीक है कि स्पेंगलर और टॉयनबी ने, खासतौर से टॉयनबी ने, अपने मस्तिष्क को विभिन्न समाजों के इतिहास से परिष्कृत किया है और तब उनकी उत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास के नियमों को खोजने की कोशिश की है। किन्तु वे अपवाद हैं और उनमें स्पेंगलर कम से कम ग्रीस और रोम, आधुनिक पश्चिम और मागी, विश्वों पर अधिक ज़ोर देते हैं।

इसलिए इतिहास और दर्शन का तादात्म्य मुश्किल से ही कोई इतिहासकार स्वीकार करेगा क्योंकि आत्माभिव्यक्ति के रूप में भी इतिहास में सिर्फ एक समाज की अभिव्यक्ति होती है न कि संपूर्ण मानवता की। विभिन्न समाजों के बीच अपेक्षित मूल्यांकन अथवा प्रामाण्य-निश्चय असंभव है और यदि उसकी चेष्टा भी की जाय तो वह सिर्फ या तो संबद्ध विचारक के मूल्य–निर्देशांकों को प्रतिबिम्बित करेगी अथवा अधिक से अधिक उस ऐतिहासिक समाज के जिसका वह सदस्य है। इसलिए इतिहास के लिए अनेक दर्शन ही हो सकते हैं न कि एक दर्शन। ये अनेक दर्शन विशिष्ट समाजों के पूर्वाभ्युपगमों की सैद्धांतिक चेतना के प्रतिबिम्ब होंगे। ये अभ्युपगम या तो वर्ग-संरचना एवं वर्ग-स्वार्थों के रूप में अवधारित होंगे, जैसाकि मार्क्स मानते हैं, अथवा किसी विशेष समाज का विशिष्ट आत्म–रूप होगा, जैसाकि स्पेंगलर का कहना है, अथवा तत्त्व-ज्ञान के कोई अन्तिम अविवाद्य सिद्धांत होंगे, जैसाकि कॉलिंगवुड ने कहा है। चाहे जिस रूप में भी वे सोचे गये हों उनमें एक समान लक्षण रहता है और वह है कि उन्हें छोड़ा जा सकता है, भूठा साबित नहीं किया जा सकता। जैसा कि कॉलिंगवुड ने अपनी पुस्तक **मेटाफिज़िक्स** में कहा है, वे न सच है, न भूठ, वे पूर्वाभ्युपगम हैं। इसलिए दर्शन इस दृष्टि से न सच होगा न भूठ, बल्कि पर्याप्त अथवा अपर्याप्त रूप से उस समाज के अयुतसिद्ध तथा अन्तस्सम्बद्ध अभ्युपगमों की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति में समर्थ होगा, जिसमें कि वह पैदा हुआ है। बड़े और छोटे विचारकों के बीच में अन्तर यह नहीं है कि एक गलत है और दूसरा सही, बल्कि यह कि एक अधिक समुचित और व्यापक अभिव्यक्ति में समर्थ है और दूसरा कम। फलतः प्रत्येक युग को अपने अलग दार्शनिक अथवा दार्शनिकों की श्रेणी की आवश्यकता होगी जो कि उस समाज की अभिव्यक्ति न्यूनाधिक रूप से करेंगे। इसलिए दर्शन भी इतिहास की तरह से कभी समाप्त नहीं होगा।

तथापि जिन दार्शनिकों ने इतिहास और दर्शन का तादात्म्य बताया है वे इतने मात्र से संतुष्ट नहीं हुए हैं। उन्होंने यह भी बताने की चेष्टा की है कि किन तात्विक रूपों से चित् क्रियाशील होती है अथवा किन द्वन्द्वों से ऐतिहासिक प्रक्रिया अनिवार्य रूप से गतिशील होती है, अथवा वृद्धि और ह्रास के किन अयुत–सिद्ध रूपों को ऐतिहासिक गति अपने अन्दर आवश्यक रूप से धारण करेगी। यह **अनिवार्यता** इतिहास का अतिक्रमण करती है और एक प्रकार की अनुभव-निरपेक्षता का रूप ले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेती है। चाहे हेगेल, चाहे मार्क्स, चाहे स्पेंगलर-सब कम से कम इस बात पर एकमत हैं कि जिस अनिवार्यता को उन्होंने खोज निकाला है उसमें ऐतिहासिकता नहीं है। हेगेल के द्वन्द्वात्मक नय के अवधारणात्मक रूप, मार्क्स के ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वन्द्वात्मक रूप, और स्पेंगलर का वह सजीवी तर्क जो कि संस्कृति को सभ्यता बना देता है—सब ऐसे प्रामाण्य का दावा करते हैं जो कि प्रत्येक और समस्त ऐतिहासिक युगों का अतिक्रमण करता है।

कॉलिगवुड ही शायद अकेला व्यक्ति है जिसने ऐतिहासिक प्रक्रिया के लिए किसी प्रकार की पूर्व-सिद्ध अनिवार्यता के प्रतिपादन को अस्वीकार किया है। क्रोचे ने यह माना है कि इतिहास की नित्यता दर्शन की नित्यता का आक्षेप करती है और प्रत्येक युग का अपना दर्शन होता है, किन्तु फिर भी क्रोचे ने चित् की क्रियाओं के तात्विक रूप प्रस्तुत किये हैं। उसके अनुसार सौन्दर्य-शास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं आचार-शास्त्र, चित् की क्रियाशीलता के चार विभक्त पर्व बनाते हैं। इनमें प्रत्येक स्वयं में "संपूर्ण नहीं है किन्तु संपूर्ण के आदर्श-विकास की एक अवस्था है।" इसलिए दर्शन निरपेक्ष चित् के तात्विक रूपों और उनके परस्पर संबंधों की अभिव्यक्ति है। इतिहास चित् की गत्यात्मक एकता से अभिन्न है "क्योंकि कोई अवयवी गतिशून्य वस्तु के रूप में नहीं होता। संप्रत्यय में अन्तर्निहित चेतना एक गति है, प्रवृत्ति है, दिशा है।" दूसरी ओर, सिर्फ दर्शन ही उन रूपों की अभिव्यक्ति है जो गति-निहित मानस को अवश्य लेनी चाहिएँ। जैसा गिडो कालोगेरो ने अपने "इतिहास और दर्शन के तथाकथित तादात्म्य" नाम के लेख में लिखा है "दर्शन का संबंध केवल चित् के उन रूपों अथवा अवधारणों के स्पष्ट विवेक से है जिनके द्वारा इतिहासकार उस सब का स्वरूप समझ सकता है जिसकी अनुभूति चित् को होती है"।

किन्तु जैसा कालोगेरो ने स्वयं गौर किया है क्रोचे 'दर्शन' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग करते हैं "एक ओर, जैसा कि सुविदित है, दर्शन इन चार रूपों में से एक है—कला, दर्शन, आर्थिक या विनैतिक कार्य, एवं नैतिक कार्य........। किन्तु दूसरी ओर चूंकि दर्शन चित् की समस्त व्यवस्था का सर्वेक्षण करता है वह स्वयं उसकी कोई विशेष क्रिया नहीं बन सकता बल्कि सबमें व्याप्त चेतना ही हो सकता है।" इसलिए दर्शन या तो चेतना की इतिहास-रूपी क्रिया की एक अवस्था है अथवा एक इतिहास-अतीत अनु--चिंतन है जिसका विषय चित् के तात्विक रूप और उनके परस्पर संबंध हैं। दूसरे अर्थ में भी यद्यपि प्रत्यय किसी विचारक के मन में उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणिकता उस ऐतिहासिक युग या समाज तक सीमित नहीं होती जिसमें कि दार्शनिक विचार करता है। जिन पूर्वाम्यूगामों की वह उपलब्धि करता है, वह किसी विशेष समाज या ऐतिहासिक युग के न होकर चित् की क्रिया-मात्र के होते हैं। इसी कारण से दार्शनिक की प्रामाणिकता का दावा कालातीत होता है, न कि ऐतिहासिक, क्योंकि चित् के स्वरूपगत तत्त्व किसी विशेष ऐतिहासिक युग के नहीं होते। इस अर्थ में क्रोचे ने स्वयं दर्शन को 'शुद्ध संप्रत्यय का विज्ञान'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परिभाषित किया है। उसका कहना है यदि दर्शन एक विशुद्ध संप्रत्यय है तो वह विशुद्ध संप्रत्यय के विभाग भी है। वह वो सारे शुद्ध संप्रत्यय भी है जो विशिष्ट निर्णयों में विधेय का कार्य करते हैं और इस तरह से पदार्थ--प्रकार बनते हैं।"

परन्तु दर्शन विशुद्ध संप्रत्यय की सजीवी अभिव्यक्ति के रूप में कभी भी संभव नहीं हो सकता यदि वह "इतिहास के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित हो" क्योंकि "इतिहास निरंतर बदलता है और इसलिए दर्शन को भी निरंतर नवीन होना पड़ेगा।" क्रोचे ने अवश्य इस वाक्य को "नवीन है" इन शब्दों से पूरा किया है न कि जैसा हमने "नवीन होना पड़ेगा," इन शब्दों से। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि शुद्ध संप्रत्यय बदल सकते हैं तो वे शुद्ध ही न होंगे। शुद्ध संप्रत्यय का तत्त्व उसके अस्तित्व का आक्षेप करता है। इस वाक्य का ठीक अर्थ तभी गुणा जा सकता है जब हम दर्शन के विषय--भूत शुद्ध संप्रत्यय का प्राकृतिक विज्ञान और गणित- विद्या के विषय--भूत प्रत्ययाभासों से व्यतिरेक करते हैं। शुद्ध संप्रत्यय अतिक्रान्त भी हैं और व्याप्त भी, अर्थात् सामान्य भी हैं और विशेष भी, जबकि प्रत्ययाभास कभी दोनों एक साथ नहीं हो सकते और कभी तो दोनों ही नहीं होते। जैसा विल्डनकार ने लिखा है "प्रत्ययाभास या तो अतिक्रान्त नहीं है और या व्याप्त नहीं हैं।"

हमने यह संभावना सुझायी है कि वे दोनों ही न हों क्योंकि क्रोचे और कार ने जिस तरह गणित--सिद्ध संप्रत्ययों को समझा है वे सामान्य प्रत्यय भी नहीं हैं। एक त्रिकोण एक बिल्ली से किसी तरह भी अधिक सामान्य नहीं है। प्रत्ययों में सिर्फ एक साधारणात्मकता होती है, उनके बीच का भेद सिर्फ उनकी आपेक्षिक मूर्तता का भेद है। इसलिए यह कहना गलत होगा, कम से कम उस अर्थ में जिसमें कि क्रोचे उन्हें समझते हैं, कि गणित--सिद्ध पदार्थ सामान्य पदार्थ हैं। अवश्य ही एक दूसरे अर्थ में उन्हें निरी साधारणता के ऊपर सच्चा सामान्य माना जा सकता है। वह इस अर्थ में कि वे संबंध के प्रत्यय में अन्तर्भूत अमूर्त और साधारण धर्मों से युक्त लक्षणभूत संबंधों की व्यवस्था हो, और इस अर्थ में शुद्ध गणित शुद्ध तर्क से अभिन्न होगा। किन्तु इस अर्थ में क्या अमूर्त संबंधात्मक धर्म भी अन्तर्व्याप्त और अतएव मूर्त नहीं होगे ? क्योंकि वे किसी भी सत्ता--मात्र में व्यक्त होगें। ऐसा लगता है कि सचमुच में सामन्य होना समस्त विशेषों में व्याप्त या व्यक्त होने से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

जैसा भी हो, हम जिस पर जोर डालना चाहते हैं वह यह बात है कि क्रोचे ने शुद्ध प्रत्यय के जितने लक्षण बताये हैं यदि उन्हें यथावत् लिया जाय तो प्रत्यय के लिए परिवर्तन असम्भव हो जायगा। प्रत्यय अभिव्यंजक, सामान्य और अकल्पित (मूर्त) होता है। ये तीनों लक्षण प्रत्यय को शुद्ध प्रत्यय बना देते हैं अन्यथा या तो वह प्रत्यय ही नहीं होता या सिर्फ प्रत्ययाभास होता है। जो समान्य विशेष में आवश्यक रूप से व्याप्त है और उसी रूप में व्यक्त है, वही शुद्ध प्रत्यय है। सामान्य विशेष में संपूर्णतया व्याप्त होता है और इसीलिए व्यक्ति अपनी ऐतिहासिकता में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसका और अधिक दृष्टान्त नहीं बन सकता। व्यावहारिक प्रत्ययाभास आदर्श आकार को न्यूनाधिक रूप में व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु मूर्त या द्रव्यसत् सामान्य इस न्यूनाधिक रूप में निदेशित नहीं हो सकता। प्लेटो और अरस्तु ने जिस ढंग से सामान्यों का चिन्तन किया था, उससे कान्ट के अवधारणा-प्रकारों तक कुछ इसी तरह का दिशा-परिवर्तन मिलता है। व्यवहारिक प्रत्ययाभास भी 'न्यूनाधिक रूप में' व्याप्त होते नहीं लगते हैं। एक बिल्ली न्यूनाधिक रूप से बिल्ली नहीं होती और न मकान न्यूनाधिक रूप से मकान। बिल्ली एक शुद्ध प्रत्यय नहीं है, किन्तु इसीलिये नहीं कि वह पूरी तरह से व्यक्त नहीं है बल्कि इसलिए कि वह सच्ची तौर से सामान्य नहीं है। सामान्यों में कभी भी ऐतिहासिकता नहीं रही है। किन्तु जहाँ ऐन्द्रिय प्रत्ययाभासों के लिए यह कहा जा सकता है कि वे बदलते हैं क्योंकि वे कभी भी सामान्य-लक्षण नहीं थे, शुद्ध प्रत्ययों के लिए यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे सामान्य लक्षण होते हैं। क्रोचे और कार ने जैसा गणित-सिद्ध प्रत्ययभासों को समझा है, वे भी कभी नहीं बदलते क्योंकि सविशेष न होते हुए भी वे सामान्य होते हैं और यह कहना कि वस्तुतः सामान्य-प्रत्यय में ऐतिहासिकता है एकवदतो-व्याघात होगा।

तथापि क्रोचे के लिए प्रत्यय की सामान्यता अपरोक्ष अनुभव की व्यक्तिगत सत्ता को अन्तर्भूत और अभ्युपगमित करती है। और इस प्रकार से ऐतिहासिकता का तत्त्व प्रत्यय की सामान्यता में नहीं बल्कि अपरोक्ष-अनुभव की विशेषता में होता है। अपरोक्ष-अनुभव और प्रत्यय, प्रतिभास और विकल्प एक ही प्रक्रिया के दो भाग हैं। जैसा कार ने लिखा है "सोचने का अर्थ है प्रत्यक्ष में प्रदत्त विशेष को सामान्य रूप देना।" प्रत्यक्ष-गत विशेष का सामान्यीकरण चिन्तन में होता है। सौन्दर्य-बोध की क्रिया में प्रत्यक्ष, बिना किसी प्रकार के सामान्य के, विशेष की अभिव्यक्ति होता है। किन्तु इस पर गौर करना चाहिए कि चिन्तन की क्रिया में जो सामान्य-विकल्प अन्तर्भूत होता है, वह मनमाना नहीं होता। जैसा विल्डन कार ने स्वयं लिखा है 'विशेष-प्रत्यक्ष की सामान्य प्रत्यय से एकता अनुभव की परवर्ती नहीं है, किन्तु मौलिक है। वह वास्तव में अनुभव की एक शर्त है।' यह अधिक अच्छा होता यदि कार ने 'अनुभव' शब्द को 'विमर्श' शब्द से विशेषित किया होता क्योंकि क्रोचे सौन्दर्य-प्रत्यक्ष के इस वर्णन से एकमत नहीं होंगे।

किसी भी तत्त्व-चिन्तन में विशेष-प्रत्यक्ष और सामान्य-विकल्प को जोड़ने की आवश्यकता क्रोचे के मत में इतिहास और दर्शन की अभिन्नता का आधार बन जाती है। क्रोचे का कहना है 'विशिष्ट सत्ताओं के विषय में निर्णय होने के कारण इतिहास उद्देश्य और विधेय, प्रतिभास और प्रत्यय का समन्वय होता है।' किन्तु यही वर्णन दर्शन पर भी लागू होगा क्योंकि 'यदि इतिहास तार्किक अर्थात् दार्शनिक तत्त्व के बिना संभव नहीं है, तो दर्शन भी प्रत्यक्ष अथवा ऐतिहासिक तत्त्व के बिना संभव नहीं है।' किन्तु इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानना चाहिए, न एक दूसरे पर आश्रित, क्योंकि वे "दो रूप नहीं हैं बल्कि एक ही रूप हैं, परस्पर आश्रित नहीं, बल्कि परस्पर अभिन्न हैं। जो 'पूर्वसिद्ध समन्वय' (a prirori synthesis) विशेष निर्णय और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लक्षण (definitin) यथार्थ है। वही दर्शन और इतिहास का यथार्थ है।" यह सिर्फ केन्द्र और प्राधान्य का भेद है जो हमें दो विभिन्न शब्दों, इतिहास और दर्शन, का प्रयोग करने की ओर ले जाता है। जब हम किसी निर्णय के विशेष रूप या उद्देश्य पर जोर देते हैं तो उसे ऐतिहासिक कहते हैं। जब हम उसके सामान्य रूप अथवा विधेय पर ज़ोर देते हैं तो उसे दर्शन कहते हैं।

यद्यपि इतिहास अन्य ज्ञान के समान एक विशेष निर्णय है, प्रतिभास और विकल्प का अभेद है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि विकल्प शुद्ध विकल्प हो। उद्देश्य प्रतिभास न होकर प्रत्ययाभास हो सकता है और निर्णय उद्देश्य-विधेय के संबंध के रूप में ही न हो, यह भी संभव है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि 'ब्रूटस, न सीज़र ने सीज़र को मारा' यह एक ऐतिहासिक ज्ञान-वाक्य है तथापि न ब्रूटस न मारा, शुद्ध प्रत्यय है, और सारा वाक्य भी उद्देश्य-विधेय के रूप में नहीं है। "न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम खोजा," यह भी ऐतिहासिक निर्णय का दृष्टांत है, कम से कम उस अर्थ में जिसमें क्रोचे शुद्ध प्रत्यय के लिए सामान्य-विकल्प का प्रयोग करता है।

क्रोचे ने स्वयं इस स्थान पर अपने विचार को शुद्ध प्रत्यय और प्रत्याभास में भेद न कर गड़बड़ा दिया है। उन सेनाध्यक्षों का उल्लेख करते हुए जिन्होंने मार्गों को खोजकर कार्येजवासियों का अनुसरण किया, कानाई में प्रवेश किया और अपने आपको हेनीबाल की सेना के संमुख देखकर शिविर बनाया और उसकी किलेबंदी की, वह लिखता है "जो व्यक्ति 'मनुष्य,' 'युद्ध', 'सेना', 'पीछा,' 'मार्ग,' 'शिविर,' 'किलेबंदी', 'स्वप्न', 'यथार्थ', 'प्रेम', 'घृणा', मातृ-भूमि इत्यादि से अनभिज्ञ है, वह इस तरह के वाक्य को समझ ही नहीं सकता।" किन्तु हमें यह समझ में नहीं आता कि इन सब में सच्चे प्रत्यय के स्वरूप से संवद्ध बात क्या है और इन सबके सोचने की आवश्यकता इस तरह के वाक्य को कैसे इतिहास या दर्शन बना सकती है जबकि हमें यह स्पष्ट रूप से पहले ही बता दिया गया है कि प्रत्ययाभास ज्ञान के रूप ही नहीं है। "शुद्ध प्रत्यय और प्रत्ययाभास में यह भेद नहीं है कि एक सच्चा है दूसरा झूठा, एक उपयोगी और अच्छा है, दूसरा भ्रामक और खराब। बल्कि यह कि उनमें एक ज्ञान का रूप है और दूसरा नहीं।" क्रोचे की सूची में शुद्ध प्रत्यय के निकटतम जो 'यथार्थ' का प्रत्यय है वह भी शुद्ध नहीं रह जाता यदि उसका स्वप्न और भ्रम से भेद किया जाय क्योंकि इस व्यतिरेक के करते ही वह वस्तुतः सामान्य नहीं रहता।

सही, यह दिखलाया जा सकता है कि इन सब वाक्यों में शुद्ध प्रत्यय अन्तर्भूत हैं किन्तु उससे निर्णय किसी भी अर्थ में ऐतिहासिक नहीं बन जाता। शुद्ध प्रत्यय इसलिए अन्तर्भूत होंगे क्योंकि वे शुद्ध हैं अर्थात् वे सचमुच सामान्य और सत्तात्मक हैं। वे न तो सत्य और मिथ्या निर्णयों के विवेक का आधार बन सकते हैं और न ऐतिहासिक और अनैतिहासिक निर्णयों के विवेक का। जहां तक शुद्ध प्रत्यय के अन्तर्भाव अथवा निदर्शन का प्रश्न है, "सीज़र ने ब्रूटस् को मारा" और "ब्रूटस् ने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सीज़र को मारा" या "यह कौवा है," और "तुम बेवकूफ हो", इन वाक्यों के बीच में कुछ भी भेद नहीं है। प्रत्यक्ष के विशेष के बिना शुद्ध प्रत्यय अवश्य ही रिक्त रहता है किन्तु सत्ता में अभिव्यक्त होने के लिए वह इस व्यक्ति और उस व्यक्ति के बीच में भेद नहीं करता और इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व की ओर से सर्वथा उदासीन रहता है। वह सामान्य है इसलिए नहीं कि वह सत्तात्मक है, वह सत्तात्मक है क्योंकि वह सामान्य है। वस्तुतः प्रत्यय शुद्ध होने के कारण अर्थात् आकार-स्वरूप होने के कारण रिक्त है और सचमुच में सामान्य है।

क्रोचे का मूलभूत भेद प्रत्यक्ष और अवधारण के बीच में है। अवधारण-प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष-पूर्वक होता हैं, वह प्रत्यक्ष का ही अभिव्यंजन है। समस्त ज्ञान इसलिए दो पदों पर आधारित होगा, प्रत्यक्ष और अवधारण, जहां दोनों एक दूसरे से अवि-भाज्य रूप से जुड़े हुए होंगे। परन्तु, क्रोचे दर्शन का लक्षण बताने में एक और आवश्यक भेद प्रस्तुत करता है और वह है शुद्ध प्रत्यय और प्रत्ययाभास में। प्राकृ-तिक विज्ञान और गणित प्रत्ययाभासों से संबंधित हैं और इस प्रकार दर्शन से सर्वथा भिन्न हैं। अवश्य ही शुद्ध प्रत्यय के बिना उनकी सत्ता नहीं हो सकती किन्तु उनका विशिष्ट सत्य और क्षेत्र प्रत्ययाभासों का ही क्षेत्र है। क्या इतिहास में भी प्रत्ययाभास अन्तर्भूत हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहास और दर्शन के तादात्म्य के प्रश्न का उत्तर देनें के लिए आवश्यक होगा क्योंकि यदि इतिहास प्रत्ययाभासों का उपयोग करता है तो वह दर्शन से अभिन्न नहीं हो सकता। इसके लिए शायद बहुत तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि क्रोचे ने जितने प्रत्ययों की हेनीबाल की सेना के शिविर के संबंध में सूची दी है वे सभी प्रत्ययाभास हैं। इसीलिए यह स्पष्ट होना चाहिए कि यदि इन प्रत्ययों का उपयोग करने वाली अन्य विद्याएं दर्शन नहीं हैं तो इतिहास भी दर्शन नहीं हो सकता।

वस्तुतः क्रोचे ने उन दो चिन्तन की दिशाओं में भेद नहीं किया है जो उसे इतिहास और दर्शन के तादात्म्य के प्रतिपादन की ओर ले जाती हैं। ऊपर निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और विकल्प की एकता का तर्क ठीक नहीं है क्योंकि वह सिर्फ सब ज्ञान को ज्ञान बताता है न कि उसे इतिहास, दर्शन विज्ञान या गणित। वह वास्तव में सैद्धान्तिक ज्ञान के प्रत्यय में अनिवार्यता या अन्तर्भूत अभ्युपगमों का विश्लेषण है और इसलिए वह दर्शन का ज्ञान की किसी विशिष्ट शाखा से अभेद बतलाने के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं करता। यदि दर्शन को 'पूर्व-सिद्ध अध्यवसाय' प्रागनुभविक प्रत्यय-संयोजन या विकल्पना, के साथ अभिन्न माना जाय तो सभी ज्ञान दर्शन-पूर्वक बन जाते हैं और दर्शन या तो उन सब से अभिन्न या किसी से भी अभिन्न नहीं होता। यदि एक ओर गणित और प्राकृतिक विज्ञान और दूसरी ओर दर्शन में इस आधार पर भेद किया जाये कि दर्शन शुद्ध प्रत्यय विषयक होता है और विज्ञान प्रत्ययाभास-विषयक ही, तो यह भेद दर्शन और इतिहास के बीच में भी मानना पड़ेगा क्योंकि इतिहास भी प्रत्ययाभास–विषयक होता है। जिस अर्थ में इतिहास के प्रत्यायाभास शुद्ध प्रत्ययों को अंतर्भूत करते हैं उसी ढंग से गणित और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
प्राकृतिक विज्ञान के प्रत्ययाभास भी करते हैं।

क्रोचे के विचार की दूसरी दिशा इस प्रश्न को लेकर चलती है कि सभी पदार्थों का इतिहास होता है, इसलिए दर्शन का भी। इतिहास और दर्शन के इस तादात्म्य के प्रतिपादन का कारण देते हुए क्रोचे का कहना है 'दार्शनिक प्रकथन, लक्षण, या संस्थान का आविर्भाव एक निश्चित **व्यक्ति** के मन में देश काल के **एक निश्चित बिन्दु पर और निश्चित परिस्थितियों में** होता है, इसलिए वे ऐतिहासिक परिस्थितियों के **अधीन** हैं। ऐतिहासिक हेतु--प्रत्ययों के बिना दार्शनिक संरचना वह नहीं होगी जो कि वह है। ये वाक्य दर्शन को एक कालिक घटना के रूप में लेते हैं। उसमें कुछ 'पूर्व' है और कुछ 'पश्चात्', और दोनों के बीच में हेतु--प्रत्यय सम्बन्ध है। अपने संदर्भ और निवेश में ये वाक्य विस्मयकारी रूप से प्राकृतिकता-वादी हैं। उनमें व्यक्ति निश्चित रूप से प्राकृतिक है और अपने कालिक पूर्ववर्ती से प्रतीत्य-समुत्पन्न है। यह सारी दृष्टि हेतुपरक--अनुभवपरक है क्योंकि इसमें अतीत और वर्तमान का भेद और वर्तमान की अतीत पर निर्भरता स्वीकृत की गयी है। यह कोई अलग-अलग वाक्य नहीं है किन्तु एक अविच्छिन्न युक्ति है। प्रकृति की अनैतिहासिकता का निषेध करते हुए क्रोचे लिखता है "यह विचित्रतम प्रतिपादन का कोई इतिहास नहीं होता, इस विस्मृति से उत्पन्न होता है कि प्राकृतिक विज्ञानों का ऐतिहासिक आधार होता है, इस अज्ञान से कि वह ऐतिहासिक आधार ही उनका एकमात्र सत्य है और उस भ्रान्ति से जो कि सिर्फ व्यावहारिक महत्त्व के वर्गीकरणों को सैद्धान्तिक महत्त्व देती है।" प्रकृति ऐतिहासिक है क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान ऐतिहासिक परिस्थिति के अधीन है। दर्शन ऐतिहासिक है क्योंकि दार्शनिक चिंतन ऐतिहासिक परिस्थिति के अधीन है।

क्रोचे प्रकृति और प्रकृति के प्रत्यय में भेद नहीं करते और इसलिए उनके लिए प्रकृति निरन्तर बदलती रहती है क्योंकि "वह निश्चित देश काल की निश्चित परिस्थतियों में एक निश्चित व्यक्ति के मन" पर आधारित होती है। यह पूछना एक मज़ाक-सा लगेगा कि क्या प्रकृति आदिम बर्बर मनुष्य से लेकर आइन्सटाइन तक के अपने विषय के विचारों के अनुसार अपने आपको बदलती रही है और क्या, चूंकि आइन्सटाइन के साथ ही असभ्य मनुष्य भी अभी तक विद्यमान हैं, प्रकृति एक साथ ही दोनों के अनुरूप है। जो कुछ भी हो, ऐतिहा-सिक हेतु–प्रत्यय किस बात को निर्धारित करते हैं? अतीत के रूप में विदित अतीत को या कि अविदित अतीत को भी? अर्थात् ऐतिहासिक प्रतीत्य–समुत्पाद का क्या अर्थ है? समुत्पादक क्या है? न तो प्रकृति, न दर्शन क्योंकि वे दोनों ही समुत्पन्न हैं, न कि समुत्पादक प्रत्यय। चित् का अतीत? किन्तु चित् का अतीत कैसे हो सकता है जबकि वह सदा वर्तमान है? क्या वह क्रोचे या हेगेल या कॉलिंगवुड की आत्मा है, क्योंकि वे इस बात से तो इन्कार नहीं करेंगे कि और आत्माएं भी हैं। या वह लोकातीत चित् है? यदि ऐसा है तो वह इतिहासाधीन कैसे होगी?

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हम इतिहासाधीनता को निरर्थक नहीं कह रहे हैं। हम यही सुझाना चाहते हैं कि उसका सिर्फ एक कारणिक--अनुभविक अर्थ होता है जोकि क्रोचे के इतिहास और दर्शन के समूचे सिद्धान्त से असंगत है। वह कहेगा कि हम उसके मत को बिल्कुल नहीं समझे हैं। अपनी लाजिक के ३१६ वें पृष्ठ पर उसने कहा है "यद्यपि दार्शनिक प्रकथन इतिहास पर आश्रित होते हैं, वे उसके द्वारा उत्पादित कार्य के रूप में नहीं होते। वे विचार की स्वतंत्र सृष्टियां होती हैं जोकि उनमें और उनके द्वारा आगे बढ़ती रहती हैं।" वे आगे हमें यह चेतावनी भी देते हैं कि अगर उन्हें एक निश्चित रूप में उत्पादित देखा जाय तो उन्हें दर्शन नहीं मानना चाहिए बल्कि केवल दर्शनाभास, जो विचारों के रूप में प्रच्छन्न जैवी स्वार्थ से अधिक कुछ नहीं है। इन वाक्यों का अवश्य ही अर्थ है किन्तु केवल तब जब उन्हें क्रोचे से विभिन्न ढंग से समझा जाय। शायद इसका अर्थ यह है कि एक सामाजिक परम्परा है जो हमारी विरासत होती है, जिसमें हम पैदा होते हैं और बड़े होते हैं, जोकि हमारे लिए एक संदर्भ प्रस्तुत करती है किन्तु हमारे न्यूनाधिक रूप से स्वतः स्फूर्त विचारों को पूर्णतया निर्धारित नहीं करती। हमारा यह दावा नहीं है कि इस बात को कहने का यह सबसे अच्छा ढंग है किन्तु बात कुछ इसी प्रकार की है। जिसका निषेध किया जा रहा है वह कट्टर 'नियतिवाद' है, जो सुझाया जा रहा है वह वही है जिसे कभी-कभी 'प्रभाव' कहा जाता है।

किन्तु क्रोचे के लिए इतिहास–निर्भरता, जोकि पूरी तरह से परतन्त्र नहीं करती, सदा वर्तमान में रहती है। अतीत सदा वर्तमान में, विदित वर्तमान में रहता है। किन्तु यह कहना गलत लगता है कि वर्तमान युग में उत्पन्न विचारक कान्ट से पहले या आगे के समूचे इतिहास–दर्शन के विकास को भुला नहीं सकता। वस्तुतः पाश्चात्य परम्परा में जो उत्पन्न नहीं हुआ है और जो पश्चात्य भाषाओं से अपरिचित है ऐसा विचारक सारे पाश्चात्य दर्शन को ही 'भुला' देगा। यह संभावना दुस्सम्भाव्य नहीं है। भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति कभी-कभी मिलते हैं जिन्हें संस्कृत के अतिरिक्त (और अपने क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त) कोई भाषा नहीं आती और जिनकी विचार–विधा और विचार-सरणि प्राचीन भारतीय परम्परा से इतनी गुंथी है कि यदि हम केवल पाश्चात्य विचारक को ही चित् का वास्तविक प्रतिनिधि न मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि जो अतीत वर्तमान में सदा विद्यमान रहता है वह अतीत का खंड-मात्र है न कि संपूर्ण अतीत।

लोक--सामान्य बुद्धि के द्वारा की हुई व्याख्या व्यक्ति-चेतना की तुलना में प्रकृति और समाज दोनों की ही पूर्व-स्थिति मानता है। क्रोचे इसको अस्वीकार करते हैं। उनके लिए प्रकृति और समाज चित् के यथार्थ जीवन से उद्गृहीत अयथार्थ प्रज्ञप्तियां हैं। पर इस कारण तो उनके लिए ऐतिहासिक परतंत्रतावाद चित् के स्वतंत्रतावाद के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। किन्तु उनका अपना तर्क यह नहीं है। दूसरी युक्ति की प्रामाणिकता इस बात से थी कि वह अनुभविक-प्राकृतिक स्तर के विषय में थी। 'देश-काल' के निश्चित बिन्दु पर निश्चित परिस्थिति में निश्चित व्यक्ति' एक प्राकृतिक-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनुभविक व्यक्ति है जोकि देश, काल और परिस्थिति के प्राकृतिक-अनुभविक प्रत्यय अभ्युपग-मिश्र करता है। उसके बिना इस वाक्य-खंड का कोई अर्थ नहीं है। अन्यथा, अन्य व्यक्तियों से भिन्न कोई एक निश्चित व्यक्ति नहीं होता, न कोई अलग देश-काल या परिस्थितियां जिन्हें कि लोकातीत चित् के जीवंत प्राण से पृथक् किया जा सके।

यदि यह दूसरी तर्क-विधा ठीक है तो क्रोचे के सिद्धान्त को गड़बड़ा देगी। वह इतिहास और दर्शन के भेद को भी सिद्ध नहीं करेगी क्योंकि ठीक होने के लिए उसे यह मानना पड़ेगा कि समाज इतिहास का पूर्ववर्ती है और प्रकृति समाज की। प्रत्यक्ष और अभिव्यक्ति का अभेद प्रामाणिक हो सकता है (जैसाकि क्रोचे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक में किया है) किन्तु 'चिन्तन, और 'चिन्तन के विषय' का नहीं।

तथापि एक समस्या असमाहित रहती है और वह इन दो बातों से प्रस्तुत होती है, एक कि इतिहास का प्रत्यय और स्वयं इतिहास भी दार्शनिक चिंतन का विषय होता है, दूसरे, यह स्वयं घटनाओं की शृंखलाओं के अन्दर एक ऐतिहासिक घटनामात्र है। इनमें पहली बात एक अनैतिहासिक दृष्टिकोण है जिसे 'अतिक्रमिक अपवर्जन' (transcendental reduction) कहा जा सकता है, दूसरा मामूली आदमी का प्राकृतिक-अनुभविक दृष्टिकोण है। हुसर्ल के लिए दर्शन तभी प्रारम्भ होता है जबकि प्राकृतिक-अनुभविक दृष्टिकोण छोड़ दिया जाता है। क्रोचे के लिए यह समस्या कोई समस्या नहीं है क्योंकि विशुद्ध संप्रत्यय में अपरोक्ष-अनुभव का विशेष क्षण सदा ही अंतर्भूत रहता है। किन्तु यह समाधान नहीं है, पलायन है, क्योंकि अपरोक्ष-ज्ञान की विशेषता और शुद्ध प्रत्यय के सामान्य रूप तत्वतः पृथक् रहते हैं। विशेष-प्रत्यक्ष-प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रखता, इस बात को स्वयं क्रोचे स्वीकार करते हैं। ऐसे ही शुद्ध संप्रत्यय के तात्विक रूप भी प्रत्यक्ष की विशेषता अपने में नहीं रखते। यह सच है कि किसी भी ज्ञान में दोनों का होना आवश्यक है। 'प्रागनुभविक संयोजन' ज्ञान को पूर्वाभ्युपगम है, यद्यपि हम यह नहीं जानते कि इसी ज्ञान में संयोजन का क्या अंश है। ऐसा होने पर भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञान ज्ञान है न कि यह कि वह दर्शन है या इतिहास, विज्ञान है या गणित। यह ठीक है कि दर्शन या इतिहास को परिभाषित करने की हमें स्वच्छन्दता है। किन्तु यदि ऐसा है तो यह सब एक शब्दों का झगड़ा हो जायगा; वह इतिहास व दर्शन के भेद के बारे में कुछ न कहेगा। और फिर यदि इतिहास का अर्थ ही अनुभवनिरपेक्ष विकल्पना है, तो सभी ज्ञान इतिहास हो जायगा और यह वाक्य एक अनावश्यक पुनरुक्तिमात्र बन कर रह जायगा।

ये दो बुनियादी दृष्टिकोण एक दूसरे से विरोधी नहीं हैं। इनमें वास्तव में एक दूसरे का स्थान ग्रहण करता है। प्राकृतिक-अनुभविक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण तब पैदा होता है जब हम विषयी को विषय मानकर चलते हैं। किन्तु जैसे ही हम आत्मा की आधारभूत केन्द्रीयता को समझते हैं, दूसरा दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालिक और अकालिक का संबंध इस समस्या का सार है। इसे एक मिथ्या प्रज्ञप्ति कहकर छोड़ा जा सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि कोई समस्या नहीं है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी समस्याएं विकल्प-मूलक होती हैं। वस्तुतः स्वयं कोई समस्याएं नहीं होतीं, वह सिर्फ स्वचेतन-मानस के लिए होती हैं जोकि दो असंगत प्रतिज्ञाओं को तुल्यबल प्रतीत होते देखता है। दार्शनिक सामान्यतः आत्मा की अकालिक आधारभूत केन्द्रीयता को विनिग महत्त्व देते हैं, जबकि वैज्ञानिक व इतिहासज्ञ जोकि विशिष्ट विषयों में दार्शनिक से अधिक रुचि रखते हैं, इस बात का अनुभव करते हैं कि दार्शनिक की तथाकथित अकालिक चेतना बिलकुल ही महत्त्वहीन है क्योंकि वह एक शृंखला की कड़ी है जिसमें पहिले और पीछे अन्य विचारक होते हैं। महत्त्व के प्रत्यय का विशदीकरण कठिन है। जो स्पष्ट देखा जा सकता है, वह यह कि दोनों प्रकार के महत्त्व स्वीकार किये गये हैं। वे परस्पर विरोधी लगते हैं और यद्यपि उनमें से किसी को भी अस्वीकार किया जा सकता है, वह एक आग्रह की बात होगी, न कि पर्याप्त तार्किक आधार की।

जो कुछ भी हो, इतिहास और दर्शन का अभेद इतिहास के प्रत्यय की ऐसी पुनर्व्याख्या अवश्य करता है जिससे कि उसका सब निश्चित अर्थ खो जाता है। यहां पर भी दर्शन अपना स्पष्ट अर्थ बनाये रखता है क्योंकि विशुद्ध प्रत्ययों के रूप में कुछ भी कालिकता नहीं है। कान्ट के विकल्प, हेगेल का द्वन्द्वात्मक नय, क्रोचे के रूप, सब स्वरूपतः अनैतिहासिक हैं। इसलिए दर्शन को इतिहास से अभिन्न बताना गलत है, यद्यपि अन्य विद्याओं के समान इतिहास भी दर्शन के लिए समस्याएं प्रस्तुत कर सकता है। दर्शन को समाजविज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, शायद शरीर-विज्ञान तक का एक अध्याय माना जा सकता है किन्तु तब वह दर्शन नहीं होगा बल्कि मनोविज्ञान समाजविज्ञान, इतिहास या शरीरविज्ञान होगा। इन 'संकीर्ण' प्रत्ययों में किसी की रुचि हो सकती है और वह इन्हें महत्त्वपूर्ण भी समझ सकता है किन्तु इसके लिए कोई औचित्य नहीं है कि सब अध्ययन को उसी एक में लीन कर दिया जाय जिसे कोई महत्त्वपूर्ण समझता है।

किसी के द्वारा प्रतिपादित निर्णय की ऐतिहासिक यथार्थता से उस निर्णय की प्रामाणिकता का प्रश्न बिल्कुल भिन्न है, यद्यपि प्रामाण्य के प्रश्न के उठाने के पहले यह जानना आवश्यक है कि वास्तव में वह क्या कहता है। किसी ने, मान लीजिये अरस्तु ने, किसी ढंग से सोचा, इससे उसके विचार की प्रामाणिकता या यथार्थता का कोई आधार नहीं पता चलता। वरना सभी बातें बराबर की प्रामाणिक या अप्रामाणिक हो जायेंगी और यह निर्णय विचार के आधार को ही नष्ट कर देगा।

इसलिए दर्शन न तो अपने इतिहास के साथ अभिन्न है न इतिहास-मात्र के साथ। दूसरे शब्दों में "ब्रूटस ने सीजर की हत्या की" इस वाक्य से उठाई हुई दार्शनिक समस्याएं उसके द्वारा उठायी गयी ऐतिहासिक समस्याओं से बिल्कुल भिन्न हैं। दार्शनिक के लिए कोई भी दूसरा वाक्य जैसे "हैमलट ने पोलोनियस की हत्या की"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर्याप्त होगा किन्तु इतिहासकार के लिए ऐसा नहीं हो सकता। दार्शनिक के प्रयोजन के लिए प्रतिज्ञा-वाक्य को सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य बिल्कुल अप्रासंगिक है। वस्तुतः दार्शनिक या विमर्श किसी विशेष व्यक्ति ही के उल्लेख की आवश्यकता नहीं रखता। वह इस प्रकार के वाक्य से भी सन्तुष्ट हो जायगा कि "क ने ख की हत्या की।" यहां 'क' और 'ख' के स्थान पर कोई भी व्यक्ति हो सकता है। दार्शनिक की रुचि हत्या के सम्बन्ध में भी न होकर सिर्फ उसके अतीत वाचक प्रत्यय में ही हो सकती है।

क्रोचे की पुस्तक में सीज़र और एलेक्ज़ेंडर के नाम आते हैं किन्तु वे वैसे नहीं आते जैसे एक इतिहास की पुस्तक में, अर्थात् अपरिवर्तनीय रूप में। और यह हो भी नहीं सकता क्योंकि क्रोचे एलेक्जेंडर नाम के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति में रुचि नहीं रखते बल्कि उसे केवल दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अन्य विद्याओं के समान इतिहास भी शुद्ध संप्रत्ययों का प्रयोग करता है क्योंकि उनके बिना वह ज्ञान नहीं बन सकता। किन्तु विज्ञान और दर्शन इन दोनों से भिन्न इतिहास का सम्बन्ध विशिष्ट विशेष से होता है, ऐसे विशेष से जो कभी दोहराया नहीं जाता। कला, जोकि अपरोक्ष ज्ञान की स्वरूपगत विशेषता से संबद्ध होती है, कल्पना के न्याय के अतिरिक्त और किसी बात से नियंत्रित नहीं होती। किन्तु इतिहास का एक बाह्य नियामक होता है, यद्यपि वह विज्ञान से अधिक प्रतनु होता है। पुनःश्च, बौद्धिक ज्ञान होने के कारण इतिहास प्रत्यय का प्रयोग करता है, शुद्ध प्रत्यय का भी और प्रत्ययाभास का भी, क्योंकि एक के बिना वह ज्ञान नहीं होगा, और दूसरे के बिना इतिहास न होकर दर्शन हो जायगा।

इस तरह इतिहास एक ओर कला की प्रांतभूमि पर स्थित रहता है और दूसरी ओर विज्ञान और दर्शन की। उसका विषय विशेष-स्वभाव होता है किन्तु वह अपनी अपरोक्षता में नहीं बल्कि अपनी कालिकता में। उसका विषय विज्ञान, कला अथवा दर्शन हो सकता है क्योंकि व्यक्ति-मानस के विचार होने के कारण उनमें भी एक विशेषता और कालिकता होती है। जब वह एक व्यक्ति तक सीमित होता है तब उसे जीवनी कहते हैं। जब सभी समुदायों अथवा समाजों को उनकी कालिक विशेषता में वह अपना विषय बनाता है, तो इतिहास कहलाता है। इसलिए दर्शन को इतिहास समझना गलत है क्योंकि यद्यपि दर्शन का इतिहास रहा है वह इतिहास दर्शन का इतिहास है, न कि भौतिकी, जैविकी अथवा रोमन साम्राज्य का। इसलिए दर्शन की अपनी कोई विशिष्ट विषय-वस्तु होनी चाहिए अन्यथा अन्य विषयों के इतिहास से पृथक् उसका अपना कोई इतिहास नहीं हो सकता।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२०

ऐतिहासिक-ज्ञान की दार्शनिक समस्याएं

ऐसा ज्ञान जो साधारण नियमों की खोज नहीं करता, बल्कि वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का होता है, उसके विषय में काल से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ उस प्रकार से नहीं उठेंगी जैसी पिछले अध्याय में उठाई गई हैं। इतिहास का ज्ञान किसी सामान्य नियम की खोज न होकर किसी घटना-विशेष को समझने की चेष्टा है। और इसी तरह प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान में स्थित कोई वस्तु या घटना होती है, नकि वह नियम जिसके अनुसार यह माना जाता है कि वह घटना घटी है, या वस्तु वहाँ उपस्थिति हुई है। वास्तव में नियमों के संदर्भ में देखने पर वस्तु भी घटना का ही रूप धारण कर लेती है, क्योंकि हमारा उद्देश्य तब यह जानना होता है कि वह कब और किन परिस्थितियों में उत्पन्न होती है। प्रत्येक वस्तु, जिसका हमें ज्ञान होता है, उसका प्रादुर्भाव और विलय दोनों होते हैं और केवल मध्य अवस्था में वह व्यक्तता को प्राप्त होती है। परन्तु इस तरह देखने पर एक तो यह बात माननी पड़ेगी कि जो इस समय व्यक्त अवस्था में है वह पहले अव्यक्त अवस्था में था, और अपने विलय के बाद पुनः उस अव्यक्त अवस्था को प्राप्त होगा। गीता में 'अव्यक्तादीनि भूतानि·····' कह कर इसी बात की ओर संकेत किया गया है। पर, इस संबंध में एक प्रश्न तो यह उठता है कि प्रादुर्भाव के पहले की अव्यक्त अवस्था में और विलय के बाद की अव्यक्त अवस्था में कोई भेद है या नहीं ? और यदि है तो क्या है ? दूसरा प्रश्न इस बात से संबंधित है कि अव्यक्त और व्यक्त अवस्था में क्या भेद है ? क्या जो व्यक्त हुआ है उसकी सत्ता अभिव्यक्ति के पहले और अभिव्यक्ति के बाद में एक सी ही रहती है ?

इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जाते है और उन दिशाओं के अनुसार अलग-अलग दर्शनों का जन्म होता है। न्याय दर्शन में प्रागभाव और ध्वंसाभाव का भेद पहले प्रश्न के संदर्भ में ही किया गया है। परन्तु इसीलिए उनको किसी अव्यक्त अवस्था की बात करना बेकार लगता है। अव्यक्त की बात तो साँख्य दार्शनिक उठाते हैं जो कार्य को कारण में पूर्ण रूप से निहित मानते हैं। उनके इसी मत को सत्कार्य-

* यह लेख लेखक की पुस्तक **ज्ञानमीमांसा** के पांचवें अध्याय में से उद्धृत किया जा रहा है। पुस्तक राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वाद का नाम दिया गया है। पर निहित मानने पर भी कुछ भेद तो मानना ही पड़ेगा। हो सकता है कि यह भेद चेतना से संबंधित हो, जिसका कार्य अव्यक्त को व्यक्त करना है। एक प्रकार से ज्ञान के सत्य होने का लक्षण ही यह समझा जाता है कि यह अभिव्क्ति को छोड़ कर ज्ञान के विषय में और कुछ भी न जोडे। परन्तु ऐसा मानने पर 'प्रादुर्भाव' का अर्थ 'चेतना का विषय' मानना होगा, न कि किसी वस्तु का अस्तित्व में आना; और इस तरह इसके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि सब वस्तुओं का सब समय अस्तित्व है। न किसी का जन्म होता है न किसी का विनाश। और इस प्रकार काल एक चिरन्तन भ्रम का रूप धारण कर लेगा। असल में, सब कुछ देश जैसा ही हो जायगा जिसमें सब वस्तुएँ सदैव विद्यमान होंगी।

अव्यक्त और व्यक्त का भेद और उनके बीच के संबंध दर्शन के सदैव रोचक विषय रहे हैं। परन्तु उसके बारे में विस्तार से विचार की यहां कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का ज्ञान देशकाल में स्थित विषय का ज्ञान होने के कारण उन समस्याओं से मुक्त समझा जाता है जो ज्ञान की त्रिकालिकता के संदर्भ में उत्पन्न होती हैं। परन्तु पहले तो भूत और वर्तमान संबंधी विशेष के ज्ञान में एक अन्तर माना जाता है, जिसकी चर्चा जरूरी है। भूत का ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय न होकर, स्मृति का विषय होता है या किन्हीं ऐसी बातों पर आधारित होता है जो होती तो वर्तमान में हैं लेकिन जिनके आधार पर हमें ज्ञान ऐसी घटनाओं का होता है जो सिद्धान्ततः कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। यह एक तरह से अनुमान पर आधारित ज्ञान कहा जा सकता है, पर इसमें और अन्य प्रकार के ज्ञानों में मूलतः भेद वही है, कि जबकि धूम्र के आधार पर अनुमानित वह्नि प्रत्यक्ष का विषय हो सकती है, अशोक, अकबर या बुद्ध के बारे में अनुमानित घटनाएँ कभी भी ऐसा रूप धारण नहीं कर सकतीं।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष का विषय अनुमान के विषय को सत्यता-असत्यता प्रदान करता है। पर, यदि भूत संबंधी ज्ञान के विषय कभी भी प्रत्यक्ष के विषय बन ही नहीं सकते तब उनकी सत्यता-असत्यता का निर्धारण कैसे हो सकता है? यही इतिहास की मूलभूत दार्शनिक समस्या है, और इसको सुलझाए बगैर यह फैसला मुश्किल है कि इतिहास संबंधी ज्ञान वास्तव में ज्ञान है भी या नहीं।

इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि भूत की घटनाओं के बारे में वर्तमान के आधार पर जो अनुमान लगाया जा सकता है उसकी सत्यता-असत्यता का निर्धारण उन घटनाओं के वर्तमान में कुछ अन्य अवशेष मिलने पर लगाया जाता है। और चूँकि अवशेष वर्तमान में प्रत्यक्षानुभूत होते हैं, इसलिए वास्तव में कोई नई समस्या नहीं उठती। दूसरी ओर, यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान के कई क्षेत्रों में प्रत्यक्ष के आधार पर ही अनुमानित तथ्य स्वयं में अधिकतर प्रत्यक्षानुभूत होने में असमर्थ हैं। वरन वे तो केवल अपने इन्द्रियानुभूत प्रभावों के द्वारा ही जाने जाते हैं, और इन प्रभावों के आधार पर ही उनकी सत्यता-असत्यता का फैसला होता है। एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरह से, इसमें दोहरा अनुमान होता है। एक बार प्रत्यक्ष से अनुमानित तथ्य की ओर, और दूसरी बार अनुमानित तथ्य से किसी अन्य नए प्रत्यक्ष की ओर। इन अनुमानित तथ्यों कि स्थिति, इस प्रकार, उन कुछ पुराने देवताओं की तरह है जो स्वयं अगोचर होते हुए भी अपने प्रभाव से अपनी सत्ता अभिव्यक्त करते रहते हैं। ऐतिहासिक तथ्य भी इसी प्रकार स्वयं अगोचर होते हुए भी अपने प्रभाव द्वारा ही जाने जाते हैं।

इतिहास और अन्य वैज्ञानिक ज्ञान में यह समानता प्रथम दृष्टि में उस समस्या को सुलझाती प्रतीत होती है जिसको हमने इतिहास की मूलभूत समस्या के रूप में देखा था। परन्तु थोड़ा और सोचने पर यह समानता केवल ऊपरी और सतही दिखाई देती है। ऐतिहासिक घटना तो वह घटना है जो घट चुकी होती है, यानि जिसका अस्तित्व ही एक प्रकार से समाप्त हो चुका है। पर, जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका होता है उसका प्रभाव कैसे हो सकता है? विज्ञान के अनुमानित तथ्य गोचर न हों, लेकिन उनका अस्तित्व तो माना ही जाता है, और वह भी वर्तमान में। उनका गोचर प्रभाव इसलिए समझ में आ सकता है। परन्तु जो है ही नहीं उसके प्रभाव की बात करना अजीब ही लगेगा। फिर भी, ऐसा कहा जा सकता है कि जिसके आधार पर ऐतिहासिक तथ्य का निर्णय किया जाता है उसका उस तथ्य से कोई न कोई संबंध तो होगा ही, अन्यथा हम उसको आधार के रूप में कैसे स्वीकार कर लेते? कुछ क्रम-बद्ध सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा, पर इससे भी जो अधिक मानना जरूरी है वह है कि ऐसे क्रम-बद्ध सम्बन्ध अनेक हैं, क्योंकि बग़ैर ऐसा माने यह फैसला नामुमकिन हो जायगा कि वर्तमान के आधार पर हमने जिस भूतकाल की घटना का अनुमान किया है वह वास्तव में सत्य थी। उसके सत्य होने की संभावना तो इसी पर निर्भर करती है कि उससे संबंधित कुछ अन्य बातें, जिनका पहले पता नहीं था, वर्तमान या भविष्य में मिलती हैं या नहीं?

इतिहास का आधार अपने आप में दो भिन्न प्रकार की वस्तुएं होती हैं। एक वे जिन्हें अवशेष के रूप में देखा जा सकता है, और दूसरी किसी के द्वारा इन घटनाओं का वर्णन। अवशेष स्वयं दो प्रमुख वर्ग बनाते हैं, एक जो भाषा में बंधे होते हैं, दूसरे जो वस्तुओं से संयोजित होते हैं। यह भेद महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने से अधिक महत्त्वपूर्ण समानता को छिपाता है। और वह समानता यह है कि अवशेष चाहे भाषा में बद्ध हो या वस्तु से संयोजित वह होता हमेशा मानव की कृति ही है। और जो मानव की कृति होती है वह हमेशा कुछ अर्थ लिए होती है, ऐसा अर्थ जो वस्तु को माध्यम बना कर भी वस्तु से सदैव परे जाता है। इस तरह जिस प्रकार भाषा मनुष्य के अर्थ को अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार मानव की अन्य सब कृतियां करती हैं।

यही इतिहास के आधार की विशेषता है, परन्तु यही विशेषता उसके लिए एक ऐसी समस्या को जन्म देती है जो ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में नहीं पाई जाती। और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह है किसी भी अर्थवान् वस्तु के अर्थ को समझने की चेष्टा और उस चेष्टा की सफलता-असफलता के मापदण्ड का निर्धारण करना। एक तरह से यह समस्या किसी भी मनुष्य को समझने के संदर्भ में उत्पन्न होती है, क्योंकि मनुष्य सदैव अर्थों को जन्म देता रहता है और मनुष्य-मनुष्य के बीच का संवाद एक-दूसरे के अर्थों को समझना ही है। आगे चलकर हम इसकी विशद चर्चा भी करेंगे। परन्तु एक भेद जो इतिहास के आधारों का अर्थ समझने में और संवाद में है वह सिद्धान्ततः इस बात से संबंधित है कि जिससे हम बात कर रहे हैं वह तो हमको यह बता सकता है कि हम उसकी बात ठीक समझे हैं या नहीं, जबकि यदि अर्थ का स्रष्टा ही नष्ट हो गया है तो यह संभावना ही नहीं रहती कि कोई अधिकारपूर्वक यह कह सके कि जो हमने समझा है वह सही समझा है या नहीं। इतिहास एक प्रकार से ऐसे ही अर्थों को समझने की चेष्टा है जिनके स्रष्टा सदैव के लिए नष्ट हो चुके हैं। अतः उनके विषय में हमारी समझ सही है या ग़लत, इसका फैसला एक तरह से नामुमकिन ही है। तरह-तरह के अन्दाज लगाये जा सकते हैं, पर अन्दाज़ लगाने को तो ज्ञान नहीं कहते।

तब क्या इतिहास ज्ञान नहीं है? और यदि ज्ञान है, तो कैसा ज्ञान है? एक बात हमने पहले कही थी, कि इतिहास का ज्ञान कम से कम किसी सामान्य नियम का ज्ञान नहीं है, और इसलिए उसके सम्बन्ध में वे समस्याएं उत्पन्न नहीं होतीं जो किसी भी नियम के ज्ञान के संबंध में होती हैं। परन्तु चूँकि वह भूतकाल से संबंधित होता है और मनुष्य की अर्थ-गर्भ कृति के आधार पर मनुष्य के बारे में ज्ञान होता है, इसलिए उसकी समस्या कुछ और रूप में होती है। भूतकाल का ज्ञान सुदूर नक्षत्रों से लेकर सौर-मण्डल, पृथ्वी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि तक के विषय में होता है। लेकिन क्योंकि यह ज्ञान एक प्रकार से नियमों पर आधारित होता है इसलिए उसके विषय में भूत-भविष्यत् के भेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। फिर भी सुदूर नक्षत्रों, सौर-मण्डल और पृथ्वी की भूतकाल की अवस्थाओं के बारे में ज्ञान है, और जो प्राणी की भूतकाल की अवस्थाओं के बारे में ज्ञान है, उनमें एक गहरा भेद है। प्राणि-जगत् अपने अवशेष छोड़ जाता है और उसी के आधार पर हम उसकी पहले की अवस्थाओं का क्रम स्थापित करते हैं। बहुत बार तो हम इन्हीं के आधार पर पुराने जलवायु की भी कल्पना करते हैं क्योंकि इतना हमें भी पता होता है कि किस प्रकार के पशु-पक्षियों को किस प्रकार के जलवायु की जरूरत होती है। लेकिन जड़-जगत् में अवशेष जैसी कोई चीज नहीं होती। कम से कम उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार से प्राणि-जगत् में होती है। पर इसलिए जड़-जगत् की भूतकालीन अवस्था के ज्ञान के बारे में एक ऐसी समस्या पैदा होती है जो प्राणि-जगत् के बारे में नहीं उठती। जहाँ अवशेष होता है वहाँ अटकल लगाने का कुछ तो आधार होता ही है। परन्तु जहाँ अवशेष नहीं है वहां जो कुछ भी है उसी को अवशेष का रूप दिया जा सकता है, और नियमों के आधार पर उस कारण की कल्पना की जा सकती है

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

जिसका जो "आज" है वह कार्य रूप में परिणाम है। पर कल्पना वास्तव में सत्य है या नहीं, इसका निश्चय कैसे किया जायगा ?

अधिकतर तो, कार्य-कारण के ज्ञान की सत्यता, परीक्षण की अवस्था में, कारण को बार-बार दुहराकर कार्य की प्राप्ति के द्वारा सिद्ध होती है। पर अगर कारण दुहराया ही न जा सके तो उसके 'कारण' होने की बात का फैसला नामुमकिन हो जायगा। उसका स्थान केवल एक संबद्धता ले लेगी, जो अन्ततः एक संबद्ध कहानी से अधिक कुछ नहीं रह जायगी। विश्व की उत्पत्ति की चर्चा, चाहे वह कितने ही वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में की जाय, इससे अधिक और कुछ नहीं है। ....

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखक परिचय

❀ गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

प्रकाशन : **दि एज ग्राफ विनय-ए हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल स्टडी।**

❀ गुरुदेव सिंह, एम० ए०, प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

❀ गोविन्द चन्द्र पाण्डे, एम० ए०, डी० फिल०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

प्रकाशन : **स्टडीज इन दि ओरिजिन्स ग्राफ़ बुद्धिज्म**

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

अपोहसिद्धि

न्यायबिन्दु

मीनिंग एण्ड प्रोसेस ग्राफ़ कल्चर

अग्निबीज (कविता-संग्रह)

क्षण और लक्षण (कविता-संग्रह)

❀ दयाकृष्ण, एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

प्रकाशन : **नेचर ग्राफ फिलासफी**

प्लानिंग, पावर एण्ड वेलफेयर

कन्सिडरेन्स टुवर्ड्स ए थियरी ग्राफ सोशयल चेंज

सोशयल फिलासफीज : पास्ट एण्ड फ्यूचर

❀ प्रतिभा जैन, एम० ए०, प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

❀ फ्रैंक वैन ग्राल्स्ट, एम० ए०, पी० एच० डी०, भूतपूर्व प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; संप्रति प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सेंट मेरीज कालेज, मेरीलैंड, यूनाइटेड स्टेट्स।

❀ मस्तराम सिंह, एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रवक्ता, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

प्रकाशन : **ए क्रिटिकल स्टडी ग्राफ़ द जीओग्रैफिकल डेटा इन दी अर्ली पुराणज**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

❀ यशदेव शल्य, उपनिदेशक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर; संपादक दार्शनिक त्रैमासिक ।

प्रकाशन : पन्त का काव्य और युग

मनस्तत्व

दार्शनिक विश्लेषण

ज्ञान और सत्

संस्कृति : मानव कर्त्तृत्व की व्याख्या

विषय और आत्म

(संपादित) अनुभववाद

(संपादिक) समकालीन दार्शनिक समस्याएं

(संपादित) समकालीन पाश्चात्य दर्शन

❀ रमेशचन्द्र, एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रवक्ता, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

❀ विनयकुमार, एम० ए०, पी० एच० डी०, इतिहास-प्रवक्ता, स्नातकोत्तर पत्राचार विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्येतव्य पुस्तकों का संक्षिप्त निर्देश

१. इतिहास लेखन का इतिहास

1. G. P. Gooch, **History and Historians in the Nineteenth Century**, Longmans, Green & Co.
2. Charles S. Gardner, **Chinese Traditional Historiography**, Harvard, 1961.
3. Bury, **Ancient Greek Historians**
4. Thompson, **History of Historical Thinking** New York, 1942
5. Fritz Stern (ed.), **The Varieties of History**, New York, 1956.
6. U. N. Ghoshal, **Studies in Indian History and Culture**, Calcutta ,1957.
7. V. S. Pathak, **Ancient Historians of India**, Asia Publishing House, 1966.
8. Franz Rosenthal, **A History of Muslim Historiography**, Lieden, 1952

२. इतिहास-लेखन की पद्धति

1. Social Science Research Council Monographs : **Theory and Practice in Historical Study**, New York, 1966.
2. Langlois & Seignobos, **Introduction to the Study of History**, Duckworth, 1898.
3. G. I. Renier, **History, its Purpose and Methods**, Boston, 1950.
4. Marc Bloch, **The Historian's Craft**, New York, 1953.
5. L. B. Namier, **Avenues of History**, London, 1952.
6. Trevelyan, **An Autobiography and other Essays**, Longmans, 1949.
7. Gardiner, **Theories of History**, New York, 1959.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

8. Social Science Research council Monograph : **The Social Sciences in Historical Study,** New York, 1954.

३. इतिहास-दर्शन

1. E. H. Carr, **What is History ?** Penguin Books, 1967.
2. Walsh, **An Introduction To Philosophy of History,** London, 1967.
3. Mayerhoff, **Philosophy of History in our Times,** Doubleday & Company, Inc., 1959.
4. Hegel, **Lectures on the Philosophy of History,** (Tr. J. Sibree).
5. Marx and Engels, **Communist Mnnifesto,** Moscow 1967.
6. Croce, **History as the Story of Liberty,** London, 1941.
7. Collingwood, **The Idea of History,** Oxford, 1951
8. Sidny Hook, **Towards the Understanding of Karl Marx,** 1934.
9. Sorokin, **Social Philosophies of an Age of Crisis** London, 1952.
10. Ved Mehta, **Fly and the Fly Bottle,** Weidenfeld And Nicolson, London, 1963.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणिका

अवश्यम्भाविता १७५–१७७,

आगस्टिन, सन्त ४, १७, २३२

आदर्शवाद १२५–१३५, १५०–१५२, २०६–२१८

इतिहास : १, २७–२६, ३४, ४४, ४६, ५४
का अधिष्ठान २०१–२०८
का प्रयोजन १४६, १५६–१६०
का स्वरूप ४६, १२५, १३५, १६०, १८६–१६०
की परिभाषा १, ४६, १४८–१४६, १५५–१५६
और दर्शन ५४–५५, १२६, १५१, २६२ और आगे
और धर्म १६०–१६१, १६४–१६५, १६८–१६६
और प्रकृति १५६–१५७, १८४
और विज्ञान ४४, १२६, १३२, १३५, १४३–१४६, १४८
और समाजविज्ञान १६–२६, ३७–३८, १८८–१८६, २२६–२२७
में नियम १३५, १३६–१४६, १८३–१६०
में भविष्योक्ति १७३–१७५, १८३–१८४
में व्याख्या १३५–१४६, १८६–२००
में सत्य ३८, १६४–१६७
में सामान्यीकरण १३७, १४४–१४६

इतिहासकार : २८, २६, ३४–३५, १३८–१३६, १४५
और इतिहास २८–२६, ३४–३५, १२५, १४६, १५८–१५६
का उत्तरदायित्व १३२–१३६, १५३–१५४
में भविष्यकथन की क्षमता १८३

इतिहास-दर्शन :
की परिभाषा ५०–५१, १३०, २५५–२६१
इस्लामी ११२–११६
ईसाई ३–४
चीनी ६६–१०३
भारतीय ४६–५६, ६८
परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन १५०–१५२, १६५–१६६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन की आलोचना १६०–१६१, १६५–१६६, १६६–१७२,
विश्लेषणात्मक इतिहास-दर्शन ३६, ३८–३६, १२५–१३५
विश्लेषणात्मक इतिहास-दर्शन से संबद्ध समस्याएं १७७–१७८

इतिवृत्त १२७

इतिहास-लेखन :

अरब ११७–१२३
आधुनिक १३–१८
ईसाई ३–४
चीनी १०३–१११
भारतीय ५६–६७, ६६–६८
यूनानी १–४

इतिहासवाद ३०, ३६–३७, १२८

ऐक्टन २०, १६६

कार, ई० एच० ४३–४४, १५५–१६०

कारणत्व १८३–२००

कालिंगवुड, आर० जी० २६–३०, १२६–१३५

क्रान्ति : १८५, २००

फ्राँस की राज्यक्रान्ति १०–१२, १४५

क्रोचे, बेनेदेत्तो २६, १२५–१२८

गेल, पीटर १६१, १६६, १६६–१७२

टायनबी, आरनोल्ड जे० ३२–३३, १६५–१६६, १८६, २३७–२३६, २४७–२५४

डिल्थे २१–२३

तथ्य १३६–१४३, १७५, १६४–१६७

दर्शन ५४–५५, १२६, १५१, २६२ और आगे

दासता २२३–२२५

द्वन्द्वात्मक नय १७–१८, १५०–१५२, २०६–२१८, २१६–२२१

धर्म ५५, ५६, १६०

नियतिवाद ५६, १३८–१३६, १७२–१७३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियम १४४, १८३–१६०

निर्वैयक्तिकता १५७–१५८, १५६, १८७–१८८

नेबूर १३–१४, ४३, १६१–१६५

परम्परा ४६, ६६, १६१–१६२

परिवर्तन १२८, १४६–१४७, २०६–२०७

पापर, कार्ल ३६, १७२–१७४

पूँजीवाद २१६–२२७

प्रकृति १५६–१५७, १६२, १८०–१८१, १८४, २११, २२४

प्रगति १४७–१४८, १५७, १७५, १७६

प्रत्यय १४८

प्रवृत्ति १७१

बर्कहार्ट ३४, १७३, १७८–१८२

बर्लिन, इसाइया १४३–१४६, १५२–१५५, १७२–१७३, १७५–१७८

बुलक, एलन १३५, १३६–१३८

बेकन १३२, १४७

बेकर, कार्ल १३६–१४३

ब्यूरी २०

भौतिकवाद २०३, २१६–२२७

महापुरुष ४२, ५७–५८, २०२–२०३

मार्क्स, कार्ल १६–२१, २०३, २१६–२२७

मूल्य ५०–५१, १७७, १८७, २०५–२०६

युग ५८–५६, २२८–२३६

युगचक्रवाद ५६, २२८–२३६

युद्ध २००

रांके १४–१५, २१, १७६

लक्ष्य १७१–१७२, १७४–१७५

वर्ग १६–२०, २४, २२३–२२४

विकास ३२, १२८–१२६, १५७, २०५–२०६, २०६

विको ६–७, २३३–२३५

विघटन १८०–१८२, २५१–२५४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विज्ञान ४४, १२६, १३२, १३५, १४३–१४६, १४८

व्यक्ति : ५६–५८

इतिहास में स्थान २०१–२०३

और समाज २०१–२०८

व्याख्या :

ऐतिहासिक व्याख्या का स्वरूप ३६–४५, १६६–२००

के दृष्टिकोण : आदर्शवादी २०६–२१८

भौतिकवादी २१६–२२७

युगचक्रवादी २२८–२३६

समाज २०१–२०८, २२३–२२६

संस्कृति ३०–३१, ५०, १६७, १६६, २४०–२४१, २४३–२४६, २५१–२५४

संस्था १६६, २०४–२०५, २१३, २२२–२२३

साक्ष्य :

ऐतिहासिक साक्ष्य का स्वरूप १६०–२००

अभिलेख १६३–१६४

पाण्डुलिपि १६३–१६४

सेनियोबो १६१, १६५

स्पेंगलर ३०–३१, १८६, २३६–२३७, २४०–१४६

हर्डर ७–८, २३५–२३६

हुइज़िंगा १७१

हेगेल १६–१८, १६, १२७, १५०–१५२, २०६–२१८

हेम्पेल ३६–४०

ह्रास १८०–१८२, २३७, २३८, २४२, २५१–२५४

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्धरण

पृ० सं० ३३ एवं ३४ फ्रिट्ज स्टर्न संपादित **द वेरायटीज ग्राफ् हिस्ट्री** में रिचर्ड हॉफ्सडेटर का 'हिस्ट्री एण्ड द सोंसल सायंसेज' शीर्षक लेख ।

पृ० सं० ३६ गार्डिनर संपादित **थियरीज् ग्राफ् हिस्ट्री** में कार्ल जी० हेम्पेल का 'द फंक्शन ग्राफ जनरल लाज इन हिस्ट्री' शीर्षक लेख ।

पृ० सं० ४० गार्डिनर संपादित **थियरीज ग्राफ् हिस्ट्री** में विलियम ड्रे का 'एक्सप्लेनिंग ह्वाट इन हिस्ट्री' शीर्षक लेख

पृ० सं० ४० मायरहाफ संपादित **फिलासफी ग्राफ् हिस्ट्री इन ग्रावर टाइम्स** में अर्नस्ट नैगेल का 'द लाजिक ग्राफ् हिस्टारिकल एनल्सिस' शीर्षक लेख ।

पृ० सं० ४३ मायरहाफ संपादित **फिलासफी ग्राफ हिस्ट्री इन ग्रावर टाइम्स** में ज़ियाफ्रे वैराक्लफ का 'द हिस्टोरियन इन ए चेंजिङ्ग वर्ल्ड' शीर्षक लेख ।

पृ० सं० ४६ 'इतिहास' शब्द की व्याख्या के लिए द्र० **भरतकोश** में 'इतिहास' ।

————

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३	३४	विश्वेकात्मका	विश्वैकात्मकता
८	१३	रुद्ध	आत्मसीमित
८	२३	Einfhlung	Einfuhlung
१०	१	उसको	उसके
११	२	स्वस्थ्य	स्वस्थ
११	१७–१८	स्वच्छन्दतावाद	स्वच्छन्दतावाद (romanticism)
२०	२६	पुनरावलोकन	पुनरवलोकन
२१	२३	व्यवख्या	व्याख्या
२२	१५	तुत्सामेनहंग	त्सुज़ामेनहंग
२५	१	निहतार्थ	निहितार्थ
२५	१६	त्रुणिपूर्ण	त्रुटिपूर्ण
३०	१	यहां	अध्याय १० में
३०	१८	'डिक्लाइन ऑफ वेस्ट'	'डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट'
३२	३३	(जोड़ें : टायनबी ने हाल में ही अपने ग्रंथ का नया संक्षेप प्रकाशित किया है।	
३४	५	होम्सस्टाडट्र	हॉफ्सडेटर
३५	५	होफस्टाडट्र	हॉफ्सडेटर
३६	४	फ्दार्पण	पदार्पण
३६	१६	करते है	करते हैं।
३६	२०	इसके	इसमें
३९	१२	विषयनिष्ठता आंशिक	आंशिक विषयनिष्ठता
४०	२९	सामान	समान
४२	१७	विशद्	विशद
४३	१९	के कुछ लोग	कुछ लोग
४४	३–४	–उसके मर्मस्थल पर आघात करता है।	उससे घनिष्टरूपेण संबद्ध है।
४८	२४	जन्मन्येवोत्पन्नानुरागाः	जन्मन्येवोत्पन्नानुरागा
५०	९	लिया	ली
५१	६	करनी	करती
५२	३	पवित्रम	पवित्रतम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध	शुद्ध
५३	४	आस्तित्व	अस्तित्व
५३	९	अक्षुष्णता	अक्षुण्णता
५४	३३	भदे	मरे
५४	३४	हेनरे इरेले	हेनरी इरेने
५५	३३	उनमें	उनके
५५	३५	सोमिनार	सेमिनार
६६	१५	एटडीज	स्टडीज
७०	२	पश्तात्	पश्चात्
७६	२९	जयश्री	राज्यश्री
९९	९	उद्दष्टि	उद्दिष्ट
९९	२५	उद्मम	उद्गम
१०६	२४	अनाधिकार	अनधिकार
११८	१२	सृत्यु	मृत्यु
११९	१०	अव्यवहृत	अव्यवहृत
१४९	३६	सलाह देता है	सलाह देता है]
१५१	२	दर्मन	दर्शन
१५१	१७	बीच	बीज
१६६	१६	इनाउन्टर	इनकाउन्टर
१६९	२२	तथ	तथा
१६९	२४	उनसे	उसने
१७२	४	कर्म	कम
१७२	१८	किया	दिया
१७२	२२	इसके	उसके
१७२	२२	इसे	उसे
१८१	३०	विध्वंशों	विध्वंसों
१८२	१३	एलोल्फस	एडोल्फस
१८५	३१	अनावृत्तशील	अनावृत्तिशील
२२१	२६	थीसीज	थीव्रीज
२६२	४	मभा	समभा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh